पुरालिपि-शास्त्र बडा ही हृदयग्राही और शिक्षाप्रद विषय है। यह लेखन-कला का अध्ययनकर्ता है। सभ्यता की प्रगति मे लेखन-कला मनुष्य को पशु से अलग करती है। यही मनुष्य को पीढी-दर-पीढी जातीय धरोहर के परिरक्षण, सम्वर्द्धन और सम्प्रेषण का साधन देती है। यह उन महत्त्वपूर्ण आविष्कारो मे से है, जिससे मानव नियति का निर्माण हुआ है, क्योकि संस्कृति के विस्तार और ज्ञान के प्रसार का यही सब से स्थायी साधन सिद्ध हुई है। ज्ञान की साधना के क्रम में मानवीय प्रयास के सही मूल्याकन के लिए इस कला की उत्पत्ति और विकास का इतिहास जानना वाछनीय है।

हाल के अनुसधानो को दृष्टि मे रखते हुए भारतीय पुरालिपि पर ऐसी पुस्तक की आवश्यकता बहुत दिनों से थी, इसलिए इसका प्रणयन सभव हुआ। श्री डब्ल्यू० जी० बूहलर (१८९६) और महामहोपाध्याय प० गौरी शकर हीराचन्द ओझा (१९१८) के बाद पुरालिपि के क्षेत्र मे अनेक महत्त्वपूर्ण आविष्कार हुए है। मोहनजोदडो और हडप्पा की खुदाइयाँ इस क्षेत्र मे क्राति लायी हैं। खुदाइयो से प्राप्त सामग्रियो ने भारतीय लेखन-कला की प्राचीनता और उसकी उत्पत्ति के सबध मे बडा विवाद खडा कर दिया है। कई अन्य आविष्कारो ने भी भारतीय लेखन-कला के सबध मे प्रचलित धारणाओ को प्रभावित किया है। इस अवधि मे भारतीय पुरातत्त्व विभाग द्वारा तथा व्यक्तिगत प्रयास से इस सबंध मे अनेक सामग्रियाँ इकट्ठी की गयी हैं। इस कारण भारतीय पुरालिपिशास्त्र का पूर्णतया परिशोधन तथा परिपूरण आवश्यक हो गया है। प० ओझा के बाद भारतीय पुरालिपिशास्त्र पर विशद ग्रथ रचना का यथार्थ प्रयास नही हुआ। तीस वर्षों का यह व्यवधान कम नही है। यह पुस्तक उस व्यवधान को मिटाने का विनम्र प्रयास है और आशा की जाती है कि भविष्य मे इस दिशा मे और कार्य होगा।

प्राचीन काल से सन् १२०० ई० तक भारतीय लेखन-कला का अविच्छिन्न सक्षिप्त इतिहास प्रस्तुत करना इस पुस्तक का उद्देश्य है। सुविधा की दृष्टि से इसे दो भागो मे बांटा गया है। प्रथम भाग पहले प्रकाशित हुआ। इसमे भारतीय पुरालिपि-शास्त्र के विभिन्न विषयो और पक्षो का विवेचन किया गया है। इस शास्त्र के विकास-

क्रम को समझने के लिए यह आवश्यक है। प्रथम भाग मे निम्न प्रकरणो का विवेचन किया गया है।

१. भारतवर्ष मे लेखन-कला की प्राचीनता,
२ प्राचीन भारत मे प्रयुक्त लिपियो के प्रकार और नाम,
३. भारतीय लिपियो की उत्पत्ति,
४ प्राचीन भारतीय लिपियो को स्पष्टीकरण का इतिहास,
५. लेखन-सामग्री,
६ लेखन तथा उत्कीर्णन का व्यवसाय,
७. लेखन-पद्धति,
८. अभिलेखो के प्रकार,
९ पुरालिपीय विधि,
१०. तिथि-अकन की विधि तथा व्यवहृत सम्वत्।

अत मे आवश्यक सारणियाँ दी गयी हैं। विषयो का विवेचन करते समय प्रारभिक ग्रथकारो के वाद के काल मे हुए शोधो से प्राचीन भारत का जो अधिक स्पष्ट चित्र सामने आया है, उसके आधार पर भारतीय लेखन-कला से सबधित अनेक प्रचलित सिद्धातो का पुनर्विचार और परिशोधन करना पडा है। इसके अतिरिक्त इस विषय के कुछ नये पक्षो की पुनर्रचना का प्रयास किया गया है। दूसरे भाग मे भारतीय इतिहास के विभिन्न कालो मे प्रचलित वर्णमालाओ के विरचन, विकास और निर्वचन सवधी सारणियाँ और तालिकाएँ कालानुसार क्षेत्रीय क्रम मे दी गयी हैं। अत मे यह भी प्रयास किया गया है कि विखरी हुई सामग्रियो को सुसम्बद्ध कर विवेचन के नये पक्षो तथा नवीन जानकारियो के द्वारा विषय को अद्यतन वनाया जाय।

पाद-टिप्पणियो मे विभिन्न ग्रथकारो तथा माध्यमो का ऋण स्वीकार किया गया है। विषय सवधी अनेक मूल्यवान सुझावो के लिए डॉ० आर० सी० मजूमदार, डॉ० ए० एस० अल्तेकर और डॉ० आर० एस० त्रिपाठी का मैं आभारी हूँ। पुस्तक की पाडुलिपि और मुद्रण-काल मे प्रूफ के शोधन के लिए प्रो० अवधकिशोर नारायण आतरिक धन्यवाद के पात्र हैं। इस ग्रथ के शीघ्र प्रकाशन के लिए मैं प्रकाशक और मुद्रक का विशेप कृतज्ञ हूँ।

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय
वसन्त पञ्चमी, सवत् २००८ विक्रमी

राजवली पाडे

अनुक्रम

अध्याय पहला

भारतवर्ष में लेखन-कला की प्राचीनता

भारतवर्ष मे लेखन-कला का इतिहास भारत के सामान्य इतिहास की ही भाँति अस्थिर है, तथा इस विषय पर विभिन्न तथा विरोधी मत हैं। इसका प्रमुख कारण है इतिहास की अनेक टूटी कडियाँ एव विशुद्ध ऐतिहासिक सामग्री की अल्पता। यहाँ विभिन्न मतो का विवेचन सम्भव नही है। आगामी पृष्ठो मे इस समस्या पर यथासम्भव सक्षिप्त रीति से विचार किया जायगा।

१. कतिपय प्राच्य विद्याविशारदों के मत

प्रमाणो की न्यूनता, युरोपीय सभ्यता की आपेक्षिक नवीनता एव ई० पू० द्वितीय सहस्राब्दी मे भारत पर आर्यो के आक्रमण के मत से ग्रस्त कतिपय आरम्भिक प्राच्य विद्याविशारदो की धारणा थी कि भारत मे लेखन-कला का प्रारम्भ बहुत बाद मे हुआ। वे ईसा पूर्व प्रथम सहस्राब्दी से परे जाने को तैयार नही थे।

(१) प्रारम्भिक प्राच्य विद्याविशारदो मे अन्यतम मैक्स मूलर का कहना है, "मेरा विचार है कि पाणिनि की पारिभाषिक शब्दावली मे एक भी शब्द ऐसा नही है जो लेखन के अस्तित्व की पूर्व-कल्पना करता हो।" उनके अनुसार पाणिनि का काल ई० पू० चौथी शताब्दी है। इस प्रकार उनके विचार से लेखन-कला का प्रारम्भ ४०० ई० पू० के भी पश्चात् हुआ।[1]

(२) दूसरे प्राच्य विद्याविशारद बर्नेल इस मत के समर्थक हैं कि भारतीय ब्राह्मी लिपि फिनीशियन लिपि से निकली है तथा भारत मे इसका प्रवेश ई० पू० चौथी या पाँचवी शताब्दी के पहले न हुआ होगा।[2]

---

१ हिस्ट्री ऑफ् ऐंश्येण्ट सस्कृत लिटरेचर, पृ० २६२, विद्वान् लेखक ने इस सत्य की उपेक्षा कर दी है कि प्रौढ व्याकरण की रचना स्वय लेखन की पूर्व-कल्पना करती है। लेखनसूचक शब्दो के लिए देखिए, पृ० १०।

२ साउथ इण्डियन पेलियोग्रॉफी, पृ० ९, भारतीय लिपियो के उद्गम की समस्या पर विचार करते हुए इस मत के खोखलेपन को दिखाया जायेगा।

(३) डॉ० बूलर जिनके पास भारतीय लिपि-विज्ञान के इतिहास पर लिखने के लिए पूर्ववर्ती विद्वानो की अपेक्षा अधिक साधन थे, ब्राह्मी लिपि के उद्गम की विवेचना करते हुए निम्नलिखित शब्दो मे उसका भारत मे प्रवेश काल निश्चित करते है —

"क्योकि पहले के अन्वेषणो के परिणामस्वरूप ब्राह्मी का विस्तार ई० पू० ५०० या इससे भी पहले पूर्ण हो चुका था, अतएव ८०० ई० पू० सेमेटिक वर्णो के भारत मे प्रवेश की वास्तविक तिथि मानी जा सकती है। यह निरूपण सामयिक है जो भारतवर्ष या सेमेटिक देशो मे नवीन शिलालेखो के प्रकाश मे आने पर परिवर्तित किया जा सकता है। यदि इस प्रकार का परिवर्तन आवश्यक हो तो नूतन अनुसन्धानो के परिणाम मुझे इस विश्वास के लिए प्रेरित करते है कि लेखन-कला का प्रवेश काल पूर्वतर प्रमाणित होगा और उसे ई० पू० १००० या इससे भी पूर्व रखना होगा।"[1]

उपर्युक्त विचार १९वी शताब्दी या बीसवी शताब्दी के प्रारम्भ मे प्रकट किये गये थे। तत्पश्चात् भारतीय इतिहास पर नवीन सामग्री उपलब्ध हुई है, जिसने इस विषय पर ऐतिहासिको के विचार को परिवर्तित कर दिया है। सस्कृत भाषा और साहित्य की प्राचीनता एव इतिहास पर नवीन शोध, सिन्धुघाटी की लिपि की खोज, मध्यपूर्व और भारत से उसके सम्बन्धो एव आर्यो के मूल निवास पर नवीन प्रकाश ने भारतीय सभ्यता के आदि और उसके साथ ही लेखन-कला के प्रारम्भ को और पहले भेज दिया है।[2]

२. भारतीय अनुश्रुतियाँ

अधिकाश युरोपीय विद्वानो के विरुद्ध भारतीय अनुश्रुतियाँ भारत मे लेखन-कला को अत्यन्त प्राचीन सिद्ध करती हैं। उनमे से कुछ का उल्लेख यहाँ किया जा रहा है —

---

१ इण्डियन पेलियोग्रॉफी (आग्ल-अनुवाद), पृ० १७।

२ भारतीय लिपि-विज्ञान पर आधुनिकतम युरोपीय लेखक डेविड डिरिंजर (अपनी पुस्तक 'दि अल्फाबेट' पृ० ३३४ मे) प्रारम्भिक प्राच्य विद्याविशारदो के अन्वेषणो के आधार पर मानते है कि "अन्तत अनेक साक्ष्यो से 'आर्य भारत मे' लेखन के प्रवेश की तिथि ई० पू० आठवी और छठवी शताब्दी के मध्य मे ज्ञात होती है और इस प्रकार उन (साक्ष्यो) से इस निष्कर्ष की पुष्टि होती है कि ब्राह्मी लिपि सिन्धुघाटी की लिपि की अपेक्षा अत्यन्त परवर्ती है तथा भारतवासियो को लेखन का ज्ञान ई० पू० सातवी या आठवी शताब्दी के पश्चात् हुआ।"

(१) नारदस्मृति मे, जो लगभग पाँचवी शताब्दी का विधिविषयक ग्रन्थ है, लेखन-कला के महत्त्व का वर्णन करते हुए कहा गया है :—

"यदि ब्रह्मा उत्तम नेत्रतुल्य लेखन-कला की सृष्टि न करते तो इस लोक की यह शुभ गति न होती।"[1]

इससे प्रकट होता है कि पाँचवी शताब्दी मे भारतीयो का ऐसा विश्वास था कि लेखन-कला की उत्पत्ति साहित्य के आरम्भिक विकास के साथ-साथ हुई तथा ससार की उन्नति के लिए इसे आवश्यक समझा गया।

(२) बृहस्पति कुछ भिन्न शब्दो मे इसी अनुश्रुति का उल्लेख करते हैं "चूंकि छ मास के अनन्तर किसी घटना के विषय मे भ्रान्ति उत्पन्न हो जाती है, इसलिए ब्रह्मा ने अति प्राचीन काल मे पत्रारूढ अक्षरो की सृष्टि की।"[2] इस कथन के अनुसार भारतीय इतिहास मे काफी पहले स्मृति की सहायता एव साहित्य की रक्षा के लिए लेखन-कला का जन्म हो चुका था। इससे यह भी सिद्ध होता है कि प्रचुर परिमाण मे उपलब्ध होने वाले पत्र ही भारत की प्राचीनतम और साधारणतम लेखन-उपकरण थे।

(३) सस्कृत कवि कालिदास ने निम्नलिखित शब्दो मे लेखन-कला सीखने की उपयोगिता पर अपने विचार व्यक्त किये है —

"लिपि के यथावत् ग्रहण से मनुष्य उसी प्रकार वाड्मय के विशाल कोश मे प्रवेश करता है जिस प्रकार नदी-मुख से समुद्र मे।"[3]

युरोपीय विद्वानो के इस अनुमान के विपरीत कि प्राचीन भारतीय साहित्य लेखन की सहायता के बिना ही मौखिक रूप से एक पीढी से दूसरी पीढी तक पहुँचता था, कालिदास साहित्य के यथोचित अध्ययन के लिए लिपि-ज्ञान को अति आवश्यक समझते थे।

---

१ नाकरिष्यद्यदि ब्रह्मा लिखित चक्षुरुत्तमम्।
तत्रेयमस्य लोकस्य नाभविष्यच्छुभा गति॥
—सेक्रेड बुक्स ऑफ् दि ईस्ट सीरीज, २३, पृ० ५८ और क्रमश देखिए मनु पर बृहस्पति का वार्तिक, वही, पृ० ३०४।

२ षाण्मासिके तु समये भ्रान्ति सञ्जायते यत।
धात्राक्षराणि सृष्टानि पत्रारूढाण्यत पुरा॥
—आह्निक-तत्त्व मे उद्धृत।

३ लिपेर्यथावद्ग्रहणेन वाड्मय नदीमुखेनेव समुद्रमाविशत्—रघुवश, ३/२८।

(४) जैन ग्रन्थ समवायाङ्गसूत्र[1] एव पण्णवनासूत्र[2] तथा बौद्ध ग्रन्थ ललित-विस्तर[3] भी ब्राह्मण-साहित्य की भाँति भारत मे लेखन-कला की अति प्राचीनता का प्रतिपादन करते है।

(५) देश की कला-परम्परा भी भारत मे लेखन-कला की प्राचीनता के विषय मे इन साहित्यिक अनुश्रुतियो की पुष्टि करती है। बादामी से प्राप्त एक मूर्ति मे ब्रह्मा अपने चार हाथो मे से एक मे तालपत्रो की पुस्तक लिये हुए हैं।[4] साथ ही सरस्वती की कल्पना 'पुस्तकरञ्जितहस्ता' के रूप मे की गई है।[5] इस प्रकार ज्ञान और साहित्य के इन देवताओ का लिखित पुस्तक से घनिष्ठ सम्बन्ध है।

३. विदेशी अनुश्रुतियाँ

विदेशी अनुश्रुतियाँ भारतीय अनुश्रुतियो का समर्थन करती हैं। चीन और पश्चिमी एशिया के विद्वान् लेखन के आविष्कार एव उसकी प्राचीनता विषयक भारतीय परम्पराओ से सुपरिचित थे। इसकी पुष्टि निम्नाकित उल्लेखो से होती है :—

(१) विद्वान् चीनी यात्री हुएनसाग भारत मे लेखन के अति प्राचीन आविष्कार का उल्लेख करता है।[6]

(२) चीनी विश्वकोश 'फा-वान-शु-लिन' का कथन है कि बायें से दाये ओर लिखी जाने वाली ब्राह्मी लिपि का आविष्कार फान (ब्रह्मा) ने किया था तथा यह लिपियो मे सर्वोत्तम थी।[7]

(३) अरबी विद्वान् अलबेरूनी भारत मे लेखन-कला की प्राचीनता का निर्देश करता हुआ लिखता है—"हिन्दू एक बार लेखन-कला भूल गये थे, जिसका पुनराविष्कार पराशर के पुत्र व्यास ने दैवी प्रेरणा से किया।" उसके अनुसार भारतीय वर्णमाला का इतिहास कलियुग (ई० पू० ३१०१) से प्रारम्भ होता है। इस परम्परा

---

१ वेबर, इण्डिशे स्टडी १६, २८०, ३९९। यह ई० पू० ३०० के लगभग रखा जाता है।

२ वही। इसका समय ई० पू० लगभग १६८ के माना जाता है।

३ दशम अध्याय।

४ इण्डियन एण्टिक्वेटी भाग ६, ३६६, मूर्ति का समय ५८० ई० है।

५ वीणापुस्तकरञ्जितहस्ते। भगवति भारति देवि नमस्ते॥

६ बील, सि-यु-कि, भाग १, पृ० ७७।

७ बेबीलोनियन एण्ड ओरियण्टल रिकार्ड्स १/५९।

का प्रचार इस कारण हुआ कि व्यास वेदो के सकलनकर्ता तथा महाभारत एव अष्टादश पुराणो के रचयिता समझे जाते हैं।[1]

४ यवन लेखकों का साक्ष्य

कतिपय यवन लेखको ने, जो सिकन्दर के भारत अभियान मे उसके साथ आये थे अथवा जिन्होने उसके पश्चात् भारत भ्रमण किया था, ईसा पूर्व तीसरी या चौथी शताब्दी के भारत मे लेखन-कला तथा लेखन-सामग्री के सम्बन्ध मे अपने अन्वेषणों का उल्लेख इस प्रकार किया है —

(१) नियार्कस[2] सिकन्दर का एक सेनापति था। वह पजाब मे सिकन्दर के साथ रहा था तथा लौटती हुई सेना का उसने सिन्धु-डेल्टे तक नेतृत्व किया था। इस प्रकार भारतीय जीवन का उसने निरीक्षण किया। वह लिखता है, "यहाँ के निवासी कपास और चिथडो से (निस्सदेह लिखने के उद्देश्य से) कागज बनाना जानते है।"

(२) मेगस्थनीज़[3] मौर्य राज-सभा मे राजदूत था। पाटलिपुत्र मे ई० पू० ३०५ से ई० पू० २९९ तक वह रहा था। अपनी 'इण्डिका' नामक पुस्तक मे वह लिखता है कि भारतवर्ष मे "यात्रियो के उपयोग के लिए, जिनसे साक्षर होने की आशा की जाती थी, विश्रामगृहो की दूरी जानने के लिए दस-दस स्टेडिया की दूरी पर पत्थर गाडे जाते हैं।" पञ्चाङ्ग के अनुसार वर्षफल के कथन का भी उसने उल्लेख किया है। पञ्चाङ्ग का निर्माण लेखन की सहायता से ही हो सकता है।

उसने लोगो की कुण्डली बनाने एव (लिखित) स्मृतियो के आधार पर निर्णय सुनाने का भी प्रसग दिया है। दुर्भाग्यवश मेगस्थनीज़ ने स्मृति के लिए 'मेमोरी' शब्द का प्रयोग किया है। इसमे कुछ विद्वानो को इस बात का आभास मिलता है कि स्मृतियाँ लिखी नही, स्मरण की जाती थी। किन्तु बूलर[4] ने इस बात का खण्डन किया है। उसका विचार है कि 'मेमोरी' शब्द से मेगस्थनीज़ का आशय 'स्मृति-साहित्य' से था, स्मरण से नही।

---

१ सखाउ, अलबेरूनीज़ इण्डिया, १/१७१।
२ स्ट्रैबो, १५/७१७।
३ इण्डिका ऑफ् मेगस्थनीज़, ९१, १२५-१२६, सी० मूलर फ्रैगमेण्ट्री हिस्ट्री ऑफ् ग्रीस, २,४२१।
४ इण्डियन पेलियोग्रॉफी, पृ० ६।

(३) एक अन्य ग्रीक लेखक क्विण्टस कर्टियस[1] कुछ पेडो की मुलायम छाल का लेखन-सामग्री के रूप मे उल्लेख करता है। इससे इस तथ्य की पुष्टि होती है कि भारतवर्ष मे लिखने के लिए अति प्राचीन काल मे भोजपत्र का प्रयोग होता था।

५ बौद्ध साहित्य का साक्ष्य

बौद्ध साहित्य के प्रथम स्तर की रचना एव सकलन निस्सदेह सिकन्दर के भारतीय अभियान के पूर्व हो चुका था। यह समकालीन इतिहास के कुछ स्वरूपो का उल्लेख करता है और ई० पू० पाँचवी एव छठवी शताब्दी के पूर्व के इतिहास पर भी प्रकाश डालता है। इस साहित्य मे न केवल लेखन के अस्तित्व वल्कि लेखन के व्यवसाय, विषय, पद्धति एव प्रयुक्त होने वाली सामग्री का निश्चित एव सुस्पष्ट निर्देश है।

(१) सुत्तान्त मे भिक्षुओ के आचरण पर उपदेश देते हुए 'अक्खरिका' नामक एक खेल का उनके लिए निषेध किया गया है।[2] 'अक्खरिका' (अक्षरिका) खेल वालक खेलते थे। इसमे आकाश मे या पीठ पर उँगली द्वारा लिखे गये अक्षरो को पढना होता था।[3] पुन उनको उन नियमो के अकन से रोका गया है जिनसे मृत्यूपरान्त मनुष्य शारीरिक कष्ट और तपस्या द्वारा स्वर्ग, ऐश्वर्य और प्रसिद्धि की प्राप्ति करता है।[4]

(२) विनयपिटक मे सकलित कृतियो मे लेखन-कला को भिक्षुओ के लिए निर्दोष एव सराहनीय वता कर उसकी प्रशसा की गई है।[5]

गृहस्थो और उनके पुत्रो के लिए लिखने का व्यवसाय जीविका का एक उत्तम साधन समझा जाता था।[6]

(३) निम्नलिखित प्रसगो मे जातक-कथाएँ लेखन-कला का निर्देश करती है:

(१) व्यक्तिगत और आधिकारिक पत्र,[7]

---

१ मैक्क्रिण्डल, हिस्ट्री ऑफ् एलेक्ज़ेण्डर्स इन्वेजन ऑफ् इण्डिया, ८/९।
२ सुत्तान्त १/१।
३ ब्रह्मजाल सुत्त, १४, सामञ्जफलान्य सुत्त, ४९।
४ विनयपिटक, पराजिक भाग (३, ४, ४)।
५ भिक्खुपाचित्तिय, २।२।
६ रिज डेविड्स, वुद्धिस्ट इण्डिया, पृ० १०८।
७ कटाहक जातक, काम जातक।

(२) राजकीय घोषणा,[1]
(३) कौटुम्बिक कार्य,[2]
(४) धार्मिक एव राजनीतिक सुभाषित,[3]
(५) ब्याज और ऋणपत्र (इणपण्ण)[4],
(६) पाण्डुलिपियाँ (पत्रक)[5]

(४) महावग्ग[6] और जातक[7] मे केवल ई० पू० पाँचवी शती के पूर्व लेखन-कला के अस्तित्व के प्रमाण ही नही मिलते है, अपितु उन सस्थाओ का भी निर्देश है, जिनमे लेखन-कला की शिक्षा दी जाती थी। पाठ्य-विषय पर लिखित सामग्री तथा लिखने की विधि एव उपकरणो का भी उल्लेख प्राप्त होता है। महावग्ग लेख (लेखन), गणना (गणित) और रूप (प्रमुखत मुद्राशास्त्र विषयक व्यावहारिक गणित) का जो प्राचीन भारतीय प्रारम्भिक पाठशालाओ के पाठ्यक्रम के अग थे, उल्लेख करता है। जातक मे लेखन के उपकरण के रूप मे फलक (लेखपट्ट) और वर्णक (काष्ठ-लेखनी) का निर्देश है। परवर्ती ग्रन्थ ललितविस्तर[8] मे बुद्ध की लिपिशाला मे जाने तथा उनके शिक्षक विश्वामित्र के द्वारा चन्दन-फलक पर स्वर्ण-लेखनी से उनको वर्ण परिचय कराये जाने का वर्णन है।

ये सभी बौद्ध प्रमाण इस बात के परिचायक है कि भारत मे ईसा पूर्व की चौथी और छठी शताब्दी के मध्यकाल मे, लेखन-कला का व्यापक प्रसार था एव सामान्य जनता इससे सुपरिचित थी। यह नयी वस्तु नही थी। इसके विकास मे लम्बा समय लगा होगा। बौद्ध साहित्य मे लेखन सम्बन्धी, 'छिन्दति', 'लिखति', 'लेख', 'लेखक', 'अक्खर' आदि शब्दो तथा लेखन के समस्त उपकरणो काष्ठ, बाँस पत्र (पण्ण) एव स्वर्ण पट्ट का उल्लेख मिलता है। बूलर[9] के मतानुसार ये सभी लेखन की प्रारम्भिक अवस्था—अर्थात् कडे पदार्थों पर खुदाई के द्योतक है। किन्तु बूलर का

---

१ रुरु जातक।
२ कण्ह जातक।
३ कुरुधम्म जातक।
४ रुरु जातक।
५ बूलर, इण्डियन स्टडीज ३/१२०।
६ १/४९, भिक्खुपाचित्तिय, ६५/१।
७ कटाहक जातक।
८ दशम अध्याय।
९ इण्डियन पेलियोग्रॉफी, पृ० ५।

यह मत ग्राह्य नही है। वास्तव मे इस शब्दावली मे 'छिन्दति' शब्द ही एक ऐसा है जिससे खुदाई का वोध हो सकता है। किन्तु खुदाई प्राय पत्थर पर स्थायी लेखन के लिए की जाती थी। इसमे कोई सदेह नही की ताडपत्र जैसे कडे पत्तो पर खुदाई सम्भव थी, किन्तु भूर्जपत्र कागज के समान था जिस पर स्याही से अक्षर लिखे जाते थे। इसके अतिरिक्त ई० पू० चौथी शती के यवन लेखक[1] भारत मे कागज बनाने का उल्लेख करते हैं, जिसका प्रयोग स्याही से लिखने मे होता था। कडे पदार्थो पर भी अभ्यासार्थ स्याही या खडिया के घोल जैसे द्रव पदार्थ से लिखा जाता था। लेखन-कला इस युग मे अपनी प्रारम्भिक अवस्था को पार कर चुकी थी, तथा उपयुक्त उपकरणो द्वारा उसका सुगम एव अबाध प्रयोग होता था।

६ ब्राह्मण-साहित्य का साक्ष्य

वेदोत्तर सस्कृत साहित्य मे जिसमे महाकाव्य, काव्य, नाटक, स्मृतियाँ, अर्थशास्त्र, धर्मशास्त्र, आख्यायिका, दर्शन तथा अन्य शास्त्र समाविष्ट है, विषय की प्रकृति, शैली, आकार तथा लेखन के प्रर्याप्त प्रमाण भरे पडे हैं। चूँकि अधिकाश भाग अशोक के शिलालेखो के वाद का है, अत इसका साक्ष्य लेखन-कला के पूर्वतर अस्तित्व को सिद्ध करने मे समर्थ नही है। परवर्ती सस्कृत साहित्य के विपरीत पूर्वकालीन सस्कृत साहित्य के प्रमाण अति मूल्यवान् है। इस साहित्य का एक अश बौद्ध साहित्य का समकालीन है, किन्तु अधिकाश बौद्ध धर्म के उदय के पूर्व का है।

प्राक् बौद्धकालीन ब्राह्मण-साहित्य का समय मैक्स मूलर[2] ने स्वेच्छा से ई० पू० ८०० एव ई० पू० १४०० के मध्य रखा था। किन्तु बूलर[3] और विण्टरनिट्ज़[4] जैसे सस्कृत साहित्य के परवर्ती इतिहासकारो ने भारत के राजनीतिक, सामाजिक, एव सस्कृतिक विकास को ध्यान मे रख कर उस साहित्य की प्राचीनतम सीमा ई० पू० की तीसरी या चौथी सहस्राब्दी माना है। अत इस पूर्वकालीन ब्राह्मण-साहित्य के साक्ष्य अवश्य ही लेखन-कला की प्राचीनता को पर्याप्त रूप से बढा सकेगे।

(१) सामान्यतया भारत मे रामायण एव महाभारत का समय चतुर्थ शताब्दी ई० पू० माना जाता है। इनमे उत्तरकालीन युगो के स्थल भी विद्यमान है, जिन्हें

---

१ नियार्कस (स्ट्रैवो १५।७१७), क्विण्टस कर्टियस (मैक् क्रिण्डल, हिस्ट्री ऑफ् एलेक्जैण्डर्स इनवेज़न ऑफ् इण्डिया, ८/९।

२ हिस्ट्री ऑफ् ऐंश्यंट सस्कृत लिटरेचर। mul moolar-

३ विण्टरनिट्ज़ द्वारा 'ए हिस्ट्री ऑफ् इण्डियन लिटरेचर', भाग २ मे उद्धृत।

४. ए हिस्ट्री ऑफ् इण्डियन लिटरेचर, भाग १।

मूल ग्रन्थो का अग नही माना जा सकता है।[1] इनमे लेखन सम्बन्धी 'लिख', 'लेख', 'लेखन', 'लेखक' आदि अनेक शब्द भरे पडे हैं। इस पर बूलर[2] का कथन है, "यद्यपि महाकाव्यो के प्रमाण केवल उचित सतर्कता से स्वीकार किये जा सकते है, फिर भी इसका निराकरण नही किया जा सकता कि उनके लेखन और लेखक सम्बन्धी शब्द अति प्राचीन है।" महाभारत की भूमिका मे कहा गया है कि महाभारत के रचयिता व्यास ने गणेश (जो स्पष्टत लेखन मे निपुण मानव ही थे) को अपना लेखक बनाया था।[3]

(२) कौटिल्य[4] का अर्थशास्त्र ब्राह्मण-साहित्य का दूसरा महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। अर्थशास्त्र का समय अशोक के शिलालेखो के पूर्व ई० पू० चतुर्थ शतक है। इसमे लेखन के विशिष्ट और प्रत्यक्ष सकेत हैं जिनमे से कुछ नीचे उद्धृत किये जाते है।

(क) वृत्तचौलकर्मा लिपिं सख्यान चोपयुञ्जीत।१/५/२।

(चूडाकर्म के उपरान्त लेखन और गणना सीखनी चाहिये)।

(ख) पञ्चमे मन्त्रिपरिषदा पत्रसम्प्रेषणेन मन्त्रयेत।१/१९/६।

(पाँचवे प्रहर मे राजा को पत्र-सम्प्रेषण द्वारा मन्त्रिपरिषद् से मन्त्रणा करनी चाहिये)।

(ग) सज्ञालिपिभिश्चारसञ्चार कुर्यु।१/१२/८।

(सज्ञा और लिपि के साथ अपने गुप्तचरो को भेजना चाहिये)।

(घ) अमात्यसम्पदोपेत सर्वसमयविदाशुग्रन्थश्चार्वक्षरो लेखवाचनसमर्थो लेखक स्यात्।२/९/२८।

(लेखक लिखने और पढने मे समर्थ तथा रचनाकुशल होना चाहिये)।

(३) सूत्र-साहित्य[5]—श्रौत, गृह्य और धर्म सूत्रो—का समय ईसा पूर्व की दूसरी और आठवी शताब्दियो के बीच रखा गया है। सूत्र-साहित्य भी लेखन के व्यापक प्रचार के प्रमाण उपस्थित करता है। उदाहरणार्थ वसिष्ठ धर्मसूत्र[6] मे व्यावहारिक प्रमाण के रूप मे लिखित पत्रको का उल्लेख है। साथ ही साक्ष्य के प्रकरण मे एक सूत्र किसी प्राचीनतर ग्रन्थ या प्राचीन परम्परा से उद्धृत किया गया है।

---

१ वही, भाग १।
२ इण्डियन पेलियोग्रॉफी, पृ० ४।
३ आदि पर्व, १/१११२।
४ कौटिल्य ई० पू० चौथी शती मे चन्द्रगुप्त मौर्य का प्रधान मत्री था।
५ विण्टरनिट्ज, ए हिस्ट्री ऑफ् इण्डियन लिटरेचर, भाग १।
६ १६।१०।१४-१५।

(४) सस्कृत व्याकरण के आरम्भिक ग्रन्थ, जो वेदाग साहित्य के अन्तर्गत आते है, सूत्रकाल के प्रारम्भ मे रखे जा सकते है। विना लेखन[1] की सहायता के व्याकरण, स्वर-शास्त्र तथा भाषा-विज्ञान का विकास नही हो सकता है, अतएव ये लेखन की पूर्व-कल्पना ही नही करते अपितु प्रयुक्त पदो द्वारा उस काल मे लेखन के अस्तित्व को भी प्रकट करते है।

(अ) पाणिनि की अष्टाध्यायी[2] मे प्रयुक्त, निम्नलिखित पद लेखन-कला के अस्तित्व के सूचक है[3] —

(क) लिपि[4] और लिवि

(ख) लिपिकर[5]

(ग) यवनानी[6]

(घ) ग्रन्थ[7]

---

१ ससार की कोई भी भाषा विना लिपि-ज्ञान के नियमित व्याकरण रखते हुए नही सुनी गयी।

२ मैक्स मूलर (हिस्ट्री ऑफ् ऐंश्येण्ट सस्कृत लिटरेचर) और बूलर के अनुसार पाणिनि का प्रादुर्भाव ई० पू० चौथी शती मे हुआ था। गोल्डस्टूकर ने विस्तृत अन्वेषणो के आधार पर, पाणिनि का समय ई० पू० आठवी शती माना है, जो अधिक तर्कसगत है।

३ सचमुच मैक्स मूलर की यह धारणा कि पाणिनि की पारिभाषिक शब्दावली मे लेखनसूचक एक भी शब्द नही है, आश्चर्यजनक है। देखिये—पूर्व पृ० १।

४ लिपिलिवि वलि १३।२।२१। बूलर के मत मे "दिपि और लिपि शब्द सम्भवत प्राचीन फारसी 'दिपि' शब्द से निकले है, जो दारा के पजाव विजय (ल० ५०० ई० पू०) के पहले भारत नही पहुँच सका होगा, यही वाद को 'लिपि' हो गया।" (इण्डियन पेलियोग्रॉफी पृ० ५, बूलर, इण्डियन स्टडीज, ३।२१ डी)। यह मत पाणिनि के अनुकरण की पूर्व-कल्पना करके पाणिनि को ईसा पूर्व चौथी शती मे खीच लाता है। गोल्डस्टूकर द्वारा निश्चित पाणिनि के काल की दृष्टि से बूलर के मत मे औचित्य नही प्रतीत होता। जहाँ तक 'लिपि' शब्द की व्युत्पत्ति का सम्वन्ध है भानुजि दीक्षित अमरकोश के 'लिपिलिविरुभे स्त्रियौ' (२।८।१६) अश की टीका करते हुए लिखते हैं लिप्यते। लिपि उपदेहे। इक् कृष्यादिभ्य (वा० ३।३।१०८) इगुपधात् कित् (उ० ४।१२० इतीनवा)। लिवि सौत्री धातु इति मुकुट। लिपि तथा लिवि दोनो ही सस्कृत व्युत्पत्ति वतलाते है।

५ वही।

६ ४।१।४९, कात्यायन इसकी 'यवनलिप्याम्' व्याख्या करते है। पतजलि 'यवनलिप्यामिति वक्तव्यम्, यवनानी लिपि' ऐसी व्याख्या करते हैं।

७ समुदाङ्भ्यो यमोऽग्रन्थे (१।३।७५), अधिकृत्यकृते ग्रन्थे ३।८७, ४।३। ११६।

(इ) स्वरित[1]

इसके अतिरिक्त पाणिनि पाँच और आठ के अंको एव स्वस्तिक 卐 जैसे धार्मिक चिह्नो द्वारा पशुओ के कानो को अंकित करने का उल्लेख करते है।[2] अष्टाध्यायी मे ग्रन्थ रूप[3] मे महाभारत तथा आपिशलि[4], कश्यप[5], गालवे[6], गार्ग्य[7], चक्रवर्मन्[8], भारद्वाज,[9] यास्क[10], शाकल्य[11], शाकटायन[12], सेनक[13], स्फोटायन[14] आदि पूर्व वैयाकरणो[15] के नामो का भी उल्लेख मिलता है। इससे प्रतीत होता है कि पाणिनि के पूर्व ही व्याकरण-साहित्य का निर्माण प्रारम्भ हो चुका था जिसके लिए लिपि की नितान्त आवश्यकता थी।

(आ) यास्क[16] ने जिनका समय पाणिनि से पूर्व का है, शब्दो की व्युत्पत्ति पर निरुक्त की रचना की है। निरुक्त मे निम्नलिखित पूर्ववर्तियो का उल्लेख हुआ है —

औदुम्बरायण, अग्रायण, अरुणाभ, औपमन्यव, गार्ग्य, गालव, काट्ठक्य, कौत्स, चर्मशिरस्, तैतिकि, मौद्गल्य, वार्ष्यायणि, शाकल्य, शतवलाक्ष, शाकटायन, शाकपुणि तथा स्थौलस्थिविन्।

यह नामावली भाषाशास्त्र की कृतियो की तिथि और उसके साथ ही लेखन की प्राचीनता को प्रर्याप्त पीछे खिसका देती है।

(५) वेदाग[17] (शिक्षा, कल्प, निरुक्त, व्याकरण, छन्दस् तथा ज्योतिष) अर्थात् विशिष्ट ज्ञान की सभी शाखाएँ जो वर्गीकरण, व्यवस्थापन, अन्तर्निर्देश, पुनरावृत्ति तथा गुणन एव विभाजन युक्त गणना को सूचित करते हैं, निस्सदेह लेखन की पूर्व-कल्पना करती हैं।

---

१ स्वरितेनाधिकार (१।३।११)।

२ कर्णे लक्षणस्याविष्टाष्टपञ्चमणिभिन्नछिन्नछिद्रस्रुवस्वस्तिकस्य।६।३।११५।

३ ६।२।३८। ७ ८।३।२०। ११ ८।३।१९।

४ ६।१।९२। ८ ६।१।१३०। १२ ३।४।१११।

५ १।२।२५। ९ ७।२।६३। १३ ५।४।११२।

६ ६।३।६१। १० २।४।६३। १४ ६।१।१२३।

१५ ६।१।९२।

१६ यास्ककृत निरुक्त।

१७ ये भारत के प्राचीनतम शास्त्रीय साहित्य का निर्माण करते है।

(६) उपनिषद् जो ब्राह्मण-साहित्य के अपेक्षाकृत प्राचीनतर रचनाएँ हैं, अक्षरो का निर्देश करते है। इन अक्षरो का उल्लेख उच्चरित ही नही लिखित रूप मे भी हुआ है क्योकि उन्हे कार (बनाये जाने वाली कोई वस्तु) और वर्ण (रगी जाने वाली कोई वस्तु) से सयुक्त किया गया है।

(७) कतिपय आरण्यको मे ऊष्म, स्पर्श, स्वर तथा अन्तस्थ, व्यजन और घोष, मूर्धन्य और दन्त्य के बीच सूक्ष्म विभेद प्राप्त होता है। सधि की भी उनमे व्याख्या है तथा ॐ की व्युत्पत्ति अ+उ+म् के योग से बतायी गई है।

(८) उपनिषद्, आरण्यक एव ब्राह्मणो के अधिकाश भाग गद्य मे हैं और वे दार्शनिक एव यज्ञपरक वृहत् साहित्य को रूप देते है। यह विश्वास करना कि यह विशाल साहित्य, जिसका अधिकाश गद्य मे है, बिना लेखन की सहायता के ही एक पीढी से दूसरी पीढी को प्राप्त होता गया, विवेकशून्यता का परिचायक है। यह सम्भव है कि इसका कुछ अश कण्ठस्थ कर लिया जाता हो। फिर शिक्षण और स्मरण के लिए लिखित पुस्तक की आवश्यकता होती थी। इसके अतिरिक्त इस साहित्य मे व्याकरण, निरुक्त एव छन्द शास्त्र सम्बन्धी अनेक पारिभाषिक पद भरे पडे है, जिनका प्रयोग निरक्षर लोगो द्वारा नही हो सकता था।

(९) जब हम ब्राह्मण साहित्य के प्राचीनतम स्तर के द्योतक वेद की ओर दृष्टि-पात करते है तो उसमे भी कतिपय साक्ष्य इस बात को सूचित करते हैं कि वैदिक ऋषि लेखन-कला से भली भाँति परिचित थे। ऋग्वेद[1] मे गायत्री, अनुष्टुभ, वृहती विराज, त्रिष्टुभ, जगती इत्यादि छन्दो के भी अन्त साक्ष्य मिलते हैं। वाजसनेय सहिता[2] मे कुछ अन्य—छन्दो-पक्ति—द्विपद, त्रिपद, चतुष्पद, षट्पद—का उल्लेख मिलता है। अथर्ववेद[3] मे छन्दो की सख्या ग्यारह दी गई है। छन्दो के नाम तथा उनके रचना सम्बन्धी पारिभाषिक शब्दो का विकास निरक्षर लोगो द्वारा सम्भव नही था। आज भी आदिम जातियाँ तथा साक्षर समाज का निम्नवर्ग, गीतो की रचना करता तथा प्रसन्नचित्त से उनको गाता है, किन्तु छन्दो का नामकरण वे नही कर सकते। छन्द शास्त्र का विशिष्ट ज्ञान उनके सामर्थ्य से परे है। साक्षर समाज का केवल वह वर्ग, जिसे विशालकाय जातीय साहित्य का ज्ञान है तथा जिसमे अन्वेषण एव विश्लेषण का सामर्थ्य है, छन्दशास्त्र का विकास कर सकता है।

---

१ १०।१४।१६, १०।१३२।३-४

२ यजुर्वेद, वाज० सहिता ११।८, १४।१९, २३।३३, २८।१४।

३ ८।९।१९।

वैदिक साहित्य मे बडी-वडी सख्याग्रो का भी निर्देश है, जो लिखित गणना की सूचक है। ऋग्वेद[1] के ग्रनुसार राजा सावर्णि ने एक सहस्र गाये दान मे दी थी जिनके कानो पर ग्राठ का ग्रक खुदा हुग्रा था। यजुर्वेद की वाजसनेय सहिता[2] मे पुरुषमेघ के लिए परिगणित लोगो की सूची मे गणक का भी समावेश है। जहाँ तक सख्याग्रो का सम्वन्घ है निम्नलिखित सख्याएँ चढते क्रम से प्राप्त होती है, दश (१०), शत (१००), सहस्र (१०००), ग्रयुत (१०,०००), नियुत (१,००,०००), प्रयुत (१०,००,०००), ग्रर्बुद (१,००,००,०००), न्यर्बुद (१०,००,००,०००), समुद्र (१,००,००,००,०००), मध्य (१०,००,००,००,०००), ग्रन्त (१,००,००,००,००,०००) तथा प्रार्घ (१०,००,००,००,००,०००)।[3] व्राह्मण साहित्य मे वडी सख्याग्रो के ग्रनेक उदाहरण मिलते हैं।[4] शतपथ व्राह्मण[5] दिन ग्रौर रात का सूक्ष्म विभाजन प्रस्तुत करता है। इसके ग्रनुसार दिन-रात मे ३० मुहूर्त होते हैं। एक मुहूर्त मे १५ क्षिप्र, एक क्षिप्र मे १५ एतर्हि, एक एतर्हि मे १५ इदानीम् तथा एक इदानीम् मे १५ प्राण होते हैं। इस प्रकार एक दिन-रात मे (३० × १५ × १५ × १५ × १५) = १५,१८,७५० प्राण होते हैं तथा एक प्राण $\frac{१}{१७}$ सेकण्ड के बरावर होता है। निरक्षर समाज या जनता इतनी बडी सख्याग्रो को गिनने तथा दिन के इस सूक्ष्मतम विभाग को समझने मे समर्थ नही हो सकती। साधारणतया वे ४, ५, १६, २० ग्रादि तक तथा इनसे पूरी-पूरी कट जाने वाली सख्याग्रो से गणना करते है। कठिनाई से वे १०० तक गिन सकते हैं। वैदिक ग्रौर व्राह्मण साहित्य मे प्रयुक्त ग्रक निश्चित रूप से लेखन के ग्रस्तित्व के द्योतक हैं।

सम्प्रति यह प्रश्न उपस्थित हो सकता है कि यदि लेखन-कला इतने प्राचीन काल मे वर्तमान थी तो ई० पू० पचम शतक से पहले भारत मे एक भी ऐसा उदाहरण क्यो नही उपलब्ध होता ? इसका यही उत्तर है कि केवल पत्थर या धातु पर खुदे लेख ही ग्रनेक शताब्दियो तक रह सकते हैं।

भारत मे पाये गये प्राचीन लेखन के सभी ग्रवशेष पत्थर पर है। प्राचीन व्राह्मण साहित्य ग्रौर ग्रन्थ पत्रो, छाल, तथा बाद को हाथ से वनाये गये कागज पर लिखे जाते थे। इस प्रकार के ग्रस्थिर ग्रौर नश्वर पदार्थों की रक्षा सुदीर्घ काल तक नहीं की जा

---

१ सहस्र मे ददतो ग्रष्टकर्ण्य ।१०।६२।७।
२ ग्रामण्य गणकमभिक्रोशक तान्महसे ।३०।२०।
३ तैत्तिरीय सहिता ४।४०।११।४, ७।२।२१।१।
४ पञ्चविंश व्राह्मण १८।३, शतपथ व्रा० १०।४।२।२२-२५ ।
५ शतपथ १२।३।२।१।

सकती। पुरानी हस्तलिखित प्रतियाँ कुछ समय बाद नष्ट हो जाती थी और नई पीढी के लिए उनकी प्रतिलिपि कर ली जाती थी। इस प्रकार लिपि भी समयानुसार बदलती रहती थी।

भारतीय शिक्षा-पद्धति मे निस्सदेह गुरुमुख[1] से ही शिक्षा ग्रहण करने और पाठ को कण्ठस्थ करने पर विशेष महत्त्व दिया जाता था। परन्तु यह सिद्ध करने के लिए कि ब्राह्मण-साहित्य के रचना-काल मे लेखन-कला अज्ञात थी, इस प्रणाली को गलत दृष्टिकोण से देखा गया है। प्राचीन हिन्दुओ का धर्म तथा विश्वास इस बात के पक्ष मे था कि वेदो का शुद्ध उच्चारण किया जाय, अशुद्ध उच्चरित शब्द यजमान[2] के लिए घातक होता है। शुद्ध उच्चारण का ज्ञान गुरुमुख से ही सम्भव था जो वेदो का शुद्ध उच्चारण कर सकता था। लिपिबद्ध प्रति से यह सर्वदा असम्भव था किन्तु इससे यह नही सिद्ध होता कि शिक्षक अपनी सहायता के लिए अपने पास वेदो की लिखित प्रति नही रखता था। कुछ शिक्षक और उद्गाता शिक्षण और गायन के समय लिखित प्रतियो का उपयोग करते थे। किन्तु यह श्रद्धा की दृष्टि से नहीं देखा जाता था।[3] इसमे सदेह नही कि लौकिक साहित्य के ग्रन्थो को भी कण्ठस्थ करने पर बडा जोर दिया जाता था,[4] क्योकि उनके विचार से किसी विषय पर अधिकार के लिए यह आवश्यक है कि उस विषय के पण्डित को उपस्थित निर्देश के लिए लिखित पुस्तक का अवलम्बी न होना पडे। ग्रन्थ के रचनाकाल मे लेख का प्रयोग होता था। ग्रन्थ तैयार हो जाने पर रचयिता अपने प्रयोग तथा विद्यार्थियो के शिक्षण के लिए पूर्ण सरलता एव स्वतन्त्रता के साथ उनको कण्ठस्थ कर सकता था।

प्राचीन ब्राह्मण साहित्य के कुछ विशिष्ट विद्वानो के मतो को यहाँ उद्धृत करना असगत न होगा। बोथलिंग, गोल्डस्टूकर द्वारा तैयार किये गये मानव कल्पसूत्र[5] के सस्करण की अँग्रेजी भूमिका मे लिखते हैं कि उनके विचार मे, साहित्य के प्रचार या आगे बढने के लिए यद्यपि लेखन का प्रयोग नही होता था (यह मौखिक रूप से होता

---

१ यदेषामन्यो अन्यस्य वाच शक्तस्येव वदति शिक्षमाण। ऋग्वेद ७।१०३।५

२ दुष्ट शब्द स्वरतो वर्णतो वा मिथ्या प्रयुक्तो न तमर्थमाह।
स वाग्वज्रो यजमान हिनस्ति यथेन्द्रशत्रु. स्वरतोऽपराधात् ॥
—पातञ्जल महाभाष्य।

३ गीती शीघ्री शिर कम्पी तथा लिखितपाठक।
अनर्थज्ञोऽल्पकण्ठश्च षडेते पाठकाधमा ॥—याज्ञवल्क्य शिक्षा।

४ पुस्तकस्था च या विद्या परहस्तगत धनम्।
कार्यकाले तु सम्प्राप्ते न सा विद्या न तद्धनम् ॥—चाणक्यनीति।

५ पृ० ६९।

था) किन्तु नवीन कृतियो के रचनाकाल मे इसका प्रयोग किया जाता था। रॉथ[1] का निश्चित मत था कि भारत मे अति प्राचीनकाल मे लेखन-कला अवश्य ही वर्तमान थी क्योकि वेदो की प्रातिशाख्य जैसी कृतियो का निर्माण विना इसकी सहायता के नही हो सकता था। बूलर[2] लिखता है, " ऐसा कोई प्रमाण नही है जिसके आधार पर वार-बार उठाये गये इस अनुमान का विरोध किया जा सके कि वैदिक काल मे भी शिक्षण एव अन्य अवसरो पर लिखित प्रतियो का सहायक के रूप मे प्रयोग होता था। इस अनुमान के समर्थन मे अब एक तर्क जो सर्वमान्य है, रखा जा सकता है कि ब्राह्मी वर्णों की रचना वैयाकरणो या ध्वनिशास्त्रियो द्वारा वैज्ञानिक प्रयोग के लिए हुई थी।"

७ ठोस प्रमाण

उपर्युक्त पारम्परिक, साहित्यिक, सामयिक एव निर्देशात्मक सभी प्रकार के साक्ष्यो से निष्पन्न निष्कर्ष की पुष्टि, पत्थर, धातु, हाथी दाँत, मृत्तिकापट्ट तथा घिया पत्थर (स्टेलाइट) जैसे स्थायी पदार्थों पर खुदे उन लेखो से होती है, जो लेखन-काल और आज के बीच लम्बी शताब्दियो को पार कर आये है, जबकि पत्तो, छाल, कपडे और कागज जैसे नाशवान् पदार्थों पर लिखी गयी समकालीन कृतियाँ नष्ट हो गयी है।

(१) **मौर्य अभिलेख**[3]—लेखन के उदाहरण, जिनके समय के विषय मे मत-भेद नही हो सकता है, अशोक के शिलालेखो मे पाये जाते हैं। अशोक का समय ई० पू० की तीसरी शती है। ये शिलालेख, चट्टानो, प्रस्तर-स्तम्भो तथा गुहाभित्तियो पर, देश की दो मुख्य लिपियो—ब्राह्मी और खरोष्ठी—मे है। ये उत्तर मे हिमालय से दक्षिण मे मैसूर राज्य, पश्चिम मे काठियावाड मे गिरनार से दक्षिण-पूर्व मे धौली और जौगड तक—एक विस्तृत क्षेत्र मे फैले है। इन लेखो की लिपि मे निम्नलिखित विशेषताएँ है।

(अ) वर्णों के रूपो मे व्यापक भेद—अधिकाश वर्णो के रूप विभिन्न हैं जिनका विकास विभिन्न काल और विभिन्न स्थानो मे तथा समय के प्रवाह मे विभिन्न व्यक्तियो द्वारा हुआ होगा। उदाहरणार्थ 'अ' के दस रूप है।

(आ) स्थानीय भेद, मुख्यतया उत्तरी और दक्षिणी दो रूप थे किन्तु अन्य स्थानीय उपभेद भी प्राप्त होते हैं।

---

१ ओझा द्वारा उद्धृत, भारतीय प्राचीन लिपिमाला, पृ० १५।
२ इण्डियन पेलियोग्रॉफी, पृ० ४।
३ हुल्श, अशोकन इन्स्क्रिप्शन्स, सी० आई० आई०, भाग १।

(इ) वर्णों के विकसित एव घसीट रूप, एक ही वर्ण का सुन्दर (प्राय कोणवाला, सावधानी और सौन्दर्य पर विशेष ध्यान के साथ खोदा गया) रूप तथा साथ ही घसीट (वक्र रेखाओ की ओर अग्रसर तथा प्रतिदिन की लिखावट मे शीघ्रता से लिखा जैसा) रूप प्राप्त होता है। वर्णो का यह रूपान्तर सुदीर्घ प्रयोगजनित सर्व-व्यापी परिचय की अवस्था मे ही, जिसमे विभिन्न रूपो के पहचानने मे भ्रम नही होता, सम्भव है। इसके अतिरिक्त वर्णों के विकसित रूप भी प्राप्त होते हैं, जो इस बात के सूचक हैं कि वर्णों के मूल रूप विकास मे सहायक कारणो से परिवर्तित हो रहे थे।

उक्त विशेषताओ के आधार पर बूलर[1] ने निम्नलिखित निष्कर्ष निकाला है, "इतने स्थानीय भेदो तथा अनेक घसीट रूपो का अस्तित्व, किसी भी दशा मे इस बात को सिद्ध करता है कि अशोक के समय मे लेखन का एक लम्बा इतिहास था तथा उस समय अक्षर परिवर्तन की अवस्था मे थे।" यह सर्वमान्य है कि अशोक के समय मे प्रयोग की जाने वाली लिपियो के विकास मे अनेक शताब्दियाँ लगी होगी। अशोक के लेखो के आन्तरिक प्रमाणो से भी इस बात की पुष्टि होती है कि लेखन का प्रयोग केवल स्मारक रूप मे नही प्रत्युत विस्तृत पुस्तको को लिखने के लिए सुलभ एव कोमल पदार्थों पर भी होता था। इसके लिए लेखन के सुदीर्घ अभ्यास की आवश्यकता थी। अशोक अपने लेखो के लिए पत्थर के माध्यम की व्याख्या करता हुआ कहता है, "जिससे यह चिरस्थायी हो"।[2] इससे प्रतीत होता है कि नाशवान् पदार्थो पर भी लिखने का कार्य होता था। अशोक ने भिक्षुओ और उपासको के दैनिक अध्ययन एव पाठ के लिए कुछ धार्मिक ग्रन्थो का भी उल्लेख किया है।[3] ये कृतियाँ निश्चय ही पत्थर पर नही खुदी होगी प्रत्युत पत्र, छाल और कागज जैसे साधारण पदार्थो पर लिखी होंगी।[1]

(२) **प्राङ्मौर्य अभिलेख**—अशोक काल के पूर्व के भी अभिलेख और विरुद हैं जो लेखन-तिथि को मौर्यकाल के भी पूर्व खीच ले जाते हैं। उनका उल्लेख इस प्रकार किया जा सकता है —

---

१ इण्डियन पेलियोग्रॉफी पृ० ७।

२ इय धम्मलिपि लेखिता चिलठितीका होतु। शिलालेख २ (काल्सी)।

३ इमानि भते धम्मपलियानानि विनयसमुकसे अलियवसानि अनागतभयानि मुनिगाथा मोनेयसूते उपतिसपसिने ये चा लाघुलोवादे मुसावादे । अशोक का भब्रू शिलालेख।

(अ) **एरण मुद्रा विरुद**[1]—विरुद दाहिने से बायी ओर लिखा गया है। इसी के आधार पर बूलर का विश्वास था कि यह उस काल का है जब ब्राह्मी दोनो तरफ से—दाये से बायें और बाये से दाये—लिखी जाती थी। बूलर[2] के अनुसार वह काल अवश्य ही ई० पू० ४०० से पूर्व होगा। यद्यपि यत्र-तत्र विकीर्ण इन खण्डित लेखो के आधार पर एक ऐसे युग की कल्पना करना, जिसमे ब्राह्मी लिपि दाहिनी ओर से बायी ओर को लिखी जाती थी, उचित नही है तथापि लेख मे प्रयुक्त वर्णो की प्राचीनता (ष, म, स) तथा मुद्राशास्त्र के अनुसार उसका समय अवश्य ही अशोक के लेखो से पूर्व का है।

(आ) **भट्टिप्रोलु**[3] **अवशेष मंजूषा द्राविडी अभिलेख**—ये लेख (१) कुछ वर्णो (द, घ, भ) की परिवर्तनशील विशेषता (२) कुछ वर्णो (च, ज, ष) की प्राचीन प्रकृति तथा (३) ल और ळ के चिह्नो के स्वतन्त्र रूप के आधार पर अशोक के शिलालेखो के समय से पूर्व रखे जा सकते है।

(इ) **तक्षशिला मुद्रा ब्राह्मी विरुद**[4]—लिपिशास्त्र और मुद्राशास्त्र के आधार पर ये ईसा पूर्व चौथी शताब्दी मे रखे जाते हैं।

(ई) **महास्थान प्रस्तर अभिलेख**[5]—यह अभिलेख पूर्वी बगाल के बोगरा जिले (सम्प्रति बगलादेश) मे पाया गया है, जिसमे पचवर्गीय बौद्ध भिक्षुओ के लिए दान का अकन है।

(उ) **सोहगौरा ताम्रपट्ट अभिलेख**[6]—यह उत्तर प्रदेश के गोरखपुर जिले मे पाया गया था। इसमे अकाल के समय अन्न एव चारे के प्रबन्ध का उल्लेख है।

(ऊ) **पिप्रह्वा बौद्धकलश अभिलेख**[7]—यह उत्तर प्रदेश के बस्ती जिले मे मिला था। बुद्ध के अवशेषो का एक अश शाक्यो को भी प्राप्त हुआ था। इन्ही अवशेषो से युक्त अस्थिमजूषा के समर्पण का इसमे उल्लेख है। इसका समय ल० ४८३ ई० पू० है जो बुद्ध का निर्वाण काल माना जाता है।

---

१ कनिघम क्वाइन्स ऑफ् ऐश्येण्ट इण्डिया, पृ० १०१।

२. इण्डियन पेलियोग्रॉफी, पृ० ८।

३ बूलर इण्डिशे पेलियोग्रॉफी, फलक २, भाग १३-१४।

४ कनिघम क्वाइन्स ऑफ् ऐश्येण्ट इण्डिया।

५ एपि० इण्डिका, भा० २१, पृ० ८५, इण्डि० हिस्टॉ०, क्वा०, १९३४, पृ० ५७ और आगे।

६ एपि० इण्डिका, २२, पृ० २, इण्डि०, हिस्टॉ०, क्वा०, १०, पृ० ५४ और आगे।

७ ज० रा० ए० सो०, १८९८, पृ० ३८७ और आगे।

(ए) वडली अभिलेख[1]—अजमेर जिले के एक गाँव से यह प्राप्त हुआ था। इसमे 'वीराय भगवते चतुमिते वमे' [भगवान् (महा) वीर को उनके ८४वे साल मे समर्पित] लेख अंकित है। गणना से (५२७-८४) ४८३ ई० पू० इस अभिलेख का समय प्राप्त होता है।

उपर्युक्त स्थिर प्रमाणो के आधार पर लेखन-कला का समय ईसा पूर्व की पाँचवी शती तक पहुँच जाता है। साथ ही लिपियो के विकास मे सुदीर्घ काल लगा होगा। ये अभिलेख प्राय प्राचीन बौद्ध साहित्य के समकालीन है।

(३) सिन्धुघाटी की लिपि[2]—१९२१ मे सिन्धुघाटी की लिपि के प्रकाश मे आने के पूर्व लिपिशास्त्री प्राड्मौर्यकालीन अभिलेखो तक आकर रुक जाते और इससे पूर्व नही जा सकते थे। किन्तु उपर्युक्त महत्त्वपूर्ण प्रकाशन से भारतीय तिथि-क्रम को, जिसका प्रारम्भ ईसा पूर्व की दूसरी सहस्राब्दी से माना जाता था, वडा धक्का लगा। स्तरो के अध्ययन तथा सुमेरियन और सिन्धुघाटी की सभ्यता की तुलना के आधार पर सिन्धु-सभ्यता और उसके साथ ही सिन्धु-लिपि का काल ई० पू० की चौथी सहस्राब्दी रखा गया है। इसके और भी पीछे जाने की सम्भावना है। यह लिपि स्वदेशी थी या वाहर से आयी इसके विवेचन की यहाँ आवश्यकता नही है।[3] भारतीय लिपियो की उत्पत्ति के प्रकरण मे इस पर विचार होगा। किन्तु इतना यहाँ कहा जा सकता है कि ई० पू० की छठी शताब्दी और सिन्धु-सभ्यता के समय के वीच मे लिखित उदाहरणो का अभाव यह नही सिद्ध करता कि इस काल मे भारत मे लिपि अज्ञात थी।[4] प्राचीनतम वैदिक साहित्य (जो लेखन-सम्बन्धी साक्ष्यो से युक्त

---

१ ओझा, भारतीय प्राचीन लिपिमाला, पृ० २। यह राजपूताना सग्रहालय अजमेर मे सुरक्षित है।

२ सर जॉन मार्शल, मोहनजोदरो एण्ड इण्डस सिविलीज़ेशन, भाग २। मैके, दि इण्डस सिविलीज़ेशन।

३ यह सिद्ध करने के लिए कि यह लिपि वाहर से आयी कोई युक्तिसगत प्रमाण नही है। सुमेर, जो सिन्धुघाटी की लिपि का उद्गम माना जाता है, की अनुश्रुति स्वय मानती है कि कृषिकला और धातुकला के साथ लेखन-कला वहाँ समुद्र के मार्ग से पहुँची थी (वुली, सी० एल०, सुमेरियन्स पृ० १८९)। इस विषय के कुछ विशिष्ट विद्वानो ने, सिन्धुघाटी की लिपि मे ब्राह्मी की उत्पत्ति की सम्भावना वताई है। (दि स्क्रिप्ट ऑफ् हरप्पा एण्ड मोहनजोदरो ऐण्ड इट्स कनेक्शन विद अदर स्क्रिप्ट्स, केगन पॉल, लन्दन, १९३४, पृ० ४९)।

४. उत्तरी भारत के अनेक टीले, जो देश की सभ्यता को छिपाये हुए हैं अव तक नही खोदे गये है। जव तक यह कार्य नही हो जाता तव तक नकरात्मक उक्तियो पर अनावश्यक जोर देना उचित नही प्रतीत होता।

है) का प्रारम्भ और सिन्धु-सभ्यता का उदय समसामयिक थे। दोनो प्रमाण मिलकर ईसा पूर्व की चौथी सहस्राब्दी मे भारत मे असदिग्ध रूप से लेखन के अस्तित्व को सूचित करते है।

इस प्रकार देश की परम्पराएँ, विदेशी लेखको का साक्ष्य, साहित्यिक प्रमाण तथा अवशिष्ट लेख सभी भारत मे लेखन की अति प्राचीनता को सिद्ध करते हैं। यह प्राचीनता ईसा पूर्व की चौथी सहस्राब्दी तक जाती है। प्राचीनतम भारतीय लेखन के उदाहरण, सुमेर, मिस्र और एलाम के उदाहरणो के समकालीन ठहरते है।

अध्याय दूसरा

प्राचीन भारत में प्रयुक्त लिपियों के प्रकार और नाम

१. अष्टाध्यायी मे लिपियों का प्राचीनतम उल्लेख

लेखन के लिए (लिपि या लिवि) शव्द का प्राचीनतम निर्देश ८०० ई० पू० के पाणिनि प्रणीत व्याकरण ग्रन्थ अष्टाध्यायी मे हुआ है।[१] किन्तु देश मे कितने प्रकार की लिपियाँ प्रचलित थी तथा उनके क्या नाम थे, इन प्रश्नो के उत्तर के लिए अष्टाध्यायी मे कुछ भी नही है। पाणिनि केवल एक यवनानी लिपि का निर्देश करते है, जिसका अस्तित्व उन्हे विदित था। अपेक्षाकृत अधिक प्रचलित भारतीय लिपियो के निर्देश का उन्हें अवसर ही नही प्राप्त हुआ। कौटिल्य के अर्थशास्त्र मे[२] भी राजकुमारो को पढाये जाने वाले एक विषय के रूप मे लिपि का निर्देश है, किन्तु इससे अधिक का ज्ञान वहाँ उपलव्ध नही होता। अशोक के अभिलेखो[३] मे 'लिपि', 'लिवि' और 'दिपि' शव्द आये है और सभी का अभिप्राय लेखन से है। अशोक के समय मे कम से कम दो लिपियाँ—ब्राह्मी और खरोष्ठी—प्रचलित थी, किन्तु अशोक के अभिलेखो मे कही भी उनके नाम का निर्देश नही है।

२. जैन सूत्रो मे लिपियों का उल्लेख

जैन सूत्रो—पन्नवणासूत्र, समवायाङ्गसूत्र तथा भगवतीसूत्र—मे आकर हमे विभिन्न लिपियो के नाम उपलव्ध होते है। पहले दो मे अठारह लिपियो की सूची है तथा अन्तिम मे केवल एक ब्राह्मी का निर्देश है।[४]

अठारह लिपियो की सूची इस प्रकार है —

१ वभी (ब्राह्मी),

---

१ ३।२।२१।

२ २।१।२।

३ ये सूत्र ब्राह्मण सूत्रो की अपेक्षा परवर्ती हैं।

४ नमो वभीये लिवियै (ब्राह्मी लिपि को नमस्कार)।

२. जवनालि या जवणालिय (ग्रीक लिपि),
३ दोसपुरिय (या दोसपुरिस),
४ खरोत्थि (खरोष्ठी),
५ पुक्खरसरिया,
६ भोगवैगा,
७ पहाराइय (या पहरैया),
८. उय-अतरिक्खिया (उयमितर करिय),
९ अक्खरपिट्ठिया (अक्खरपुट्ठिया),
१० तेवनैया (या वेणैया),
११. गि (नि ?) न्हैया (या ण्हिणत्तिया),
१२ अकलिवि (या अकलिक्ख),
१३ गनितलिवि (या गनियलिवि),
१४ गधव्व-लिवि,
१५ आदसलिवि (या आयस-लिवि),
१६ माहेसरि (या महास्सरि),
१७ दामिलि (=द्राविड) तथा
१८ पोलिम्दि (पौलिन्दि, पुलिन्दो की)।

३. ललितविस्तर में लिपियों का उल्लेख

बौद्धग्रथ ललितविस्तर[1] मे, जैन सूत्रो की सूची से भी बडी एक सूची सुरक्षित है। ललितविस्तर मे निर्दिष्ट लिपियो के नाम नीचे दिये जाते हैं —

१. ब्राह्मी,
२ खरोष्ठी,
३ पुष्करसारि,
४ अगलिपि,
५ वगलिपि,
६ मगध लिपि,
७ मङ्गल्य लिपि,
८ मनुष्य लिपि,
९ अगुलिय लिपि,
१० शकारि लिपि,
११ ब्रह्मवल्लि लिपि,
१२ द्रविड लिपि,

१ यह ग्रथ सस्कृत मे लिखा गया है, जिसमे भगवान् बुद्ध का जीवन-चरित वर्णित है। इसकी ठीक तिथि निश्चित करना सम्भव नही है। किन्तु ३०८ ई० मे इसका चीनी भाषा मे अनुवाद किया गया था, अत इसका समय अवश्य ही इससे एक या दो शताब्दी पूर्व होना चाहिए।

१३ कनारि लिपि,
१४ दक्षिण लिपि,
१५ उग्र लिपि,
१६. सख्या लिपि,
१७ अनुलोम लिपि,
१८ ऊर्ध्वधनुर्लिपि,
१९ दरद लिपि,
२० खस्य लिपि,
२१ चीन लिपि,
२२ हूण लिपि,
२३ मध्यक्षर विस्तार लिपि,
२४ पुष्प लिपि,
२५ देव लिपि,
२६ नाग लिपि,
२७ यक्ष लिपि,
२८ गन्धर्व लिपि,
२९. किन्नर लिपि,
३० महोरग लिपि,
३१ असुर लिपि,
३२. गरुड लिपि,
३३ मृगचक्र लिपि,
३४ चक्र लिपि,
३५ वायुमरु लिपि,
३६. भौमदेव लिपि,
३७ अन्तरिक्ष लिपि,
३८ उत्तर कुरु द्वीप लिपि,
३९ उपर गौड लिपि,
४० पूर्व विदेह लिपि,
४१ उत्क्षेप लिपि,
४२. निक्षेप लिपि,
४३. विक्षेप लिपि,
४४. प्रक्षेप लिपि,
४५. सागर लिपि,
४६ वज्र लिपि,
४७. लेख प्रति लेख लिपि,
४८ अनुद्रुत लिपि,
४९ शास्त्रावर्त लिपि,
५०. गणावर्त लिपि,
५१. उत्क्षेपावर्त लिपि,
५२ विक्षेपावर्त लिपि,
५३ पाद लिखित लिपि,
५४ द्विरुत्तरपद-सन्धि लिखित लिपि,
५५ दशोत्तर पद-सन्धि लिखित लिपि,
५६ अध्याहारिणि लिपि,
५७ सर्वरुत्सग्रहणि लिपि,
५८ विद्यानुलोम लिपि,
५९. विमिश्रित लिपि,
६० ऋषितपस्तोत लिपि,
६१ धरणि प्रेक्षण लिपि,
६२ सर्वौसव-निष्यन्द लिपि,
६३ सर्वसार सग्रहणि लिपि, तथा
६४ सर्वभुतरुद्ग्रहणि लिपि।

/ ऊपरकी सूचियो मे भारतीय और अभारतीय लिपियो के, जो सूचियो के सग्रह-काल मे भारतीयो को विदित थी, या जिनकी वे कल्पना कर सकते थे, नाम सम्मिलित हैं। इस सम्पूर्ण समुदाय मे से अस्ति-प्रमाण के आधार पर केवल दो लिपियो की पहचान हो सकती है। ये दो ब्राह्मी और खरोष्ठी हैं। इस सम्बन्ध मे चीनी विश्वकोष फा-वान-सु-लिन (रचनाकाल ६१८ ई०) हमारी सहायता करता है।

इसके अनुसार लेखन का आविष्कार तीन दैवी शक्तियो द्वारा हुआ। इनमे से प्रथम फान (ब्रह्मा) था जिसने बाये से दाये को लिखी जाने वाली ब्राह्मी लिपि का आविष्कार किया, दूसरी दैवी शक्ति क्या-लु (खरोष्ठ) था जिसने दायें से बाये को चलने वाली खरोष्ठी लिपि का आविष्कार किया और तीसरी सबसे कम महत्त्व का त्सम्-कि था जिसके द्वारा आविष्कृत लिपि ऊपर से नीचे को चलती है। विश्वकोष से पुन विदित होता है कि पहली दो दैवी शक्तियो का जन्म भारत मे तथा तीसरी का चीन मे हुआ था। प्रथम दो प्रकार के लेखन के उदाहरण अशोक के अभिलेखो मे समान काल मे उपलब्ध है। मानसेरा और शाहबाजगढी से प्राप्त होने वाले उसके दो अभिलेख, जो दाये से बायें को लिखे गये है, निश्चित ही खरोष्ठी लिपि मे है।[1] अशोक के शेष अभिलेख बाये से दाये को लिखे जाने वाले ब्राह्मी मे है जो देश की सर्वप्रचलित लिपि थी।[2] भारत मे अपने व्यापक प्रचलन के कारण ब्राह्मी और खरोष्ठी को सूचियो मे विशिष्ट स्थान दिया गया है।

४. लिपियो का वर्गीकरण

सूक्ष्म निरीक्षण से अधिकाश लिपियो को निम्नलिखित वर्गों मे विभाजित किया जा सकता है, यद्यपि उनमे से कुछ का ज्ञान और पहचान अब भी नही हो सकी है

(१) भारत की सर्वप्रचलित लिपि ब्राह्मी। यह अक्षर सम्बन्धी लेखन-प्रणाली थी।

(२) भारत के उत्तर-पश्चिम मे सीमित लिपि खरोष्ठी। इसमे ब्राह्मी के वर्णो का ही प्रयोग होता था किन्तु उनका रूप भिन्न था।

(३) भारत मे ज्ञात विदेशी लिपियाँ—

१. यवनालि (यवनानि) = ग्रीक। व्यापार के माध्यम से भारतीय इससे परिचित थे। इण्डो-बैक्ट्रियन और कुषाण सिक्को पर के विरुदो मे भी इसका प्रयोग होता था।
२ दरदलिपि (दरद लोगो की लिपि),
३ खस्य लिपि (खसो-यानेशको की लिपि),

---

१ हुल्श, इन्स्क्रिप्शनम् इण्डिकेरम्, खण्ड १।
२ वही।

४ चीनी लिपि (चीन देश की लिपि),
५ हूण लिपि (हूणो की लिपि),
६ असुर लिपि (पश्चिमी एशिया के आर्यों के बन्धु असुरो की लिपि),
७ उत्तर कुरुद्वीप लिपि (हिमालय के परे उत्तर कुरु लोगो की लिपि),
८ सागर लिपि (सागर सम्बन्धी लिपियाँ) ।

(४) भारत की प्रान्तीय लिपियाँ—भारतवर्ष की आधुनिक प्रान्तीय भाषाओ के समान ब्राह्मी के साथ-साथ, इसी के विभिन्न रूप या इससे निकली हुई या ब्राह्मी के पूर्व रूप या किसी स्वतन्त्र लिपि से निकली हुई अन्य प्रान्तीय लिपियाँ निश्चित ही प्रचलित रही होगी। ब्राह्मी के प्रकारो के अतिरिक्त अन्य सभी समय के प्रवाह मे नष्ट हो गयी। फिर भी निम्नाकित नामो मे उनमे से कुछ शेष है ·

(अ) पुखरसारिय (पुष्कर सारिय) बहुत सम्भव है यह लिपि पश्चिमी गन्धार जिसकी राजधानी पुष्करावती थी, मे प्रचलित थी।
(आ) पहारैय (उत्तरी पर्वतीय प्रदेशो की लिपि),
(इ) अग लिपि (अग—उत्तरी-पूर्वी विहार की लिपि),
(ई) वग लिपि (वगाल मे प्रचलित लिपि),
(उ) मगध लिपि (मगध मे प्रचलित लिपि),
(ऊ) द्रविड लिपि (दामिलि) (द्रविड प्रदेश की लिपि),
(ए) कनारि लिपि (कन्नाडी लिपि),
(ऐ) दक्षिण लिपि (दक्षिण की लिपि),
(ओ) अपर-गौडी-लिपि (पश्चिमी गौड की लिपि) तथा,
(औ) पूर्व विदेह लिपि (पूर्वी विदेह की लिपि)।

(५) जातीय लिपियाँ—
(अ) गन्धर्व लिपि (हिमालय की गन्धर्व जाति की लिपि),
(आ) पोलिन्दि (विन्ध्याचलीय पुलिन्द जाति की लिपि)
(इ) उग्रलिपि (उग्रजाति की लिपि)
(ई) नागलिपि (नाग जाति की लिपि)
(उ) यक्ष-लिपि (हिमालय प्रदेशीय यक्ष जाति की लिपि)
(ऊ) किन्नर-लिपि (हिमालय प्रदेशीय किन्नरो की लिपि)
(ए) गरुड-लिपि (गरुडो की लिपि)।

(६) साम्प्रदायिक लिपियाँ—
(अ) महेसरी (माहेस्सरि = महेश्वरी, शैव लोगो मे प्रचलित लिपि)

(आ) भौमदेव लिपि (भूमि पर के देवताओ-ब्राह्मणो की लिपि)

(७) चित्रात्मक लिपियाँ या चित्र लिपियाँ—

(अ) मङ्गल्य लिपि (एक मागलिक लिपि)

(आ) मनुष्य लिपि (मानवाकृतियो का प्रदर्शन करने वाली लिपि)

(इ) अङ्गुलीय लिपि (अगुलियो की समानता करने वाली लिपि)

(ई) ऊर्ध्वधनुर्लिपि (सहित धनुष की समानता वाली लिपि)

(उ) पुष्पलिपि [फूलदार (सजावटी ?) लिपि]

(ऊ) मृगचक्रलिपि (पशुओं के वृत्त बनाने वाली लिपि)

(ए) चक्रलिपि (वृत्ताकार लिपि)

(ऐ) वज्रलिपि (वज्र के रूप वाली लिपि)

(८) साकेतिक लिपियाँ—

(अ) आकलिपि (या सख्या लिपि) (वर्गों के स्थान पर अको का प्रयोग करने वाली लिपि)

(आ) गणित लिपि—(गणित सम्बन्धी कोई विशिष्ट लिपि)

(९) उत्कीर्ण अथवा छिन्न लिपि—

(अ) आदश या आयसलिपि—(लौह उपकरण से खोदी, काटी या छेदी गयी लिपि)

(१०) शैली-लिपियाँ—

(अ) उत्क्षेप लिपि (ऊपर की ओर फेकान वाली लिपि),

(आ) निक्षेप लिपि (नीचे की ओर फेकान वाली लिपि),

(इ) विक्षेप लिपि (चारो ओर फेकान वाली लिपि),

(ई) प्रक्षेप लिपि (एक विशेष ओर प्रकृष्ट लिपि)

(उ) मध्यक्षर-विस्तार-लिपि (ऐसी लिपि जिसके अक्षरो का मध्य भाग सौन्दर्य की दृष्टि से विस्तृत कर दिया गया है)

(११) *यौगान्तरिक लिपियाँ*—

(१) विमिश्रित लिपि (रूप, सयोग और वर्णों का मिश्रण रूप लिपि)

(१२) शार्टहैण्ड या अनुलेखन—

(१) अनुद्रुत लिपि (द्रुत या शार्टहैण्ड लेखन)

(१३) पुस्तको की विशिष्ट शैली—

(१) शास्त्रावर्त (विशिष्ट ग्रन्थो के लेखन मे प्रयुक्त होने वाली औद्दीगक लिपि)

(१४) गणना की विशिष्ट लिपि—
 (१) गणावर्त (गणित सम्बन्धी कोई विशिष्ट लिपि)
(१५) काल्पनिक या अतिकृत लिपि—
 (अ) देवलिपि (देवताओ की लिपि)
 (आ) महोरग लिपि (सर्पो की लिपि)
 (इ) वायुमरुलिपि (मरुद्गणो की लिपि)
 (ई) अन्तरिक्षदेव लिपि (आकाश के देवताओ की लिपि)

पारलौकिक या काल्पनिक लिपियो को छोड कर लिपियो की शेष शैलियो अथवा प्रकारो के प्रतिनिधि, प्रान्तीय वर्णो तथा दूसरी रूपात्मक एव आलकारिक लेखन-शैलियो के रूप मे, भारतवर्ष तथा पडोस के दूसरे देशो मे विद्यमान है।

हडप्पा और मोहेनजोदरो के पुरातात्त्विक उत्खनन से ४००० ई० पू० मे भारत मे प्रचलित एक लेखन-प्रणाली प्रकाश मे आयी है। ठोस प्रमाणो के आधार पर भारत मे प्रचलित रहने वाली यह प्राचीनतम लेखन-प्रणाली है। यह प्रारम्भिक लेखन-युग और ध्वन्यात्मक-लेखन-युग के संक्रान्ति काल की विमिश्रित लिपि है। इसमे रूप (पिक्टोग्रैफ), भावचित्र (आइडियोग्रैफ) और सयोग (सिल्लेबस) (उपरि-निर्दिष्ट सूची मे दिये गये विभिन्न नामो के सदृश) सम्मिलित है।

अध्याय तीसरा

भारतीय लिपियों की उत्पत्ति

भारतीय और चीनी दोनो ही अनुश्रुतियाँ इस विषय मे एकमत है कि भारत-वर्ष की दो प्रमुख लिपियो—ब्राह्मी और खरोष्ठी—का आविष्कार भारतवर्ष मे हुआ। किन्तु सिन्धुघाटी की लिपि के प्रकाश मे आने के पूर्व भारत मे ई० पू० चतुर्थ सहस्राब्दी और पचम शताब्दी (ई० पू०) के मध्यवर्ती काल के किसी अभि-लेख के उपलब्ध न होने तथा पश्चिमी एशिया मे लेखन के प्रत्यक्ष प्रमाण मिलने से अनेक विद्वानो ने लेखन के 'एक मूल' मे विश्वास करते हुए भारतीय लिपियो की उत्पत्ति पश्चिमी एशिया के किसी देश या यूनान से मानी थी। कतिपय विद्वानो की धारणा थी और कुछ की अब भी है कि कम से कम ब्राह्मी लिपि की उत्पत्ति स्वदेश मे ही हुई। खरोष्ठी के विषय मे यह धारणा सर्वमान्य सी है कि उसकी उत्पत्ति भारतेतर देश मे हुई और पश्चिमी एशिया से भारत मे उसका प्रवेश हुआ। सिन्धुघाटी की लिपि की उत्पत्ति के सम्बन्ध मे विद्वानो मे मतभेद है और इस सम्बन्ध मे अनेक मतो का प्रतिपादन किया गया है। इस अध्याय मे लेखन की इन तीनो पद्धतियो की उत्पत्ति का पृथक्-पृथक् विवेचन किया जायगा।

अ सिन्धुघाटी की लिपि की उत्पत्ति

सिन्धुघाटी मे हरप्पा और मोहेनजोदरो से प्राप्त होने वाली लिपि भारतवर्ष की प्राचीनतम ज्ञात लिपि है।[१] दुर्भाग्यवश अब तक सतोषजनक रीति से इसे पढा नही जा सका। इससे सिन्धुघाटी की लिपि की समस्या और भी दुस्साध्य बन गयी है। वे विद्वान् जो सिन्धुघाटी की सभ्यता को द्रविड सभ्यता मानते हैं सिन्धुघाटी की लिपि को भी द्रविडमूल वाली बताते है। किन्तु इस विचार को स्वीकार करने मे प्रमुख आपत्ति यह है कि सिन्धुघाटी की लिपि के परवर्ती लेखन के उदाहरण उत्तर भारत मे प्राप्त हुए है दक्षिण भारत मे नही, जहाँ अधिकाश द्रविड जाति निवास करती है। सिन्धुघाटी की लिपि तथा सुमेर और एलाम की लिपियो के साम्य के आधार

---

१ सर जॉन मार्शल मोहेनजोदडो एण्ड दि इण्डस सिविलीजेशन, खण्ड १ तथा २, देखिये फलक स० १।

पर अनेक विद्वानो की यह धारणा है कि सिन्धुघाटी की लिपि पश्चिमी एशिया से भारत मे लायी गयी थी। दुर्भाग्य से सिन्धुघाटी की लिपि की भाषा अब भी एक पहेली है और निश्चयपूर्वक यह निर्णय नही किया जा सकता कि इनमे से कौन अनुकरण करने वाला था।

१ द्रविड़ उत्पत्ति का सिद्धान्त

कुछ विद्वान् जिनका विश्वास है कि सिन्धुघाटी की सभ्यता आर्यो के पहले की एव आर्येतर लोगो की थी, इस धारणा के है कि प्रागैतिहासिक सिन्धुघाटी के लोग, भाषा और लिपि द्रविड थे। एच०हेरास एस०आई० [1] इस मत के प्रबल पोषक हैं। यद्यपि सर जॉन मार्शल एव उनके सहकारियो की भी न्यूनाधिक रूप मे वैसी ही धारणा है। हेरास मोहेनजोदरो के लेखो को बायी ओर से पढते है तथा तामिल भाषा मे उन्हे रूपान्तरित (ट्रान्सलिटरेट) कर देते है।[2] इस मत को स्वीकार करने मे हमारे सामने सबसे बडी कठिनाई यह है कि चतुर्थ सहस्राब्दी ई० पू० मे बोली या लिखी जाने वाली तामिल भाषा का हमे किंचित् भी ज्ञान नही है। अत हेरास द्वारा प्रस्तावित पाठ को प्रामाणिक नही माना जा सकता। आधुनिक तामिल भाषा का सिन्धुघाटी की विचाराधीन भाषा से समानता ठहराना उचित नही हैं। जहाँ तक सिन्धुघाटी की लिपि मे प्रयुक्त कथाओ का सम्बन्ध है ये किसी भी भाषा मे गढी जा सकती हैं क्योकि लिपि अशत चित्रात्मक है।

२ सुमेरी वा मिस्री उत्पत्ति का सिद्धान्त

एल० ए० वैडेल ने अपनी पुस्तक "दि इण्डो-सुमेरियन सील्स डिसाइफर्ड"[3] मे यह धारणा व्यक्त की है कि चतुर्थ सहस्राब्दी ई० पू० मे सुमेर के लोग सिन्धुघाटी मे आकर बस गये और उन्ही ने अपनी भाषा और लिपि का वहाँ प्रसार किया। इस पुस्तक मे उन्होने भारतीय आर्यों के सौमेर मूल को सिद्ध करने का प्रयास किया हैं। मुद्राओ पर उन्होने भारतीय आर्यों के प्राचीन साहित्य मे निर्दिष्ट राजाओ और राजधानियो के नामो को भी पढा है। वेडेल का यह विचार था कि सिन्धुघाटी की लिपि सुमेर की लिपि से निकली है।

---

१ मोहेनजोदरो, दि पीपुल एण्ड दि लैण्ड, इण्डियन कल्चर, खड ३, १९३७ प्रोटो इण्डियन स्क्रिप्ट एण्ड सिविलीज़ेशन।

२ मोहेनजोदरो एण्ड दि इण्डस सिविलीज़ेशन, खण्ड १, २।

३ लन्दन, लुजाक एण्ड क० ४६ ग्रेट रसेल स्ट्रीट, डब्ल्यू० सी०, १९२५।

भारतीय विद्वानो मे डा० प्राणनाथ[1] वैडेल के मत का समर्थन करते है और सिन्धुघाटी की लिपि के मूल का अनुसधान सुमेर मे करते हैं। इसमे सदेह नही कि भारत, पश्चिमी एशिया, मिस्र तथा क्रीट की प्राचीनतम लिपियो मे उनकी चित्रात्मकता तथा सामुद्रिक व्यापार द्वारा उन देशो मे पारस्परिक सम्वन्ध के कारण, कुछ समानता है, किन्तु हमारे ज्ञान की वर्तमान अवस्था मे इस बात का निर्णय कौन कर सकता है कि इन देशो मे किसने लेखन-कला का आविष्कार किया और किसने अनुकरण किया। मेसोपोटामिया की ऐतिहासिक अनुश्रुतियो के अनुसार सौमेर सभ्यता के जन्मदाता बाहर से आये थे तथा अपने साथ वे कृषि, धातुकर्म एव लेखन-कला को लाये थे। सुमेर मे लेखन-कला के प्रसार के लिए उत्तरदायी देवताओ और महापुरुषो के नाम सेमेटिक की अपेक्षा भारतीय है। ऐसी परिस्थिति मे वैडेल का मत काल्पनिक प्रतीत होता है, अतएव वह किसी भी प्रकार मान्य नही हो सकता।[2]

३. स्वदेशी उत्पत्ति का सिद्धान्त

कुछ लोगो का ऐसा विश्वास है कि सिन्धुघाटी के लोग या तो आर्य थे या असुर, जो जाति और सस्कृति की दृष्टि से आर्यों से सम्बन्धित थे किन्तु बाद मे मेसोपोटामिया और पश्चिमी एशिया की ओर चले गये। उनके मतानुसार सिन्धुघाटी की लिपि का प्रादुर्भाव इसी देश मे हुआ था। पूर्व-एलाम-सुमेर तथा मिस्र की लिपियो से इनकी समानता यह नही सिद्ध करती कि सिन्धुघाटी की लिपि इनमे से किसी एक से निकली है। सिन्धुघाटी की लिपि ही सम्भवत मौलिक थी जो असुरो और पणियो के द्वारा दूसरे देशो मे फैली।[3]

इस सम्बन्ध मे जी० आर० हन्टर के मत का निर्देश उपयोगी होगा, "अनेक चिह्नों मे प्राचीन मिस्र की लिपि से विशिष्ट समानता है। मानव-शरीरात्मक चिह्नो के समस्त समुदाय के अनुरूप चिह्न (समूह) मिस्र की लिपि मे भी उपलव्व है जो वस्तुत वैसे ही हैं।

---

१ दि स्क्रिप्ट ऑन दि इण्डस वैली सील्स, इ० हि० क्वा० १९३१, सुमेरो-इजिप्शियन ओरिजिन ऑफ दि आर्यन्स एण्ड दि ऋग्वेद, जर्नल ऑफ दि वनारस हिन्दू यूनीवर्सिटी खण्ड १ अ० २, १९३७।

२ वूली, सी० एल० दि सुमेरियन्स, पृ० १८९।

३ के० एन० दीक्षित प्रीहिस्टॉरिक सिविलीजेशन ऑफ दि इण्डस वैली, पृ० ४६।

"इस सम्बन्ध मे यह स्मरणीय है कि इन मानवाकृति चिह्नो मे से एक का भी प्राचीन समानान्तर सुमेर या पूर्व-एलाम (प्रोटो-एलमाइट) की लिपियो मे नहीं है। इसके विपरीत हमारे अनेक चिह्नो के ठीक समानरूप पूर्व-एलम और जेम्देत-नस्र की तावीजो मे उपलब्ध होते हैं। ये ऐसे है कि जिनके जीवरूपात्मक (मोरफोग्राफिक) प्रतिरूप मिस्र की लिपि मे नही है। कोई भी विवश होकर इसी निष्कर्ष पर पहुँचेगा कि हमारी लिपि अशत मिस्र और अशत मेसोपोटामिया से ली गयी है। यह सत्य है कि इन चिह्नो का अधिक अश समानरूप से तीनो लिपियो मे पाया जाता है, जैसे वृक्ष, मछली, चिडिया इत्यादि के लिए प्रयुक्त चिह्न। किन्तु यह आकस्मिक समता-मात्र है और वास्तव मे चित्रलिपि की अवस्था मे अपरिहार्य है। कारणपरक सम्बन्ध का केवल उस समय निराकरण होता है जब अपेक्षाकृत अधिक रूढ और कम स्पष्ट विचार-चित्रो मे (आइडियोग्राम—किसी आशय या कल्पना के लिए विशेष सकेत), विशेषत उन विचार-चित्रो मे, जो इतने रूढ हो गये हो कि उनके चित्रात्मक (पिक्टोग्राफिक) मूल का पता ही न चले, विशिष्ट सम्बन्ध लक्षित हो तथा अशत जहाँ आसानी से पहचाने जाने योग्य चित्र इसी प्रकार की विविधता प्रकट करते है, वहाँ दूसरा प्रकार हमारी लिपि तथा पूर्व-एलेमाइट लिपि के बीच बहुत ही स्पष्ट रूप से लक्षित है। तुलनात्मक फलको से यह बात स्पष्ट हो जायगी। निश्चय ही यह सम्भव है कि तीनो का मूल एक ही रहा हो और हमारी लिपि मे केवल मिस्र तत्त्व लियेगये। यह भी सम्भव है कि चारो लिपियो का समान मूल हो। किन्तु यह एक गवेषणा का विषय है जिससे यहाँ हमारा सम्बन्ध नहीं है। मानवशास्त्रीय (एन्थ्रोपोलॉजिकल) प्रमाणो के विना रूप लिपि की अवस्था मे इस मत का समाधान बडा कठिन है कि प्रागैतिहासिक काल मे नील, फरात तथा सिन्धु की घाटी के निवासियो मे जातीय समानता थी या नही।"[१]

सिन्धुघाटी की लिपि के मूल पर विचार करते हुए डेविड डिरिञ्जर लिखते हैं "इस सम्बन्ध मे दो अन्य समस्याओ का निर्देश भी आवश्यक है, लिपि का मूल (जन्म) तथा अन्य लिपियो के आविष्कार पर इसका प्रभाव। यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि सिन्धुघाटी की लिपि जो प्राप्त लेखो मे अपेक्षाकृत अधिक योजनाबद्ध और पक्तिबद्ध है, प्रारम्भ मे चित्र-लिपि-परक थी, किन्तु यह निर्णय करना असम्भव है कि वास्तव मे यह स्वदेशी थी या विदेशी। कीलाक्षर (क्यूनीफॉर्म) लेखन एव प्राचीन एलाम

---

१ दि स्क्रिप्ट ऑफ हरप्पा एण्ड मोहेनजोदरो एण्ड इट्स् कनेक्शन विद अदर स्क्रिप्ट्स, पृ० ४५-४७।

के पूर्व रूप मे इस लिपि का सम्बन्ध सम्भव है। किन्तु यह निश्चय करना सम्भव नही है कि उस सम्बन्ध का क्या स्वरूप था। कुछ समाधान जो निर्णायक नही समझे जा सकते, प्रस्तुत किये जाते है —

(१) सम्भवत सिन्धुघाटी की लिपि एक प्राचीन लिपि से निकली है जो अभी ज्ञात नही है तथा जो कीलाक्षर (क्यूनीफॉर्म) एव प्राचीन एलाम लिपि का भी उद्गम रही होगी।

(२) तीनो स्थानीय सृष्टि हो सकती है। कीलाक्षर (क्यूनीफॉर्म) या प्राचीन एलाम लिपि का पूर्व रूप सम्भवत एक मौलिक आविष्कार था तथा अन्य दोनो लेखनो के अस्तित्व के ज्ञान से प्रेरित उपज।"[1]

अपने ज्ञान की वर्तमान अवस्था मे किसी मत विशेष पर विश्वास कर लेना निरापद नही, हम केवल सम्भावनाओं की बात कर सकते है। इसमे किंचित् सदेह नही कि प्रागैतिहासिक काल मे अरब और भूमध्य सागर के तटवर्ती देशों मे पारस्परिक सम्बन्ध था तथा उन्होने एक दूसरे को प्रभावित भी किया होगा। जहाँ तक एक के द्वारा दूसरे का अनुकरण करने की बात है, निम्नलिखित ऐतिहासिक परम्पराएँ हमारी सहायता करेंगी —

(१) प्राचीन मिस्र की सभ्यता को जन्म देने वाले लोग पश्चिमी एशिया से मिस्र गये थे।[2]

(२) ग्रीक लेखको के अनुसार प्राचीनकाल के महान् सामुद्रिक तथा सस्कृति प्रसारक फोनिसियन लोग पश्चिमी एशिया के विशाल बन्दरगाह टायर के उपनिवेशी थे।[3]

(३) स्वय सुमेरी लोग समुद्रमार्ग से आये।[4]

(४) पुराणो और महाकाव्यो (रामायण और महाभारत) मे सुरक्षित ऐतिहासिक परम्पराओ के अनुसार आर्य जन दक्षिणी-पश्चिमी भारत से उत्तर तथा पश्चिम की ओर गये।[5]

---

१ दि अल्फावेट, पृ० ८५।

२ मैस्प्योर दि डान ऑफ सिविलीजेशन एजिप्ट एण्ड चाल्डिया, पृ० ४५, पासिंग ऑफ दि इम्पायर, ८, स्मिथ एन्शियेन्ट एजिप्शियन्स्, पृ० २४।

३ हेरोडोटस्, पृ० ११, १४।

४ वूली, सी० एल० दि सुमेरियन्स, पृ० १८९।

५ एफ० ई० पार्जिटर एन्शियेन्ट इडियन हिस्टॉरिकल ट्रेडिशन्स, पृ० २५।

इन परिस्थितयो मे यह असम्भव नही कि आर्यो ने या उनके बन्धु असुरो ने सिन्धुघाटी की लिपि का आविष्कार किया तथा वे उसे पश्चिमी एशिया तथा मिस्र ले गये और इस प्रकार विश्व के उन भागो मे लिपि के विकास को प्रेरित किया।

आ ब्राह्मी लिपि की उत्पत्ति

जैसा कि इसके नाम से प्रतीत होता है, ब्राह्मी लिपि[१] का आविष्कार भारतीय आर्यो द्वारा या वेद की सुरक्षा के लिए हुआ था। मुख्यत ब्राह्मण इसका प्रयोग करते थे जिनका काम था प्रतिलिपि करके और अध्यापन द्वारा वैदिक साहित्य को स्थायी बनाना तथा अगली पीढी को हस्तान्तरित कर देना।[२] बाद की शताब्दियो के जैन और बौद्ध लेखको ने इस सत्य को स्वीकार किया। वैदिक साहित्य और ब्राह्मणो के कटु आलोचक होने के कारण उन्हें पक्षपात का दोषी नही ठहराया जा सकता। आधुनिक लेखक भी, जो किसी सेमेटिक स्रोत मे ब्राह्मी लिपि का उद्गम बताते हैं, इस बात को स्वीकार करते हैं कि प्राचीन भारतीय ब्राह्मणो ने इस लिपि को पश्चिमी एशिया से व्यापार के माध्यम से स्वीकार किया तथा ऐसी पूर्णता प्रदान की कि इसको पहचाना भी नही जा सकता। इस सम्बन्ध मे यह प्रस्तावित किया जा सकता है कि भारत मे लेखन के आविष्कार की मौलिक प्रेरणा सुमेर और बेबीलोन की भाँति व्यापारिक नही, अपितु धार्मिक थी और यह नितान्त असम्भव है कि आर्य सस्कृति की क्रीडा-भूमि उत्तरी भारत के ब्राह्मणो ने अपनी पवित्र ब्राह्मी लिपि के सूत्र को सिन्धु और सुराष्ट्र के बन्दरगाहो मे ग्रहण किया हो। ब्राह्मी लिपि के मूल की समस्या के समाधान के मार्ग मे आधुनिक विद्वानो के सामने सबसे बडी कठिनाई ई० पू० की पाँचवी शताब्दी से पहले के ब्राह्मी लेख का अभाव है, फलत ब्राह्मी लिपि के मूल के लिए अनेक मतो की स्थापना की गयी है। मुख्यत इन मतो को दो भागो मे विभाजित किया जा सकता है। प्रथम वे मत जो ब्राह्मी लिपि के मूल को स्वदेशी मानते हैं तथा दूसरे वे जो ब्राह्मी का मूल विदेशी स्रोत मे खोजते है। अधोलिखित पक्तियो

---

१ देखिये, फलक २।

२ अध्यापन मे मौखिक उच्चारण का विशेष महत्त्व था। इससे अनेक विद्वानो को यह भ्रान्ति हो गयी है कि शिक्षण के समय लिखित पाठो का अस्तित्व नही था। ये विद्वान् भूल जाते है कि आज भी जब कि उच्चकोटि के मुद्रण का आविष्कार हो गया है, कट्टर हिन्दू मौखिक शिक्षा पर ही जोर देते है तथा उनके अनुसार एक योग्य शिक्षक को अध्यापन के समय पुस्तक का आश्रय नही लेना चाहिये।

मे सक्षेप मे इन मतो को उपस्थित करने तथा उनके विवेचन करने का प्रयास किया गया है।

१ स्वदेशी उत्पत्ति के पोषक सिद्धान्त

(१) **द्रविड़ मूल:** एडवर्ड टामस[1] तथा उनके मत के अन्य विद्वानों की ऐसी मान्यता थी कि ब्राह्मी वर्णो के आविष्कार का श्रेय द्रविड लोगो को है जिनका अनुकरण आर्यों ने किया। इस मत का आधार यह अनुमान मालूम पडता है कि आर्यो के तथाकथित भारतीय आक्रमण के पूर्व द्रविडो का सम्पूर्ण भूमि पर अधिकार था और सास्कृतिक दृष्टि से अधिक उन्नत होने के कारण उन्होने लेखन-कला का आविष्कार किया। यह कल्पना मूलत असत्य है, क्योंकि द्रविड लोगो की मूलभूमि दक्षिण मे थी तथा आर्यों का मूल अभिजन उत्तरी भारत था।

इस सिद्धान्त के विरुद्ध यह तर्क उपस्थित किया जा सकता है कि लेखन के प्राचीनतम उदाहरण आर्यों के मूल देश उत्तरी भारत मे पाये गये हैं, द्रविडो की निवास-भूमि दक्षिण मे नही। इसके अतिरिक्त द्रविड भाषाओ की विशुद्धतम वर्तमान प्रतिनिधि तमिल मे वर्ग के केवल प्रथम और पचम वर्ण पाये जाते है जब कि ब्राह्मी मे वर्ग के पाँचो वर्ण हैं। ध्वनि की दृष्टि से तमिल के अल्पसख्यक वर्ण सम्पन्न ब्राह्मी वर्णों से गृहीत प्रतीत होते है।

(२) **आर्य या वैदिक मूल:** जनरल कनिंघम[2], डाउसन[3], लेसेन[4] प्रभृति विद्वानो की मान्यता थी कि आर्य पुरोहितो ने देश्य भारतीय चित्रलिपि से ही ब्राह्मी अक्षरो का विकास किया। बूलर[5] निम्नलिखित शब्दो मे कनिंघम की आलोचना करते हैं, "कनिंघम का विचार, जिसका समर्थन पहले कुछ विद्वानो ने किया था, भारतीय चित्रलिपि की पूर्व-कल्पना करता है, किन्तु इसका अभी तक कुछ भी पता नही लगा है।" सिन्धुघाटी की लिपि[6] के प्रकाश मे आने से, जो चित्रात्मक है, बूलर

---

१ न्यू० क्रा०, १८८३, स० ३।

२ क्वाइन्स ऑफ ऐंश्येिण्ट इण्डिया, खण्ड १, पृ० ५२।

३ जे० आर० ए० एस०, १८८१, पृ० १०२, इण्डियन एण्टिक्वेरी, खण्ड ३५, २५३।

४ इडिशे अल्टर्थमस्कुडे, द्वितीय सस्करण, १, पृ० १००६ (१८६७)।

५ इण्डियन पेलियोग्रैफी, पृ० ९।

६ मार्शल मोहेनजोदरो ऐण्ड इण्डस वैली सिविलीज़ेशन, खण्ड २।

द्वारा प्रस्तुत आपत्ति को नितान्त निर्बल बना दिया है।[1] जब तक सिन्धुघाटी की लिपि का ध्वनिशास्त्रीय मूल्यांकन नही होता तब तक ब्राह्मी अक्षरो पर इसके प्रभाव के विषय मे कुछ भी नही कहा जा सकता। किन्तु यह सम्भव है कि सिन्धु-घाटी की लिपि के कुछ चिह्न ब्राह्मी के कुछ वर्णो से निकले हो।[2]

र० शामशास्त्री[3] द्वारा प्रतिपादित मत के अनुसार ब्राह्मी वर्ण देवो को व्यक्त करने वाले चिह्नो और प्रतीको से, जिनकी सज्ञा देवनगर थी, निकले हैं। इस सिद्धान्त की सबसे बडी निर्बलता इस बात मे है कि शामशास्त्री द्वारा उपस्थित किये गये सभी प्रमाण परवर्ती तान्त्रिक ग्रन्थो के हैं। तथापि पूर्ण रूप से इस मत को अमान्य नही ठहराया जा सकता और यह ब्राह्मी वर्णों के चित्रलिपिपरक मूल के अति समीप है। लिपि का 'ब्राह्मी' नाम भी कुछ अशो मे इस मत की पुष्टि करता है।

डॉ० डेविड डिरिंजर[4] ने ब्राह्मी लिपि के स्वदेशी मूल के समर्थको को निम्नलिखित तथ्यो के विषय मे चेतावनी दी है —

(१) किसी देश मे दो आकस्मिक लिपियो का अस्तित्व यह नही सिद्ध करता कि दूसरी पहली पर आधारित है, उदाहरण के लिए, क्रीट मे प्रयुक्त होने वाले प्राचीन ग्रीक वर्ण प्राचीन क्रीटन या मिनोअन लिपि से नही निकले हैं।

(२) यदि सिन्धुघाटी के चिह्नो तथा ब्राह्मी वर्णो मे आकार-साम्य सिद्ध भी हो जाय तो भी ब्राह्मी लिपि के सिन्धुघाटी की लिपि से निकलने का उस समय तक कोई प्रमाण नही है जब तक यह न सिद्ध हो जाय कि दोनो लिपियो के समान चिह्नों द्वारा व्यक्त ध्वनि भी समान है।

(३) सिन्धुघाटी की लिपि सम्भवत साकातिक पद्धति या मिश्रित अक्षर-भावपरक (मिनेमिक-आइडिओग्राफिक) लिपि थी जब कि ब्राह्मी अर्धाक्षरी थी। जहाँ तक हमे ज्ञात है, कोई भी अक्षर-भावपरक लिपि किसी वर्णात्मक लिपि के प्रभाव के बिना स्वय वर्णा-त्मक नही बनी है। कभी किसी गम्भीर विद्वान् ने यह प्रदर्शित

---

१ इण्डियन पेलियोग्रैफी, पृ० ९।
२ मार्शल मोहनजोदरो ऐण्ड इण्डस वैली सिविलीजेशन, खण्ड २।
३ इ० ए०, खण्ड ३५, पृ० २५३-६७, २७०-९०, ३११-२४।
४ दि अल्फाबेट, पृ० ३२८-३३४।

करने का प्रयास नही किया है कि सिन्धुघाटी की भावपरक लिपि ब्राह्मी की अर्धवर्णात्मक लिखावट मे कैसे विकसित हो सकी ।

(४) बृहत् वैदिक वाड्मय मे प्राचीन आर्यावर्त मे लिखावट के अस्तित्व का कोई निर्देश नही है इसका कही भी प्रसग नही आता। प्राचीन भारतीय देवताओ मे 'लिपि' का कोई देवता नही था यद्यपि ज्ञान, विद्या और वाक् की देवी सरस्वती अवश्य थी।

(५) केवल बौद्ध साहित्य प्राचीन समय मे लिखावट का स्पष्ट निर्देश करता है।

(६) केवल अभिलेखो के आधार पर यह माना जाता है कि छठी शती ई० पू० मे ब्राह्मी लिपि विद्यमान थी।

(७) विषय के महान् पण्डितो के अनुसार ८००-६०० ई० पू० का काल भारत मे व्यापारिक जीवन मे विशिष्ट उन्नति प्रदर्शित करता है। . इसी काल मे भारत के दक्षिण-पश्चिमी तट से बेबीलोन के साथ नौ-व्यापार का विकास हुआ है। प्राय यह तर्क प्रस्तुत किया जाता है कि व्यापारिक विकास ने लेखन के ज्ञान के प्रसार मे सहायता की।

(८) भारत के प्राचीन आर्य इतिहास के विषय मे अत्यल्प ज्ञान प्राप्त है। श्री तिलक वैदिक साहित्य की प्राचीनतम ऋचाओ का समय लगभग ७००० ई० पू० ठहराते हैं तथा श्री शकर बालकृष्ण दीक्षित, कुछ ब्राह्मणो को ३८०० ई० पू० का बताते है, इस प्रकार के निराधार काल्पनिक मतो को गम्भीरतापूर्वक स्वीकार नही किया जा सकता। भारत मे आर्यो का प्रवेश अब ईसापूर्व की दूसरी सहस्राब्दी के उत्तरार्ध मे ठहराया जाता है तथा वही काल सम्पूर्ण वैदिक साहित्य की रचना का काल माना जाता है जो ईसा पूर्व प्रथम सहस्राब्दी के प्रारम्भिक भाग तक जारी रहता है।

ईसापूर्व छठी शताब्दी मे उत्तरी भारत मे एक विशेष धार्मिक क्रान्ति हुई, जिसने भारतीय इतिहास की गतिविधि को काफी प्रभावित किया। इसमे सदेह नही कि जहाँ लिपि के ज्ञान ने जैन और बौद्ध धर्मो के प्रसार मे सहायता की वहाँ इन दोनो धर्मो ने विशेषकर बौद्धधर्म ने लिपि के ज्ञान के प्रसार मे भी महान् योग दिया।

(१०) सक्षेपत , प्रमाण के विभिन्न सूत्र आर्य भारत मे लिपि के प्रवेश के लिए ई० पू० आठवी और छठी शताब्दियो के बीच का काल सूचित करते हैं।

डॉ० डेविड डिरिंजर के तर्कों के सम्यक् परीक्षण की आवश्यकता है। इनमे से प्रथम दो नितान्त असगत है। किसी देश मे दो आकस्मिक लिपियो की विद्यमानता तब तक परवर्ती लिपि के पूर्ववर्ती लिपि से निकलने की पुष्टि करेगी जब तक इसके विरुद्ध सिद्ध न कर दिया जाय। जहाँ तक तृतीय युक्ति का सम्बन्ध है, अभी यह सिद्ध करना शेप है कि सिन्धुघाटी की लिपि मे ध्वनि-तत्त्व का अभाव है। चतुर्थ धारणा पूर्णतया मिथ्या है तथा वैदिक साहित्य के अपूर्ण ज्ञान पर आधारित है। यह कथन कि "वैदिक देवमण्डल मे लिपि का देवता नही है किन्तु ज्ञान, विद्या तथा वाक् की देवी सरस्वती है" ठीक नही है। हिन्दू देवमण्डल मे स्वय सरस्वती तथा ब्रह्मा दोनो ही अपने एक हाथ मे पुस्तक लिये हुए प्रदर्शित किये गये हैं। पाँचवी युक्ति के अन्यथात्व की सिद्धि के लिए बौद्ध साहित्य की पृष्ठभूमि के अनुशीलन तथा वेदागो और वैदिक साहित्य का अध्ययन आवश्यक है। छठी युक्ति केवल स्मारक अवशेषो का निर्देश करती है जिससे नाशवान् सामग्री पर लेखन का खडन नही हो जाता। भारत तथा पश्चिम के बीच व्यापारिक सम्बन्ध विपयक सातवी युक्ति से भारत का ऋणी होना सिद्ध नही होता, वस्तुस्थिति इसके विपरीत भी हो सकती है। आठवी युक्ति मे यह प्रदर्शित करने की चेष्टा की गई है कि पश्चिमी एशिया की सभ्यता की अपेक्षा भारत की सभ्यता कम पुरानी है। श्री तिलक तथा श्री शकर के वैदिक वाङ्मय के काल-विपयक सिद्धान्त पश्चिमी विद्वानो को कोरी कल्पना प्रतीत हो सकते है, किन्तु बूलर और विण्टरनित्स जैसे गम्भीर पाश्चात्य विद्वानो ने यह दिखा दिया है कि भारत मे आर्य सभ्यता का प्रारम्भ ईसा पूर्व चतुर्थ सहस्राब्दी मे रखा जा सकता है। जहाँ तक नवम युक्ति का सम्बन्ध है इसमे किंचित् सदेह नही है कि जैन और बौद्ध धर्मो ने प्राकृतो को तथा उनके साथ लेखन को लोकप्रिय बनाया किन्तु दोनो ही धर्म वैदिक या सस्कृत भाषा के लिए लेखन की पूर्व-कल्पना करते हैं। वास्तव मे बुद्ध ने अपने शिष्यो को छन्दो (वैदिक या लौकिक सस्कृत भाषा) मे अपने सवाद लिखने का निषेध किया था। दशम युक्ति बुद्धिसगत नही प्रतीत होती क्योकि यह इस कल्पना पर आधारित है कि लेखन का मूल आर्येतर है आर्य भारत मे बाहर से आये थे। अब तक कोई ऐसी तथ्यात्मक बात नही कही गयी जो पहले से विद्यमान किसी देश्य लेखन-पद्धति से ब्राह्मी के निकलने की सम्भावना का निषेध कर सके।

२. विदेशी उत्पत्ति के पोषक सिद्धान्त

ब्राह्मी लिपि के विदेशी मूल के समर्थक मतो को दो उपभागो मे विभाजित किया जा सकता है—(क) कतिपय मत यह प्रतिपादित करते है कि ब्राह्मी यूनानी वर्णो से निकली है तथा (ख) अधिकाश की ऐसी मान्यता है कि ब्राह्मी का उद्गम किसी दो या अधिक सेमेटिक वर्णमालाओ के समन्वय से हुआ है।

(१) **यूनानी उत्पत्ति** : पूर्ववर्ती यूरोपीय विद्वान् भारत की किसी श्रेष्ठ तथा महान् वस्तु का उद्भव यूनान से बताने के आदी थे। ओटफ्रीड म्वेलर[1], जेम्स प्रिन्सेप[2], रावेल डी रोशे[3], स्माइल सेनार्ट[4], गोब्लेत डि-अल्वील्ल[5], जोज़ेफ हालवी[6], विल्सन[7] इत्यादि का यह मत था कि ब्राह्मी यूनानी वर्णो से निकली है। बूलर के शब्दो मे "इस पूर्व-कल्पित असम्भव मत का सहज ही निराकरण किया जा सकता है, क्योकि ऊपर विवेचित साहित्यिक और लिपिशास्त्रीय साक्ष्यों से मेल नही खाता। इन प्रमाणो से यह, सम्भव ही नही, सत्य प्रतीत होता है कि मौर्यकाल के अनेक शताब्दी पूर्व ब्राह्मी का प्रयोग होता था तथा प्राचीनतम उपलब्ध भारतीय अभिलेखो के समय तक इसका एक लम्बा इतिहास रहा है।" यूनानी और ब्राह्मी वर्णों का सम्बन्ध इससे उलटा प्रतीत होता है। इसमे सदेह नही कि यूनानी वर्णमाला फोनिशियन वर्णमाला की ऋणी है। यह पहले ही सुझाया जा चुका है कि फोनिशियन (=वैदिक पणि) मूलत भारतीय थे, जो अपने साथ भारत से लेखन-कला को ले गये थे तथा जिन्होने पश्चिमी एशिया और यूनान मे इसका प्रसार किया।

(२) **सेमेटिक मूल** इस मत के अनेक समर्थक हैं, किन्तु सेमेटिक वर्णो की किस शाखा से ब्राह्मी वर्ण निकले या प्रभावित हुए इस प्रश्न पर उनमे मतभेद है। सुविधार्थ उन्हे निम्नाकित वर्गो मे विभाजित किया जा सकता है।

(अ) **फोनिशियन मूल** वेबर, बेन्फे, जेन्सन, बूलर प्रभृति विद्वान्[8] ब्राह्मी वर्णों के फोनिशियन मूल के पोषक थे। इस मत के समर्थन मे प्रमुख तर्क यह था कि

---

१ अपनी पुस्तक अल्फाबेट मे पृ० ३३५ पर डेविड डिरिंजर द्वारा उद्धृत।
२ वही।
३ वही।
४ इण्डि० एण्टि०, खण्ड ३५, पृ० २५३।
५ अल्फावेट, पृ० ३३५।
६ जर्नल एशियाटिक, पृ० २६८।
७ इण्डि० एण्टि० खण्ड ३५, पृ० २५३।
८ डेविड डिरिंजर अल्फावेट, पृ० ३३५, बूलर, इण्डियन पेलियोग्रैफी, पृ० ९-११।

'लगभग एक-तिहाई फोनिशियन वर्ण अपने अनुरूप ब्राह्मी चिह्नों के प्राचीनतम रूप के समान थे तथा एक-तिहाई अन्य वर्ण कुछ-कुछ मिलते-जुलते थे, शेष में न्यूनाधिक समता प्रदर्शित की जा सकती है।' इस मत को स्वीकार करने में एक बडी आपत्ति यह है कि ब्राह्मी लिपि के प्रादुर्भाव के समय भारत और फोनिशिया के बीच कोई सीधा सम्बन्ध नही था तथा फोनिशिया का प्रभाव पश्चिमी एशिया की पडोसी लिपियो पर प्राय नगण्य समझा जाता था। मैं नही समझता कि भारत तथा भूमध्यसागर के पूर्वी तट के मध्य १५०० तथा ४०० ई० पू० के बीच कभी सीधे सम्बन्ध का अभाव रहा है। साथ ही, फोनिशियन तथा ब्राह्मी वर्णों मे साम्य भी स्पष्ट है। अब प्रश्न यह कि दोनों मे से कौन किसका ऋणी है? यह प्रश्न भी फोनिशियन लोगो के मूल से सम्बन्धित है। टायर के विद्वान् सदैव यह मानते थे, तथा यूनानी इतिहासज्ञ भी इसे स्वीकार करते थे कि फोनिशियन लोग भूमध्यसागर के पूर्वी तट पर समुद्रमार्ग के द्वारा पूर्व से आये थे।[1] ऋग्वैदिक[2] प्रमाणो मे फोनिशियन लोगो का भारतीय मूल लक्षित होता है। फोनिशियन तथा पश्चिमी एशिया के सेमेटिक वर्णों मे साम्य के अभाव से भी यह सूचित होता है कि फोनिशियन लोग वहाँ बाहर से आये थे। इस प्रकार यह नितान्त सम्भव प्रतीत होता है कि फोनिशियन वर्णमाला भूमध्यसागर के तट पर भारत से ले जायी गयी थी।

(आ) **दक्षिणी सेमेटिक मूल.** टेलर, डीक तथा केनन की यह धारणा थी कि ब्राह्मी वर्ण दक्षिणी सेमेटिक वर्णो से निकले हैं।[3] इस मत की पुष्टि करना दुस्साध्य है। यद्यपि भारत और अरब के बीच सम्बन्ध सम्भव था, क्योंकि अरब, भारत और भूमध्यसागर के बीच मे स्थित है, परन्तु भारत पर इस्लामी आक्रमण के पूर्व भारतीय सस्कृति पर अरब के प्रभाव का पता नही चलता। इसके अतिरिक्त ब्राह्मी वर्णो तथा दक्षिणी सेमेटिक वर्णों मे साम्य इतना नगण्य है कि दोनो के बीच कोई सम्बन्ध बताना हास्यास्पद है।

(इ) **उत्तरी सेमेटिक मूल :** इस मत के प्रमुख पोषक डॉ० बूलर हैं।[4] दक्षिणी सेमेटिक वर्णों से ब्राह्मी वर्णो के निकलने की कठिनाइयो का निर्देश करते हुए बूलर ने लिखा है, "सीधे प्राचीन उत्तरी सेमेटिक वर्णों से जिनका फोनिशिया से लेकर मेसोपोटामिया तक समान रूप दिखाई पडता है, ब्राह्मी वर्णों का उद्भव मानने पर

---

१ हेरोडोटस, २, ४४।
२ ६।५१, १४, ६१, १, ७।६, ३, ६।३९, २।
३. डेविड डिरिंजर अल्फाबेट, पृ० ३३५।
४ इण्डियन पेलियोग्रैफी, पृ० ९-११।

ये कठिनाइयाँ दूर हो जाती हैं। वेबर द्वारा प्रस्तुत कतिपय मान्य समताओ का हाल ही मे प्रकाश मे आये हुए रूपो की सहायता से बडी आसानी से निराकरण किया जा सकता है, और उन सिद्धान्तो को मान्यता देना कठिन नही है जिनके अनुसार सेमेटिक चिह्न भारतीय चिह्नो मे परिवर्तित हो गये है।"

उत्तरी सेमेटिक वर्णो से ब्राह्मी को व्युत्पन्न करने का प्रयास करते हुए डॉ० बूलर ने प्राचीन भारतीय वर्णों की निम्नलिखित विशेषताओ का उल्लेख किया है —

(१) वर्ण यथासम्भव सीधे रखे जाते है तथा ट, ठ और व चिह्नो के विरल अपवादो को छोड कर उनकी ऊँचाई समान रखी जाती है।

(२) अधिकाश वर्ण खडी रेखाओ से बने हैं। इनमे जो योग है वे प्राय नीचे बगल मे, विरल रूप से बिल्कुल ऊपर या बिल्कुल नीचे तथा शायद ही कभी मध्य भाग मे हैं, किन्तु किसी भी उदाहरण मे केवल शीर्ष भाग पर योग नही है।

(३) वर्णों के शिरोभाग पर अधिकतर खडी रेखा का सिरा पाया जाता है, उससे कम छोटी आडी पाई, और इससे भी विरल रूप मे अधो-मुखी कोणो के शीर्षभाग पर वक्ररेखा, और अपवाद-स्वरूप म (ᵕ) मे और भ (ᑭ) के एक रूप मे दो ऊपर जाने वाली रेखाएँ। किसी भी उदाहरण मे, लटकती हुई रेखा के साथ त्रिभुज या वृत्त के ऊपर लटकती हुई खडी या तिरछी रेखा की सहायता से अगल-बगल रखे गये अनेक कोणो से युक्त शीर्षभाग नही मिलता।

बूलर ने उपरिनिर्दिष्ट विशेषताओ की व्याख्या की तथा उत्तरी सेमेटिक वर्णों से ब्राह्मी के निकलने के सिद्धान्त का प्रतिपादन हिन्दुओ की निम्नलिखित प्रवृत्तियो के आधार पर किया—

(१) एक विशिष्ट पण्डिताऊ रूढिवादिता।

(२) ऐसे चिह्नो के बनाने की इच्छा जो यथाक्रम पक्तियाँ बनाने मे सहायक हो।

(३) शीर्ष गुरु वर्णो के प्रति अरुचि। उनके मत से, "यह विशेषता सभवत आशिक रूप मे इस परिस्थिति के कारण है कि प्राचीन काल से ही भारतवासी अपने वर्णो के एक कल्पित या वास्तव मे खीची गयी रेखा से लटकाते थे तथा अशत स्वर-मात्राओ के कारण है जो अधिकतर व्यजनो के शीर्ष भाग पर आडी लगाई जाती है। वास्तव मे रेखान्त शीर्ष वाले चिह्न इस प्रकार की लिपि के लिए सर्वोपयुक्त थे। हिन्दुओ की इन्ही प्रवृत्तियो और अरुचियो के कारण चिह्नो को उलट कर या

पार्श्वाश्रित कर के, या कोण खोल कर, अथवा अन्य विधियों द्वारा अनेक सेमेटिक वर्णों के भारी शिरोभाग से छुटकारा मिल गया। अन्त में लेखन की दिशा में परिवर्तन के कारण एक और परिवर्तन की आवश्यकता हुई, अर्थात् ग्रीक (लिपि) के समान चिह्नों को दायें से बाये घुमा देना पडा।"

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर बूलर की यह मान्यता थी कि ब्राह्मी वर्णमाला के २२ वर्ण उत्तरी सेमेटिक वर्णमाला से, और कुछ एक प्राचीन फोनिशियन वर्णमाला से, थोडे मे मेसा के प्रस्तर अभिलेख मे तथा पाँच वर्ण असीरिया के बाटों वाली लिपि से निकले है। ब्राह्मी के शेष चिह्न भी गृहीत चिह्नों मे कतिपय परिवर्तन करके बना लिये गये है। तुलनात्मक फलक (स० ३) मे बूलर द्वारा प्रस्तावित व्युत्पत्ति-पद्धति को प्रदर्शित किया गया है।

उत्तरी सेमेटिक मूल के दूसरे प्रबल समर्थक डॉ० डेविड डिरिंजर है।[1] वे लिखते है, "सभी ऐतिहासिक और सांस्कृतिक प्रमाण प्राचीन अरेमिक वर्णमाला को ब्राह्मी लिपि का पूर्व रूप मानने वाले सिद्धान्त के पोषक है। ब्राह्मी चिह्नों का फोनिशियन वर्णों से स्वीकृत साम्य प्राचीन अरेमिक वर्णों पर भी लागू होता है, जब कि मेरे विचार मे किंचित् सदेह नही हो सकता कि सारी सेमेटिक जातियो मे अरेमिक व्यापारी प्रथम थे जो भारतीय आर्य व्यापारियो के सम्पर्क मे आए।" वे आगे पुन लिखते हैं, "साठ वर्षों से अधिक हुए कि रॉयल एशियाटिक सोसाइटी के तत्कालीन सम्मानित मत्री, आर० एन० कस्ट ने उस सोसाइटी के जर्नल मे एक लेख प्रकाशित किया था (भारतीय वर्णमाला के मूल के सम्बन्ध मे जे० आर० ए० एस० नव स० १६, १८८४ पृ० ३२५ ३५९)। तब से अनेक नये अन्वेषण हुए है तथा सैकडो पुस्तको और लेखो मे इस समस्या का विवेचन हुआ है, फिर भी मैं ब्राह्मी लिपि के मूल के सम्बन्ध मे आज भी उसके प्रथम दो निष्कर्षों से बहुत-कुछ सहमत हूँ —

(१) भारतीय वर्णमाला किसी भी दशा मे भारतीय लोगो का स्वतन्त्र आविष्कार नही हैं, तथापि दूसरो से गृहीत ऋण को उन्होने आश्चर्य-जनक मात्रा मे विकसित किया।

(२) इसमे कोई तर्कपूर्ण सन्देह नही कि स्वर और व्यजन ध्वनियो को विशुद्ध वर्णपरक चिह्नो द्वारा व्यक्त करने का विचार पश्चिमी एशिया से लिया गया था। (तब भी भारतीय वर्णमाला अर्धवर्णिक है, विशुद्ध वर्णिक नहीं)।

---

१. दि अल्फाबेट, पृ० ३३६, ३३७।

अपने मत के समर्थन मे तर्क के रूप मे उन्होने इस प्रकार लिखा है

(१) "हमे ऐसा नही समझना चाहिए कि ब्राह्मी अरेमिक वर्णो की सीधी सादी उत्पत्ति है। सम्भवत वर्णात्मक लेखन का विचार ही था जिसे स्वीकार किया गया था, यद्यपि अनेक ब्राह्मी चिह्नो के आकार सेमेटिक प्रभाव सूचित करते है तथा ब्राह्मी वर्णों की दाये से बाये लिखने की मूल विशेषता भी सामी थी।"

(२) कुछ विद्वानो की ऐसी धारणा है कि भारतीय लिपि देखने मे अक्षरात्मक है। अतएव यह किसी भी वर्णमाला से नही निकली होगी, क्योकि वर्णात्मक लिपि अक्षरात्मक लिपि की अपेक्षा स्पष्टत . अधिक उन्नत होनी है। ये विद्वान यह सत्य भूल जाते हैं कि सामी वर्णमाला मे स्वर नही थे और आवश्यकतावश सामी भाषाएँ स्वर चिह्नो के विना भी काम चला सकती थी, जब कि भारोपीय भाषाएँ ऐसा नही कर सकती थी। यूनानियो ने इस समस्या का सतोषप्रद समाधान निकाला था किन्तु भारतीय लोग कम सफल रहे। यह सम्भव है कि ब्राह्मी का आविष्कारक वर्णात्मक लेखन-पद्धति के तत्त्व को न समझ पाया हो। यह नितात सम्भव है कि सामी लिपि उसे अर्धाक्षरात्मक प्रतीत हुई हो, जैसी कि किसी भी भारतीय आर्यभाषा के बोलने वाले को प्रतीत हो सकती थी।"

ब्राह्मी वर्णो के उत्तरी सेमेटिक मूल वाले सिद्धान्त के विवेचन के पूर्व सेमेटिक और ब्राह्मी वर्णों के तुलनात्मक फलक का सूक्ष्म अध्ययन आवश्यक है[1]

ब्राह्मी लिपि के उत्तरी सेमेटिक मूल के पक्ष मे निम्नलिखित तर्क है —

(१) सेमेटिक और ब्राह्मी वर्णो मे साम्य है।

(२) प्राचीन भारतीय लिपि चित्रपरक थी, कोई भी वर्णात्मक लिपि चित्रवर्णो से नही निकल सकती।

(३) ब्राह्मी मूलत दाये से बाये लिखी जाती होगी।

(४) भारत मे ईसापूर्व पॉचवी शताब्दी से पूर्व लिपि के उदाहरणो का अभाव है।

इन तर्कों का क्रमश विवेचन करना आवश्यक है। इसमे सदेह नही कि उत्तरी-पश्चिमी एशिया के फोनिशियन तथा अरेमिक वर्णो और भारत की ब्राह्मी लिपि मे थोडी-सी समानता तो है। किन्तु बूलर तथा उसके विचार-सम्प्रदाय के अन्य विद्वानो का यह मत कि ब्राह्मी उत्तर-पश्चिमी एशिया की अरेमिक वर्णमाला से निकली है,

---

१ देखिए, फलक स० ३।

प्रमाणित नही किया जा सकता। बूलर द्वारा प्रस्तावित व्युत्पत्ति-पद्धति विशेष रूप से तर्कहीन है और यदि उसे ठीक मान लिया जाय तो ब्राह्मी वर्ण फोनिशियन और अरेमिक से ही नही अपितु ससार के किसी भी ज्ञात वर्णो से निकाले जा सकते है। अस्वाभाविक व्युत्पत्ति के कुछ उदाहरण फलक स० ४ मे दिये गये है।

दोनो वर्णमालाओ मे साम्य का कारण यह था कि, जैसा कि इस ग्रन्थ के प्रथम अध्याय मे प्रतिपादित किया गया है, फोनिशियन मूलत भारत के ही थे।[1] फोनिशियन लोग अपने साथ भारतीय वर्णमाला को सुदूर उत्तरी-पश्चिमी एशिया मे ले गये। किन्तु वे सेमेटिक लोगों से घिरे हुए थे इसलिए उनके वर्णो मे एक बड़ा परिवर्तन हुआ, यद्यपि उन्होने अरेमिक कहे जाने वाले उत्तरी सेमेटिक वर्णो को भी, जिन्होने दक्षिणी सेमेटिक और मिस्र के वर्णो को प्रेरणा प्रदान की थी, प्रभावित किया। इस प्रकार यदि आकार या प्रेरणा मे किसी प्रकार का अनुकरण हुआ तो फोनिशियन या अरेमिक वर्णो ने ही ब्राह्मी के पूर्व रूप से कुछ तत्वों को ग्रहण किया, इसका उलटा नही हुआ।

जहाँ तक दूसरे तर्क का सम्बन्ध है इसका यह आधार ही भ्रमपूर्ण है कि कोई वर्णात्मक लिपि किसी चित्रात्मक लिपि से नही निकल सकती। इसमे किंचित् सदेह नही कि सभी प्राचीन लिपियाँ स्वभावत चित्रात्मक थी।[2] "मनुष्य ने चित्र-लेखन से लिखना आरम्भ किया जैसा कि एक बालक करना पसन्द करता है।" निश्चय ही यह एक भिन्न विषय है कि चित्र-वर्णो के आविष्कारको ने किन-किन चित्र-वर्णो से विशुद्ध वर्णो का विकास कितनी पूर्णता के साथ कर सके। दूसरे, भारत मे सिन्धुघाटी के लेखो मे प्राप्त होने वाले लेखन के प्राचीनतम उदाहरण पूर्ण चित्रात्मक नही है, अधिकाश ध्वनिपरक और अक्षरात्मक है तथा उनका झुकाव वर्णात्मकता की ओर है।[3] इसके अतिरिक्त अनेक चिह्न जिन्हे भ्रमवश चित्र-वर्ण माना जाता है, वास्तव मे ध्वनिव्यजक चिह्नो के योग मात्र है। इसलिए सिन्धुघाटी की लिपि से ब्राह्मी की निष्पत्ति का किसी भी अवस्था मे निराकरण नही किया जा सकता।

तीसरा तर्क, कि ब्राह्मी आरम्भ मे दाये से बायें को लिखी जाती थी तथा यह सत्य ब्राह्मी के सेमेटिक मूल का निदर्शक है, निर्बल तथा सदिग्ध सामग्री पर आधृत है। जिस समय बूलर ने अपनी 'इण्डियन स्टडीज' मे लिखा और 'इण्डियन पेलियोग्रैफी'

---

१ द्रष्टव्य, ऋग्वेद ६ तथा ७।

२ डेविड डिरिंजर अल्फाबेट, २१।

३ द्रष्टव्य, मार्शल मोहेनजोदरो एण्ड दि इण्डस वैली सिविलीजेशन, खण्ड २।

प्रकाशित की, उस समय दायें से वाये को लिखी गयी ब्राह्मी के निम्नलिखित उदाहरण उपलब्ध थे

(१) अशोक के अभिलेखो के कतिपय वर्ण,

(२) मध्य प्रदेश के जबलपुर जिले के एरण से कनिंघम द्वारा प्राप्त सिक्को पर के अभिलेख ।

इसके अतिरिक्त मद्रास प्रेसीडेसी के कर्नूल जिले से प्राप्त अशोक के लघु शिलालेख का यर्रगुडी सस्करण[1] भी उल्लेखनीय है । बूलर ऊपर के दो उदाहरणो को उन तर्को की शृखला की खोई हुई कडी समझते है जिनसे दाये से वाये को लिखे जाने वाले सेमेटिक वर्णों से ब्राह्मी की उत्पत्ति सिद्ध होती है । किन्तु बूलर द्वारा प्राप्त यह कडी अत्यन्त निर्बल प्रतीत होती है। प्रथम, सभी उदाहरण विखरे हुए तथा समकालीन बाये से दाये को लिखे गये अभिलेखो की वहुत बडी सख्या की तुलना मे अत्यल्प है। वर्णो के कुछ अनियमित रूप, जो आगे चल कर स्थिर हो गये, वर्णो की अस्थिर दशा के बोधक है, किसी विदेशी स्रोत से उनके उद्गम के नही । दूसरे, सिक्को पर के अभिलेख कभी-कभी साँचा वनाने वाले की गलती से भी उलट जाते हैं जो साँचे पर भूल से सीधे वर्ण खोद देता है, अत जव तक अधिकाश उदाहरणो के साथ उनकी समानता नही सिद्ध होती वे लेखन की दिशा के निश्चित परिचायक नही है । यही कारण है कि हुल्श और फ्लीट बूलर के निष्कर्षो से सहमत नही है । जहाँ तक अशोक के लघु शिलालेख के यर्रगुडी सस्करण का प्रश्न है, यह एक विलक्षण उदाहरण है । ऐसा प्रतीत होता है कि खोदने वाला बायें से दाये को लिखी जाने वाली ब्राह्मी पद्धति से अभ्यस्त होने पर भी एक नया प्रयोग कर रहा था । उसने प्रथम पक्ति बाये से दायें को और दूसरी दायें से वायें को लिखी है तथा इसी प्रकार एक छोड कर दूसरी पक्ति की दिशा वदलते हुए लेखन जारी रखा है । इस प्रकार यह स्पष्ट है कि वह किसी नियमित या स्थिर पद्धति का अनुसरण नही कर रहा था, अपितु एक नये प्रयोग का प्रयास कर रहा था । इसके अतिरिक्त दायी ओर से वायी ओर को लिखी गयी पक्तियो मे केवल वर्णों का स्थान वदल दिया गया था उनका रूप नही, जिससे प्रतीत होता है कि यह एक वलात् और कृत्रिम लेखन था एव ब्राह्मी वर्णमाला के मूल से इसका कोई सम्वन्ध नही है ।

चौथा तर्क पाँचवी शताव्दी ई० पू० तथा चौथी सहस्राव्दी ई० पू० जो सिन्धु-घाटी की लिपि का समय है, के वीच लेखन के उदाहरणो की अनुपस्थिति मे सन्नवित है । वास्तव मे सभी पुरातात्त्विक प्राप्तियाँ सायोगिक हैं, और जव तक उत्तरी

---

[1] डी० सी० सरकार इण्डि० हिस्टा० क्वा०, खण्ड ७, पृ० ८१७ और आगे ।

भारत के सभी प्राचीन नगरों की खुदाई नहीं होगी, कोई भी यह दावा नहीं कर सकता कि इस सुदीर्घ काल में लेखन-कला विद्यमान नहीं थी। भारतीय इतिहास के सहस्रों वर्षों तक जाने वाले प्राग्बौद्धकाल में लेखन की विद्यमानता के सूचक साहित्यिक प्रमाण कम नहीं हैं। बूलर ने भी इसकी सबलता को निम्नलिखित शब्दों में स्वीकार किया है—"यह अनुमान कि कोई वैदिक ग्रन्थ जिसमें लेखन का निर्देश नहीं है अवश्य ही उस समय रचा गया होगा जब कि लेखन भारत में अज्ञात था, त्याग देना चाहिये।" व्यक्तियों, श्रेणियों तथा देवताओं के नामों से युक्त लेखन-सामग्री कठोर होने के कारण बचे हुए सिन्धु-घाटी के छिटपुट अभिलेख यह सिद्ध करते हैं कि भारत में प्राप्त कोमल नाशवान् पदार्थों पर भी लेखन अवश्य होता था। ऐसी परिस्थितियों में ब्राह्मी का पूर्व रूप खोजने के लिए किसी को भारत से बाहर जाने की आवश्यकता नहीं प्रतीत होती।

३ निष्कर्ष किसी ज्ञात वर्णमाला में, ब्राह्मी का उद्गम खोजने के पूर्व ब्राह्मी की निम्नलिखित विशेषताओं का ध्यान रखना आवश्यक है —

(१) प्राय सभी उच्चरित ध्वनियों के लिए ब्राह्मी में स्वतन्त्र और असंदिग्ध चिह्न विद्यमान हैं।
(२) उच्चरित अक्षर और लिखित वर्ण में अभिन्नता।
(३) स्वरों तथा व्यंजनों के लिए सबसे अधिक चिह्न, जो ६४ हैं।
(४) ह्रस्व और दीर्घ स्वरों के लिए भिन्न-भिन्न चिह्न।
(५) अनुस्वार (ˉ), अनुनासिक (ँ) तथा विसर्ग (·) के लिए चिह्न।
(६) उच्चारण के स्थान के अनुसार वर्णमाला का ध्वन्यात्मक वर्गीकरण।
(७) मात्राओं की सहायता से व्यंजनों के साथ स्वरों का योग।

उपरिनिर्दिष्ट विशेषताओं से युक्त ब्राह्मी वर्णमाला की उत्पत्ति किसी भी सेमेटिक वर्णमाला से, जहां इन विशेषताओं का पूर्णतया अभाव है, नहीं सिद्ध की जा सकती। उत्तरी सेमेटिक वर्णमाला में १८ ध्वनियों के लिए २२ चिह्न हैं। उसमें उच्चरित अक्षरों तथा लिखित वर्णों में साम्य नहीं है। एक ध्वनि के लिए उसमें अनेक चिह्न हैं। उसमें ह्रस्व और दीर्घ स्वर में कोई भेद नहीं है तथा अनुस्वार और विसर्ग के लिए कोई चिह्न भी नहीं है। सेमेटिक वर्णमाला में स्वरों और व्यंजनों का मेल नहीं हो सकता, प्राय स्वर व्यंजन के बाद लिखे जाते हैं। ध्वन्यात्मक दृष्टि से सेमेटिक वर्णमाला एक पद्धति न होकर बस घोलमेल है, उदाहरण के लिए अ (अलिफ) के, जिसका कण्ठ स्थान है, तुरन्त पश्चात् ब (बे) आता है जिसका स्थान ओष्ठ है। सेमेटिक वर्णमाला के समान दरिद्र और दोषपूर्ण वर्णमाला से ब्राह्मी वर्णमाला का

उद्‌गम नही हो सकता। ब्राह्मी के आविष्कारको को सेमेटिक की ओर देखने तथा ब्राह्मी को सेमेटिक से व्युत्पन्न सिद्ध करने के लिए बूलर द्वारा प्रस्तावित वीहड उपायो को ग्रहण करने की आवश्यकता ही क्या थी ?

बूलर ने ब्राह्मी वर्णमाला की ध्वनि एव व्याकरण सम्बन्धी उच्च अवस्था को पहचान कर यह स्वीकार किया कि इसके प्राचीनतम रूप का विकास भारतीयो ने किया "तथापि निस्सदेह ब्राह्मी का प्राचीनतम ज्ञात रूप सस्कृत लिखने के लिए विद्वान् ब्राह्मणो द्वारा गढी गयी लिपि थी। इस कथन की पुष्टि अशोक के प्रस्तर लेखों के वर्णों के अवशेषो से जिनमे सस्कृत 'ऐ' और 'औ' स्वरो के चिह्न विद्यमान है तथा जो ध्वन्यात्मक सिद्धान्तो के अनुसार क्रमबद्ध किये गये हैं, से ही नही अपितु ध्वनि-शास्त्र और व्याकरण के प्रभाव से भी, जो व्युत्पन्न चिह्नो के निर्माण मे लक्षित होता है, होती है। निम्नाकित सूत्रो से ध्वनिशास्त्री तथा वैयाकरण का प्रभाव समझा जा सकता है

(१) पाँच नासिका स्थानीय वर्णो तथा अनुनासिक चिह्न का तथा साथ ही साथ दीर्घ स्वरो के लिए चिह्नो के एक अलग समुदाय का विकास।

(२) उच्चारण की दृष्टि से नितान्त भिन्न किन्तु व्याकरण की दृष्टि से सजातीय स और ष के चिह्नो की उत्पत्ति।

(३) 'उ' का अर्ध व (व्) के रूप मे उल्लेख, जो सम्प्रसारण द्वारा बहुधा स्वर (उ) मे परिणत हो जाता है।

(४) उ से एक दण्ड के योग से ओ की उत्पत्ति।

(५) वैयाकरणो की शिक्षा के अनुसार, जो प्रत्येक व्यजन मे ह्रस्व 'अ' को विद्यमान मानते है, ह्रस्व 'अ' की मात्रा का लोप।

यह सब देखने मे इतना विद्वत्तापूर्ण किन्तु कृत्रिम है कि इसका आविष्कार केवल पण्डितो द्वारा हो सकता था, व्यापारियो और लिपिको द्वारा नही।"

उस जाति को जो वैज्ञानिक शिक्षा और व्याकरण के विकास की विलक्षण प्रतिभा से सम्पन्न हो तथा जो अपने आधे से अधिक वर्णो को जन्म देने मे समर्थ हो, दरिद्र और दोषपूर्ण सेमेटिक वर्णो की ओर ऋण के लिए देखने की आवश्यकता नही हो सकती। यह विशेषत विस्मयजनक प्रतीत होता है कि इन तथ्यो के होते हुए बूलर यह मानते थे कि भारतीयो ने अपने वर्णो को सेमेटिक वर्णो से ग्रहण किया।

किसी वर्णमाला के विकास के विभिन्न सूत्रो के अध्ययन से स्पष्ट हो जाता है कि ब्राह्मी वर्ण, भाषाशास्त्र की दृष्टि से अन्य देशो के वर्णों की तुलना मे अधिक उन्नत तथा लेखन के परिसूचक वृहत् वैदिक साहित्य के स्रष्टा भारतीय लोगो की

प्रतिभा की उपज है। ब्राह्मी चित्रलेखो (पिक्टोग्राफ) भावलेखो (ईडियोग्राफ) तथा ध्वन्यात्मक चिह्नो (फोनेटिक साइन) मे, जिनके प्राचीनतम उदाहरण सिन्धु-घाटी के अभिलेखो मे प्राप्त होते है, प्रादुर्भूत हुई। सिन्धुघाटी की लिपि से ब्राह्मी की उत्पत्ति को स्पष्ट करने मे तुलनात्मक फलक (स० ५) सहायक होगा।

इ. खरोष्ठी वर्णो की उत्पत्ति

नाम

खरोष्ठी लिपि[1] विभिन्न नामो से जानी जाती है। पहले यह बैक्ट्रियन, इण्डो-बैक्ट्रियन, आर्यन्, बैक्ट्रो-पाली, उत्तर पश्चिमी भारतीय, काबुली, खरोष्ठी इत्यादि नामो से अभिहित की जाती थी। फिर भी इसका सर्वाधिक प्रचलित नाम खरोष्ठी है, जो चीनी साहित्य के आधार पर, जिसमे यह नाम सातवी शताब्दी ई०[2] तक प्रचलित रहा, स्वीकार किया गया था।

२. नाम का मूल

साधारण रूप से इस नाम की निम्नलिखित व्याख्याएँ प्राप्त होती हैं —

(१) इस लिपि का आविष्कारक खरोष्ठ नाम का व्यक्ति था (खर+ओष्ठ[3] = गधे के ओठ वाला)

(२) इसका यह नाम इस कारण है कि यह खरोष्ठो द्वारा प्रयुक्त होती थी जो भारत की उत्तर पश्चिमी सीमा के असंस्कृत लोग थे, जैसे यवन (ग्रीक), शक, तुषार (कुषाण) तथा मध्य एशिया के अन्य लोग।

(३) खरोष्ठ मध्य एशिया के काशगर प्रान्त का सस्कृत रूप है। इस लिपि का यह सबसे परवर्ती केन्द्र था।[4] स्टेन कोनो ने इस सुझाव पर

---

१ देखिये, फलक स० ६।

२ फा-वान-शु-लिन, बेबीलोनियन एण्ड ओरियण्टल रिकार्ड, १ ५९।

३ किया-लु-से-त = क्-लु-से-तो = ख्-रो-स्-त = खरोष्ठ, देखिये फा-वान-शु-लिन।

४ प्रोफेसर सिल्वाँ लेवी का विचार था कि इस लिपि का शुद्ध नाम खरोष्ट्र था जिसकी व्युत्पत्ति काशगर प्रान्त के लिए प्रयुक्त चीनी शब्द क्या-लु-शु-त (न्)-ले, से हुई है (बुलेटिन द लेकोल फ्रासे द 'एक्सट्रीम ओरियण्ट, २, १९०२, पृ०२४६ तथा आगे (सर्वश्री ओ० फ्रांके तथा पिशेल ने चीनी शब्द की खरोष्ट्र से उत्पत्ति के

निम्नलिखित शब्दो मे अपना विचार व्यक्त किया है, "यह सत्य है कि अनेक खरोष्ठी अभिलेख चीनी तुर्किस्तान मे, विशेष रूप से पूर्वी ओसेस मे मरुस्थान के दक्षिण तक, पाये गये है तथा एकमात्र ज्ञात खरोष्ठी हस्तलिखित प्रति खोतान देश मे प्राप्त हुई है, तथापि प्रत्येक स्थान मे भारतीय भाषा के लिखने के लिए इस वर्णमाला का प्रयोग होता था और पहले से ही हमे यह सोच लेना चाहिये कि तुर्किस्तान मे यह भारतीय लोगो द्वारा लायी गयी। इसके अतिरिक्त हस्तलिखित प्रति तथा लेख अपेक्षाकृत परवर्ती काल के हैं। उनमे से कोई भी स्पष्ट रूप से दूसरी शती ई० से पूर्व का नही है। इसके अतिरिक्त भारत मे खरोष्ठी का प्रयोग ईसा पूर्व की तीसरी शताब्दी तक जाता है (कार्पस इन्स्क्रिप्शनम् इण्डिकेर्म, खण्ड २ पृ० १४)।

(४) यह शब्द ईरानी शब्द खरोष्ठ या खरपोस्त, जिसका अर्थ गधे की खाल है, का भारतीय रूप है। बहुत सम्भव है कि गधे की खाल के ऊपर लिखने के लिए इस लिपि का प्रयोग होता रहा हो।

(५) इस लिपि के लिए एक अरेमिक शब्द खरोट्ठ था जो कालान्तर मे, शब्द-निष्पत्ति की प्रचलित पद्धति से, सस्कृत रूप खरोष्ठ मे परिणत हो गया, (तु० लुडविग, गुरुपिय, कौमुदी पृ० ६८ तथा आगे) नाम के विषय मे प्राचीनतम परम्परा का उल्लेख फा-वान-शु-लिन मे मिलता है। यह ६६८ ई० का एक चीनी ग्रन्थ है जिसके अनुसार लिपि का यह नाम इसलिए है कि इसके आविष्कारक का नाम खरोष्ठ था। यह कहना कठिन है कि यह अनुश्रुति नाम पर आधारित कल्पना मात्र है या सत्य पर आधारित है। जहाँ तक अन्य व्याख्याओ का प्रश्न है वे कल्पना मात्र है जिनकी पुष्टि मे कोई प्रमाण नही है। स्पष्टत खरोष्ठ नाम सस्कृत खरोष्ठ का प्राकृत रूप है। लिपि का यह नाम इस कारण भी हो सकता है कि अधिकाश खरोष्ठी वर्ण अनियमित रूप से बढाये हुए एव वक्र है तथा वे हिलते हुए गधे के ओठो की भाति प्रतीत होते है। मूलत यह उपनाम रहा होगा जो कालान्तर मे प्रचलित हो गया।

विरुद्ध आपत्ति की। उनकी मान्यता थी कि खरोष्ट्र शब्द का प्रयोग कभी भारतवर्ष मे नही हुआ तथा ज्ञात और शुद्ध रूप केवल खरोष्ठ था।

३. अरेमाई उत्पत्ति का सिद्धांत

खरोष्ठी लिपि के मूल के विषय मे सर्वाधिक प्रचलित धारणा यह है कि यह अरेमाई वर्णमाला से निकली है ।[1] इस मत के पक्ष मे निम्नांकित तर्क उपस्थित किये जा सकते हैं –

(१) खरोष्ठी तथा अरेमाई वर्णो की समानता—"अन्तत इनकी पुष्टि इस बात से हो जाती है कि अधिकाश खरोष्ठी वर्ण ४८२ और ५०० ईसापूर्व के सक्करह तथा तीमा अभिलेखो मे प्रकट होने वाले अरेमाई रूपो से बडी सरलता से निकाले जा सकते है, जब कि कुछ वर्ण असीरिया के बटखरो एव बेबीलोनिया की ताबीजो और रत्नो पर के अपेक्षाकृत प्राचीन रूपो से मेल खाते है तथा दो या तीन वर्णों का लघु तीमा अभिलेख, स्टेलेवेतिकाना और सेरापोम मे प्राप्त निवेशनलेख के उत्तरकालीन रूपों से घनिष्ठ सम्बन्ध है। लम्बे खीचे गये तथा लम्बी पूंछ वाले वर्णो वाली खरोष्ठी की सम्पूर्ण रूपरेखा 'मेसोपोटेमिया' बटखरो, मुद्राओ मे प्राप्त तथा पत्थर पर उभडी हुई नक्काशियो के समान है। ऐसी ही लिपि सक्कर, तीमा तथा सेरापोम के अभिलेखो मे मिलती है।"[2]

(२) खरोष्ठी लिपि की दायें से बायें की ओर लिखाई ।

(३) खरोष्ठी मे कुछ ऐसी विशिष्टताएँ है जो सेमेटिक लिपियो मे पायी जाती है, जैसे दीर्घ स्वरो का अभाव ।

(४) खरोष्ठी का भारत के केवल उन भागो मे प्रयोग जो छठी शती ई० पू० के उत्तरार्ध से चौथी शती ई० पू० तक ईरानियो के अधिकार मे रहे ।

(५) उत्तर-पश्चिमी भारत मे मानसेरा तथा शाहबाजगढी से प्राप्त होने वाले अशोक के अभिलेखो मे लेखन या अध्यादेश के लिए स्पष्ट रूप से प्राचीन फारसी से गृहीत 'दिपि' शब्द का प्रयोग ।

(६) खरोष्ठी का ईरानी आक्रमण के पश्चात् भारत मे आविर्भाव ।

(७) पश्चिमी एशिया तथा मिश्र मे अरेमिक वर्णमाला का विस्तृत प्रयोग तथा ईरानी सम्राटो द्वारा इसका प्रशासकीय कार्यो मे प्रयोग जिससे वह भारत मे आ गयी ।

(८) अरेमिक वर्णमाला, कुछ परिवर्तनो और योगो के समावेश से, भारतीय भाषाओं के अनुरूप बना ली गयी ।

---

१ इस मत का सब से बडा पोषक बूलर था (इण्डियन पेलियोग्रैफी, पृ० १९-२०) तथा अधिकाश विद्वानो ने इसे स्वीकार किया है ।

२ बूलर इण्डियन पेलियोग्रैफी, पृ० २० ।

(९) उस अरबी लिपि का उत्तरकालीन दृष्टान्त जो कुछ परिवर्तनो के साथ मध्यकाल मे भारत मे प्रविष्ट हुई तथा जिसका भारतीय भाषाओ को लिखने मे प्रयोग होता था।

इस प्रसग मे खरोष्ठी के अरेमिक मूल के पक्ष मे दिये गये तर्कों का एक-एक करके परीक्षण करना उपादेय होगा —

(१) जहाँ तक उनकी रचना-पद्धति घसीट शैली तथा दायें से बायें को लिखने का प्रश्न है, खरोष्ठी और अरेमिक वर्णों के साधारण बाह्य रूप मे साम्य तो है, किन्तु यह साम्य इससे परे नही जा सकता। बूलर की अरेमिक वर्णो से खरोष्ठी वर्णो की व्युत्पत्ति आयास-साध्य है तथा उनके द्वारा प्रस्तावित व्युत्पत्ति विषयक सिद्धान्त व्यायाम के सिद्धान्तो के समान लगते है। वास्तव मे सभी वर्ण ऋजु, वर्तुल, कोणात्मक, ग्रथिल तथा वृत्ताकार रेखाओ के योग से बनते हैं तथा इन अगो के स्थान-परिवर्तन से कोई भी वर्ण दूसरे वर्ण से बनाया जा सकता है। बूलर की धारणा की निरर्थकता तब प्रकट हो जाती है जब हमारा ध्यान इस बात पर जाता है कि वे आठवी-दसवी शताब्दी ई० पू० की अरेमिक से खरोष्ठी वर्णो की व्युत्पत्ति मानते हैं। तुलनात्मक सारणी के समुचित अध्ययन से यह स्पष्ट हो जायगा कि खरोष्ठी और अरेमिक मे साम्य अत्यन्त साधारण है। इससे अरेमिक से खरोष्ठी की उत्पत्ति का समर्थन नही होता।

(२) खरोष्ठी का दायें से बाये लिखा जाना इस बात का प्रमाण नही है कि यह सेमेटिक मूल से निस्सृत है, लेखन की बायी ओर की गति सेमेटिक लोगो का एकाधिकार नही समझा जा सकता। भारत जैसे विस्तृत देश मे बाये से दाये तथा दायें से बायें को चलने वाली दो लिपियो का विकास असम्भव नही है।

(३) खरोष्ठी मे दीर्घ स्वरो का अभाव इस कारण है कि इसका प्रयोग प्राकृत लिखने मे होता था, जिसमे दीर्घ स्वरो, समासों तथा कठिन सधियो का परिहार किया जाता था। इस प्रकार खरोष्ठी के तथाकथित समान धर्म जन-प्रयोग के कारण थे, किसी सेमेटिक प्रभाव के कारण नही।

(४) यह सम्भव है कि भारत का उत्तर-पश्चिमी भाग ई० पू० की छठी शती से चौथी शती तक फारसी साम्राज्य के अन्तर्गत रहा हो। किन्तु भारत के उस भाग मे फारस के सम्राटो का एक भी राजकीय लेख खरोष्ठी मे नही पाया गया और न कोई फारसी लेख अरेमिक मे, जिसका भारतवासी अनुकरण कर सकते। बहुत सम्भव है कि फार-सियो ने सीधे भारत पर शासन नही किया तथा भारत मे उनके उपनिवेश या अड्डे नही थे। इस प्रकार भारत पर उनका प्रभाव इतना गहरा नही था कि वह किसी

नवीन लेखन-पद्धति को अपना लेता। जब कभी भी विदेशी वर्णों को भारत में ग्रहण किया गया है, प्राय सीधे और सपूर्ण रूप में उनका ग्रहण हुआ है। उदाहरण के लिए मध्यकाल में अरबी तथा आधुनिक काल में अंग्रेजी (रोमन) वर्ण।

(५) बूलर कोई कारण नही बनाता कि 'दिपि' शब्द को केवल फारसी या सस्कृतेतर ही क्यों माना जाय। साधारण रूप मे इस शब्द की व्युत्पत्ति सस्कृत धातु दिप्, जिसका अर्थ 'प्रकाशित होना' है, से की जा सकती है। वर्ण आलकारिक रूप से देदीप्यमान, प्रकाशमान तथा व्यजक माने जाते थे।

(६) खरोष्ठी अक्षरों से फारसी सिग्लोइयो का अकित करना भारत के उत्तर-पश्चिमी भाग पर फारसी अधिकार के पूर्व ही खरोष्ठी की विकसित रूप में विद्यमानता की कल्पना करता है।

(७) इसमे सन्देह नही कि पश्चिमी एशिया मे अरेमिक वर्णों का व्यापक प्रचार था किन्तु भारत मे इनका प्रचलन नही था। प्रथम यही अति सदिग्ध है कि क्या भारत कभी शासन की दृष्टि मे फारसी राज्य मे था?[1] दूसरे, जैसा कि ऊपर निर्देश किया गया है कि फारस के सम्राटो का अरेमिक मे लिखा हुआ कोई भी लेख भारत मे नही पाया जाता। ऐसी परिस्थितियो मे भारतीय लोगों द्वारा अरेमिक वर्णों के अनुकरण या ग्रहण करने की कोई गुजाइश या आवश्यकता नही प्रतीत होती।

(८) दोनो लिपियो मे समानता इतनी दूरवर्ती है तथा भारत और फारस के बीच सम्बन्ध इतना औपचारिक था कि ग्रहण का प्रश्न ही नही उठता।

(९) मध्यकाल मे भारत मे अरबी या तथाकथित फारसी लिपि के प्रवेश का दृष्टान्त उचित नही है। अरबी वर्ण केवल अरब और तुर्क आक्रान्ताओ द्वारा ही प्रयुक्त होते थे। जब वे शासक के रूप मे भारत मे जम गये तब उन्होने अरबी और फारसी भाषाओ को राजभाषा के रूप मे प्रयुक्त किया। यहाँ ऋण का प्रश्न नही था, अपितु अरबी और फारसी भाषाओ के साथ अरबी लिपि का समग्र प्रवेश हुआ।

४. भारतीय मूल

खरोष्ठी वर्णमाला के मूल की समस्या का समाधान करते समय उसके उद्गम-स्थान और उत्तरवर्ती काल मे प्रसार के क्षेत्र को ध्यान मे रखना आवश्यक है। अब तक का ज्ञात प्राचीनतम खरोष्ठी अभिलेख उत्तर-पश्चिमी भारत मे प्राप्त हुआ है।

---

१ डॉ० आर० सी० मजुमदार इ० हि० क्वा, खण्ड २५, स० ३, सितम्बर १९४९।

पश्चिमी एशिया के किसी भी देश मे कोई लेख या लेखन का उदाहरण खरोष्ठी मे अब तक नही पाया गया है। फारसी सम्राटो ने भी, जो खरोष्ठी वर्णमाला के विकास मे कारणभूत माने जाते हैं, अरेमिक या इससे उद्भूत मानी जाने वाली खरोष्ठी का प्रयोग आधिकारिक कार्यो के लिए, नही किया। अशोक का प्राचीनतम ज्ञात खरोष्ठी अभिलेख तीसरी शती ई० पू० का है। बलूचिस्तान, अफगानिस्तान तथा मध्य एशिया से प्राप्त खरोष्ठी अभिलेख बाद की तिथि के है तथा स्पष्ट रूप से सूचित करते हैं कि वे वहाँ भारतीय प्रवासियो तथा धर्मोपदेशको द्वारा ले जाये गये थे। खरोष्ठी के मूल के प्रसग मे दूसरा स्मरणीय तथ्य यह है कि इसके वर्ण भारतीय हैं, तथा भारत से बाहर के देशो मे भी इसका प्रयोग भारतीय भाषाओ के लिखने के लिए ही हुआ है। दायें से बायें को इसकी दिशा के बावजूद इसकी रचना-पद्धति, विशेष रूप से वर्णों के अनुसार चिह्न और स्वरमात्राएँ लगाने तथा सन्धि करने का ढग भारतीय है।

सभी परिस्थितियो को ध्यान मे रखते हुए निरापद रूप से माना जा सकता है कि खरोष्ठी लिपि का भारत के उत्तर-पश्चिमी भाग मे प्रादुर्भाव हुआ, जैसा कि चीनी परम्पराओं मे सुरक्षित है कि इसका आविष्कार एक भारतीय मनीषी द्वारा हुआ था जिसका उपनाम खरोष्ठ था क्योकि उसके वर्ण खर के ओष्ठ के समान थे। देश के उस भाग पर फारसी अधिकार के समय खरोष्ठी जनलिपि के रूप मे स्वीकृत थी और यही कारण है कि फारसी सिग्लोई खरोष्ठी स्वरों से अकित हैं। जब मध्य भारत के मौर्यों ने उस भाग को अधिकृत किया तो उन्हे भी उस भाग के लिए खरोष्ठी लिपि को ग्रहण कहना पडा। तत्पश्चात् यवनो, पह्लवो, शको तथा कुषाणो ने ग्रीक के साथ ही साथ भारतीय भाषाओ के लिए इस लिपि का प्रयोग किया। कुषाणो के राज्यकाल मे बौद्ध धर्म के प्रसार के साथ खरोष्ठी पश्चिमी और उत्तरी प्रदेशो मे पहुँच गयी तथा चतुर्थ शती ईसवी तक प्रचलित रही। भारत मे, विदेशी शक्तियो द्वारा अधिकृत प्रदेशो मे खरोष्ठी के साथ उनके सुदीर्घ सम्पर्क ने शेप भारत मे इसके प्रति घृणा उत्पन्न कर दी। गुप्त राजाओ की शक्ति के उदय के साथ तथा देश के एकीकरण की माँग एव राष्ट्रीयता के साथ, खरोष्ठी विदेशी राजकीय सहायता के न रहने से समाप्त हो गयी एव भारत की सर्वव्यापक ब्राह्मी लिपि ने भारत के उत्तर-पश्चिमी भाग मे भी खरोष्ठी का स्थान ग्रहण किया।[1] किन्तु वास्तव मे खरोष्ठी मे कुछ भी विदेशी नही था। इसका मूल भारत मे था, और इसका उदय और ह्रास भी भारत मे हुआ।

---

१. पश्चिम तथा उत्तर मे इसका स्थान अरबी ने ग्रहण किया जिसका इस्लाम के साथ वहाँ प्रसार हुआ।

अध्याय चौथा

प्राचीन भारतीय लिपियों के स्पष्टीकरण का इतिहास

भारतवासी अपने देश की पुरानी लिपियो का पढना पहले ही भूल चुके थे। सस्कृत और प्राकृत के कुछ विद्वान् वडे प्रयास के वाद ईसा की सातवी और आठवी शती की हस्तलिखित प्रतियो को पढ पाये थे, इससे पूर्व की नही। गुप्त और ब्राह्मी लिपि भारतीयो के लिए दुर्वोध थी। यह अवस्था वहुत पहले चौदहवी शताब्दी मे हो गयी थी। जब फिरोजशाह तुगलक ने टोपरा और मेरठ के अशोक स्तम्भो दिल्ली[1] मँगवाया, तव उसने अनेक सस्कृत विद्वानो को उन स्तम्भों पर उत्कीर्ण लेख पढने के लिए आमन्त्रित किया तो वे उन अभिलेखो की लिपि को स्पष्ट न कर सके। महान् मुगल सम्राट अकवर को भी इन स्तम्भो पर के लेख के विषय मे जिज्ञासा तो थी किन्तु सोलहवी शताब्दी मे भी इस पुरानी लिपि को पढने का गम्भीर प्रयास नही किया गया।[2] लोग इस काल्पनिक कथा से ही सतुष्ट थे कि ये स्तम्भ भीम (पांच पाण्डवों मे एक) के दण्ड हैं तथा श्री कृष्ण द्वारा पैशाची भाषा मे पाण्डवो को दिये गये उपदेश इस लिपि मे अकित हैं। भारतीय इतिहास और पुरातत्त्व के विषय मे यह अज्ञान वारहवी शताव्दी की अन्तिम दशाव्दी से देश मे फैली हुई अव्यवस्था और उसके परिणाम स्वरूप राजनीतिक एवं वौद्धिक जीवन के विशृखलित हो जाने के कारण था। १५ जनवरी १७८४ ई० से जव वगाल की एशियाटिक सोसाइटी की नीव पडी, भारत ने अपनी वौद्धिक जिज्ञासा एव स्थिरता का पुनर्लाभ आरम्भ किया। इससे विद्वानो को भारत के अतीत के सर्वांगीण अध्ययन मे अपने को लगा देने की प्रेरणा मिली। लिपिविज्ञान और अभिलेख-विद्या ने भारतीय विज्ञान (इण्डोलॉजी) के विशेषज्ञो का ध्यान आकृष्ट किया।

१. परवर्ती ब्राह्मी लिपि का स्पष्टीकरण

वगाल की रॉयल एशियाटिक सोसाइटी की स्थापना के शीघ्र वाद ब्राह्मी अभिलेखो की खोज और पढाई प्रारम्भ हुई। १७८५ ई० मे चार्ल्स विल्किन्स ने वगाल

---

१ शम्स-इ-सिराज इलियट, हिस्ट्री इण्डिया, ३।३५०।
२ अकवरनामा।

के दीनाजपुर जिले से प्राप्त पाल राजा नारायण पाल के बोदल स्तम्भ-अभिलेख को पढा।[1] ब्राह्मी लिपि के पढने का दूसरा प्रयास भी उसी वर्ष किया गया। पण्डित राधाकान्त शर्मा ने चाहमान राजा वीसलदेव (विग्रहराज चतुर्थ) के तोपरा-दिल्ली स्तम्भ-अभिलेख को पढा जिसकी तिथि वि० स० १२२० है।[2] इन अभिलेखों को सरलता से पढा जा सकता था, क्योंकि वे अतिसमीप की तिथियो के थे। उसी वर्ष जे० एच० हरिंग्टन ने मौखरी राजा अनन्तवर्मन् के नागार्जुनी और वरावर गुहा अभिलेखों का पता लगाया। इन अभिलेखो की लिपि पाल और चौहान लिपियो से अधिक प्राचीन होने के कारण पढने मे कठिन प्रतीत हुई और हेरिंग्टन उन्हे स्पष्ट नही कर सके। किन्तु चार्ल्स विल्किन्स ने १७८५ और १७८९ ई० के बीच इन अभिलेखो पर काम किया और इन अभिलेखो की सहायता से वे गुप्त लिपि के प्राय. आधे अक्षरों को पढने मे समर्थ हो गये। महान् ऐतिहासिक कर्नल जेम्स टॉड ने १८१८ और १८२३ ई० के बीच राजस्थान, मध्य भारत तथा गुजरात से प्राप्त अभिलेखो को सगृहीत किया तथा यति ज्ञानचन्द्र की सहायता से इनमे से कुछ अभिलेखो को पढने मे आशिक सफलता प्राप्त की। ये अभिलेख ईसा की सातवी और पन्द्रहवी शताब्दी के बीच के थे।

परवर्ती ब्राह्मी लिपि के स्पष्टीकरण का दूसरा सीमाचिह्न तव बना जव १८२८ ई० मे बैबिंग्टन ने मामल्लपुरम् से प्राप्त सस्कृत और तमिल अभिलेखो के आधार पर वर्णों की एक तालिका तैयार की।

गुप्त लिपि का ठीक स्पष्टीकरण १८३४ ई० मे प्रारम्भ हुआ जव कप्तान ट्रायर ने समुद्रगुप्त की प्रयाग प्रशस्ति का एक अश पढा। डॉ० मिल प्रयाग स्तम्भ-अभिलेख को पढने मे और अधिक सफल हुए[5] तथा उन्होने १८३७[6] मे स्कन्दगुप्त के भितरी स्तम्भ-अभिलेख को पूर्णत पढ डाला। लगभग उसी समय डब्ल्यू० एच० वॉथन ने

---

१ एशियाटिक रिसर्चेज, भा० २, पृ० १६७, जर्नल ऑफ एशियाटिक सोसाइटी ऑफ वगाल, भा० ६, पृ० ६७४, पट्ट ३६, स० १५, १६, १७, इण्डियन एण्टिक्वेरी, भा० १३, पृ० ४२८।

२ वही।

३ टॉड, एनल्स ऑन् राजस्थान।

४. ट्रान्जैक्शन्स ऑफ रॉयल एशियाटिक सोसाइटी, भा० २, पृ० २६४-२६९ पट्ट १५, १६, १७ तथा १८।

५ जर्नल ऑफ दि एशियाटिक सोसाइटी ऑफ वगाल, भाग ३, पृ० ३३९।

६. वही, खण्ड ६, पृ० १।

गुजरात मे प्राप्त अनेक ताम्रपत्रो को जिनका सम्बन्ध वल्लभीवश[1] के राजाओं मे था, पढा । जेम्स प्रिंसेप का पठन अधिक तात्त्विक और सफल रहा। उन्होने गुप्तकाल के दिल्ली, कहौम, एरण, साँची, अमरावती तथा गिरनार अभिलेखो को स्पष्ट किया।[2] इससे गुप्त-लिपि के पठन का कार्य पूर्ण हुआ और गुप्त अक्षरो की एक पूरी सूची तैयार कर ली गयी।[3]

२. प्राचीन ब्राह्मी लिपि का स्पष्टीकरण

एलोरा गुहा के ब्राह्मी अभिलेखो ने पहले पहल विद्वानो का ध्यान आकृष्ट किया । १७९५ मे सर चार्ल्स मेलेट ने इन अभिलेखो के प्रतिचित्रण (स्टैम्पेज) तैयार किये और विलियम जोन्स के पास स्पष्टीकरण के लिए भेजे । उन्होने उन्हे पढने के लिए विलफोर्ड के पास भेज दिया । विलफोर्ड उनके प्रति कोई न्याय नही कर सके । एक सस्कृत पण्डित के मिथ्या पथ-प्रदर्शन मे उन्होने इन अभिलेखो को अशुद्ध पढा और अपने अशुद्ध पाठ के साथ उन्हें सर विलियम जोन्स के पास वापस भेज दिया । कुछ वर्ष वे सर विलियम के पास पडे रहे और बाद मे पाया गया कि पाठ काल्पनिक है।

प्रारम्भिक ब्राह्मी के इस पढने के प्रथम निष्फल प्रयास के बाद चार्ल्स लैसेन ने एक और प्रयास किया। उन्होने १८२६ मे हिन्द-बैक्ट्रियन राजा अगाथोक्लीज की मुद्राओ पर की ब्राह्मी प्रशस्ति पढी। किन्तु प्रशस्ति छोटी होने के कारण थोडे ब्राह्मी अक्षर ही स्पष्ट हुए। ब्राह्मी लिपि के पूर्णतर स्पष्टीकरण का श्रेय जेम्स प्रिन्सेप को प्राप्त हुआ। १८३४-३५ ई० मे उन्हे प्रयाग के रधिया और मथिया स्तम्भ-अभिलेखो के प्रति-चित्रण (स्टैम्पेज) प्राप्त हुए और उनको उन्होने दिल्ली स्तम्भ अभिलेख मे मिलाया। उन्हें मालूम हुआ कि चारो अभिलेख एक ही है। यह उनके लिए अति-सतोषप्रद था । इस परिणाम से प्रोत्साहित होकर उन्होने इन अभिलेखो के वर्णों का विश्लेषण किया। उन्हें विदित हुआ कि मात्राओ के लगाने के वही सिद्धान्त प्रारम्भिक ब्राह्मी मे विद्यमान थे, जो गुप्त अभिलेखो मे थे।[4] इन अभिलेखो के अनवरत अध्ययन ने प्रारम्भिक ब्राह्मी और गुप्तलिपियो की एकता और अविच्छिन्नता की स्थापना कर

---

१ वही, खण्ड ४, पृ० ४७७ ।

२ वही, खण्ड ६, पृ० २१८, खण्ड ७ पृ० २६, ३३७, ६२९, ६३३ ।

३ कनिंघम आर्क्यालॉजिकल सर्वे रिपोर्ट्स, खण्ड १ ।

४ जर्नल ऑफ दि एशियाटिक सोसाइटी ऑफ बगाल, खण्ड ३, पृ० ७ । पट्ट ५ ।

दी । पहले कुछ विद्वानों को प्रारम्भिक ब्राह्मी लिपि मे ग्रीक वर्णमाला के किसी रूप का भ्रम हुआ था, प्रिंसेप के प्रयासो ने इस भ्रम का निराकरण किया। प्रिंसेप ने प्रथम स्वरों और अन्त स्थ चिह्नो को अलग किया और फिर व्यजनो को। उन्होने गुप्त वर्णो से उनका मिलान किया और उनके ध्वनिमानो का निश्चय करके उनका वर्गीकरण किया। इस प्रकार वे प्रारम्भिक ब्राह्मी अक्षरों मे अधिकतर को स्पष्ट करने मे समर्थ हुए । उनके द्वारा बनाई गई चिह्नो की सूची, 'उ' और 'ओ' के चिह्नो को छोडकर, बाद मे बिलकुल शुद्ध पाई गई । प्राय उसी समय फादर जेम्स स्टीवेन्सन ने ब्राह्मी वर्णों के स्पष्टीकरण के कार्य मे अपने को लगाया । उन्होने 'क', 'ज', 'प' और 'ब' वर्णो को पहचाना।[1] इन अक्षरों की सहायता से उन्होने अभिलेखो को पढने का प्रयास किया । किन्तु उनके मार्ग मे दो रोडे थे। प्रथम उनका ब्राह्मी वर्णमाला का ज्ञान अधूरा था, दूसरे उन्हें विश्वास था कि अभिलेखो की भाषा सस्कृत है । इसलिए वे इस कार्य मे आगे न बढ सके ।

१८३७ ई० मे जेम्स प्रिंसेप ने प्रारम्भिक ब्राह्मी को पढने का दूसरा प्रयास किया । उन्होने साँची के वेदिका एव द्वार स्तम्भो के छोटे-छोटे लेखो के प्रतिचित्रणो (स्टैम्पेज) को एकत्र कर उनका मिलान किया । सभी लेखो के अन्त के दो वर्णों को उन्होने समान पाया । अन्त के उन दो समान वर्णों से पहले 'स' था (जो सस्कृत 'स्य' का प्राकृत रूप है, अर्थ 'का') । आसानी से वे कल्पना कर सकते थे कि 'स' के पहले का शब्द व्यक्तिनाम होगा तथा इसके बाद का शब्द 'दान' या 'समर्पण' का समानार्थी होगा । अन्तिम दो वर्णों मे से प्रथम मे 'आ' की मात्रा थी और दूसरे मे अनुस्वार का चिह्न था। अब शब्द को आसानी से 'दानम्' पढा जा सकता था । इस प्रकार दो ब्राह्मी वर्ण स्पष्ट रूप से पहचान मे आ गये । उसी समय यह भी स्थापित हो गया कि लेख की भाषा प्राकृत है, सस्कृत नही । इसके बाद वर्णमाला के छह अज्ञात चिह्न प्राप्त किये गये, जिनमे इ, उ, श, स और ळ बूलर के द्वितीय पट्ट मे प्रकाशित किये गये ।[2] ग्रियर्सन को गया मे 'ण' वर्ण प्राप्त हुआ जो बूलर की 'इण्डियन स्टडीज'[3] मे आया है। ईसा पूर्व की तीसरी शती मे 'औ' के चिह्न की विद्यमानता अशोक[4] के तक्षको की गया वर्णमाला से सिद्ध हो जाती है। 'ऊ' और 'श' की पहचान[5] पहले

---

१ वही खण्ड ३, पृ० ४८५ ।
२ इण्डियन पेलियोग्रैफी ।
३ भा० ३, पृ० ३१, ७६ ।
४ बूलर इण्डियन स्टडीज, भाग ३, पृ० ३१ ।
५ कर्निघम इस्क्रिप्शन्स ऑफ अशोक, (सी० २, १, पट्ट २७) ।

कनिघम ने की। 'प' का एक रूप सेनार्ट[1] द्वारा पढा गया तथा दूसरा हार्नले द्वारा।[2] बूलर ने साँची के दान-अभिलेखो मे 'ळ' का पता लगाया।[3] ब्राह्मी वर्णो की पूर्ण एव वैज्ञानिक सूची बनाने का श्रेय निश्चय ही बूलर को प्राप्त है।

३. खरोष्ठी लिपि का स्पष्टीकरण

यदि खरोष्ठी अभिलेखो की भाषा के विषय मे भ्रम न होता तो खरोष्ठी लिपि का पढा जाना ब्राह्मी लिपि के पढे जाने की अपेक्षा सरल होना चाहिए था क्योंकि उत्तर-पश्चिमी भारत मे ग्रीक (यवन) और खरोष्ठी लिपियो मे अनेक द्विभाषी अभिलेख पाये गये है।

ब्राह्मी के पठन मे एक और सुविधा थी। यह निश्चित था कि इसमे प्रयुक्त भाषा भारतीय है और इसके अक्षर सस्कृत के है जो भली भाँति जाने हुए है।

कर्नल टॉड ने यवन, शक, पह्लव और कुषाण सिक्को का एक बडा ढेर सगृहीत किया जिनका समय ईसा पूर्व १७५ मे २०० था। उनमे दो भाषाएँ थी। एक ओर ग्रीक मे विरुद था और दूसरी ओर खरोष्ठी मे, जिसे तब तक न पढा गया था। १८२४ ई० मे कुछ विचार के बाद टॉड ने घोषित किया कि सिक्को के दूसरी तरफ प्रयुक्त लिपि एव भाषा ससानियन है—सम्भवत इस विचार से कि विदेशी, जिनके सिक्को का उन्होने सग्रह किया था, ससानियन लोगो से निकट का सम्बन्ध रखते थे। १८३० ई० मे जनरल वेन्तुरा ने मानिक्याला स्तूप की खुदाई की जिससे बहुत-से सिक्के तथा दो खरोष्ठी अभिलेख प्राप्त हुए। किन्तु वे उन्हें पढने मे समर्थ नही थे।[4] सर अलेकजैण्डर बर्न्स ने भी ग्रीक और खरोष्ठी विरुदधारी अनेक सिक्को का सग्रह किया। ग्रीक विरुद तो वे पढ पाये किन्तु खरोष्ठी विरुद के पढने का कोई सूत्र वे न खोज सके।

१८८३ ई० मे प्रिंसेप ने अनुमान किया कि अपॉलोडोटस के सिक्के के एक ओर की लिपि पह्लीवी[5] है तथा मानिक्याला अभिलेख की लिपि पाली (ब्राह्मी) है।[6] अपने अनुमान के उत्तर भाग के समर्थन मे उनकी धारणा थी कि खरोष्ठी लिपिको

---

१ सेनार्ट, इस्क्रिप्शन्स डी पियदसि।
२ जर्नल ऑफ दि एशियाटिक सोसायटी ऑफ बगाल, ५६, ७४।
३ एपिग्राफिया इण्डिका, २, पृ० ३६८।
४ ओझा प्राचीन लिपि माला, पृ० ४०।
५ जर्नल ऑफ दि एशियाटिक सोसाइटी ऑफ बगाल, खण्ड २, पृ० ३१३।
६. वही, खड ३, पृ० ३१८।

और व्यापारियो द्वारा प्रयुक्त पाली (ब्राह्मी) का ही घसीट रूप है।[1] आगे चलकर लिपि के अध्ययन ने उन्हे विचार-परिवर्तन के लिए विवश किया।

चा० मैसन ने, जब वे अफगानिस्तान मे पुरातत्त्व सम्बन्धी शोध मे व्यस्त थे, देखा कि सिक्को के एक ओर ग्रीक विरुद तथा सिक्कों के दूसरी ओर के खरोष्ठी विरुद मे अभिन्नता है। यह कार्य आगे बढने के लिए महत्त्वपूर्ण कदम था और इसने खरोष्ठी लिपि के स्पष्टीकरण के कार्य को सरलतर बना दिया। अनुमान द्वारा और अन्तत ग्रीक पदों के प्राकृत समानार्थी पद निश्चित करके उन्होंने खरोष्ठी विरुदो को पढा तथा मेनाण्डर, अपॉलोडोटस तथा हरमियस के सिक्को पर के खरोष्ठी चिह्नो को पहचाना। अपनी खोज के परिणामो को उन्होंने प्रिंसेप के पास भेज दिया।[2]

प्रिन्सेप ने मैसन की खोजो का अनुसरण किया। वे खरोष्ठी लिपि मे यवन राजाओ के बारह नामो तथा छह उपाधियों को पढने मे समर्थ हुए। उन्होने लिपि की दिशा दाये से बाये को निश्चित की। वे खरोष्ठी को सेमेटिक उद्गम वाली मानते थे। किन्तु उन्होने खरोष्ठी लिपि की भाषा के सम्बन्ध मे एक भूल की। उसने सोचा कि इसकी भाषा पह्लीवी थी। इस भूल ने स्पष्टीकरण की गति को अवरुद्ध कर दिया।[3] १८३८ ई० मे उन्हें लग गया कि भाषा पाली (प्राकृत) थी। भाषा के निर्धारण ने अब स्पष्टीकरण के कार्य को सुगम बना दिया। वे अब सोलह खरोष्ठी वर्ण पढ सकते थे।[4] अन्य छह चिह्न ई० नॉरिस द्वारा पढे गये, तथा शेष कनिंघम द्वारा। इस प्रकार सिक्को पर खरोष्ठी वर्णमाला का पढना पूरा हुआ।[5] जहाँ तक खरोष्ठी के स्वतन्त्र और बृहत्तर अभिलेखो के पढने का सम्बन्ध है, सिक्को पर के विरुदो की पढाई द्वारा अर्जित ज्ञान की सहायता से अशोक के शाहवाजगढी स्तम्भ-अभिलेख एव काँगडा के द्विभाषी (ब्राह्मी और खरोष्ठी दोनो के) अभिलेख, थोडे से सयुक्ताक्षरो को छोड कर, सतोषप्रद ढग से पढे गये। शक अभिलेख और अधिक सरलता से पढे गये। इसी प्रकार खोतान से प्राप्त धम्मपद की हस्तलिखित प्रति भी। जैसा कि पहले ही निर्देश किया जा चुका है, कुछ छिटपुट खरोष्ठी वर्णों के अति घसीट रूप तथा थोडे से सयुक्ताक्षर

१ जर्नल ऑफ दि एशियाटिक सोसाइटी ऑफ वगाल, पृ० ३१९।
२ प्रिन्सेप इण्डियन एण्टिक्विटीज, २, १७८-१८५, १२८-१४३।
३ जे० ए० एस० बी० खण्ड २, पृ० ३१३।
४ प्रिन्सेप इण्डियन एण्टिक्विटीज, खण्ड २, पृ० १२५-१४२,
५ वही, खड १, पृ० १७५-१८५, खड २, पृ० १२५-१४२, एच० एच० विल्सन आरियाना एण्टिक्वा, २४२, पाद०, जे० ए० एस० २३, ७१४। कनिंघम ए० एस० आर० आई०, ८।

तथा अनेक पह्लव और कुषाण अभिलेख अभी तक निश्चय के साथ नही पढे जा सकते थे। खरोष्ठी वर्णमाला की तुलनात्मक तालिका बनाने का श्रेय पुन बूलर को प्राप्त हुआ है।

४. सिन्धु घाटी की लिपि का स्पष्टीकरण

किसी द्विभाषी अभिलेख के अभाव मे जिसका एक पाठ सिन्धु घाटी की लिपि मे तथा दूसरा पहले से स्पष्ट की गई लिपि मे हो, सिन्धु घाटी की लिपि पहेली बनी हुई है और तब तक बनी रहेगी जब तक कि इसके स्पष्टीकरण का कोई प्रभावकारी सूत्र प्राप्त नही हो जाता। ऐसी परिस्थिति मे सिन्धु घाटी की लिपि का स्पष्टीकरण आनुमानिक प्रयासो की अवस्था मे है। नीचे इस दिशा मे किये गये कुछ अति महत्त्वपूर्ण प्रयासो का सक्षेप मे निर्देश किया जा रहा है

(१) मेरिगी ने सोचा कि सिन्धु घाटी की लिपि भाव-चिह्नो (आइडियोग्राम) मे बनी है। वह प्रत्येक स्वतन्त्र चिह्न को एक भाव-चिह्न समझते थे।[1]

(२) हण्टर[2] तथा लैंग्डन[3] ने सिन्धु घाटी की लिपि को ब्राह्मी का पूर्व-रूप माना है। हण्टर ने प्रत्येक चिह्न की प्रत्येक विद्यमानता को सूचीबद्ध करने की वैज्ञानिक पद्धति का अनुसरण किया।[4] उनका दावा था कि इस मार्ग द्वारा उन्होने कतिपय चिह्नो की व्याख्या प्राप्त कर ली है; उदाहरणार्थ, क्रमसूचक प्रत्यय, अपादान एव सम्प्रदान विभक्तियो के अत्य अक-चिह्न तथा 'दास' और 'पुत्र' शब्दो के निर्धारक। दोनो लिपियो की समानता केवल बाह्य है। जब तक ब्राह्मी वर्णो से समता रखने वाले सिन्धु घाटी के चिह्नो के ध्वनिमान असदिग्ध रूप से निश्चित नही हो जाते, इस मत के लिए दृढ निश्चय का दावा नही किया जा सकता।

(३) जर्मन विद्वान् ह्रोजनी, जिसने एशिया माइनर की घसीट लिपि मे लिखे हुए हत्ती (हिट्टाइट) अभिलेखो को पढा, की मान्यता थी कि हिट्टाइट और सिन्धु घाटी की लिपियाँ समान थी तथा सिन्धु घाटी की लिपि हिट्टाइट लिपि की ही भाँति पढी जा सकती है। ह्रोजनी दूरगामी निर्णयो तक पहुँचा किन्तु वे निर्णय अनेक काल्पनिक कथनो के कारण प्राय निर्बल पड जाते है। चयन-अवचयन के द्वारा

---

१ पी० मेरिगी जूर इन्दस्श्रिफ्त।

२ जी० आर० हण्टर दि स्क्रिप्ट ऑफ हरप्पा एण्ड मोहनजोदरो एण्ड इट्स कनेक्शन विद अदर स्क्रिप्ट्स्, १९३४।

३ मोहनजोदरो एण्ड दि इण्डस सिविलीज़ेशन, खण्ड २, पृ० ४२३-२४।

४ डेविड डिरिंजर अल्फाबेट, पृ० ८५, ८६।

उसने एक सौ दस चिह्नो को सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण चिह्नो के रूप मे पहचाना—जो किसी भी ध्वन्यात्मक या वर्णमालात्मक लिपि के लिए काफी बडी सख्या है। पुन स्थानान्तरण द्वारा उसने निश्चय किया कि इन चिह्नो मे से छियासी केवल छ ध्वनियो के लिए, पैंतालीस 'सि', 'से', 'स' और 'स्' चार ध्वनियो के लिए अभिप्रेत है। आलब्राइट ने ह्रोजनी के कार्य पर इस प्रकार अपना मत प्रकट किया है, "लिपि के स्पष्ट करने मे ह्रोजनी के कौशल को स्वीकार करते हुए, यह अनुभव अवश्य होता है कि उसने अति दुस्साध्य कार्य मे हाथ लगाया है।"

अध्याय पाँचवाँ
लेखन-सामग्री

लेखन के लिए सामग्री का चुनाव दो बातो पर निर्भर था—(१) देश के विभिन्न भागो मे उपयुक्त सामग्री की सुलभता, यद्यपि जब एक सामग्री देश के एक भाग मे प्रचलित हो जाती है तो वह दूसरे भागो मे भी पहुँच ही जाती है, तथा (२) अभिलेखो की प्रकृति, उदाहरणार्थ लबी-लबी पुस्तकें तथा साधारण पत्र लचीले कोमल तथा शीघ्र नष्ट होने वाली सामग्री पर तथा धार्मिक अनुशासन, राजाओ की प्रशस्तियाँ, व्यावहारिक लेख इत्यादि पत्थर, ताँबा, लोहा, चाँदी जैसी चिरस्थायी वस्तुओ पर उत्कीर्ण किये जाते थे। ये सामग्रियाँ उपयुक्त विवरण के साथ नीचे निर्दिष्ट की गयी हैं।

१. भूर्जपत्र

पुस्तकें एव लबे-लबे अभिलेखो के लिखने के लिए भूर्जपत्र प्राचीन भारत का एक सर्वसाधारण पदार्थ था। भूर्ज वृक्ष की यह भीतरी छाल होती थी। हिमालय प्रदेश मे इसकी उत्पत्ति बहुतायत से होती थी। प्रारम्भ मे उत्तर-पश्चिमी भारत[1] मे इसका प्रयोग होता था किन्तु बाद मे भारत के अन्य भागो तथा मध्य एशिया मे इसका प्रसार हुआ, यद्यपि दक्षिण मे ताड पत्रो के आधिक्य के कारण यह कभी अधिक प्रचलित नही हो सका।

लेखनोपकरण के रूप मे भूर्जपत्र का सर्वप्रथम उल्लेख ग्रीक लेखक क्विन्टस कर्टियस[2] के विवरण मे मिलता है। वह लिखता है कि सिकन्दर के भारत आक्रमण के समय भारतीय छाल पर लिखते थे, यद्यपि यह स्मरण रहना चाहिए कि अन्य ग्रीक लेखक केवल सूती वस्त्र या कागज का ही निर्देश करते है। अमरकोश[3] मे भूर्ज का उल्लेख वनौषधिवर्ग मे हुआ है। कालिदास के 'कुमारसम्भव' मे लेखन के उपकरण के रूप मे इसका निर्देश है तथा निम्नाकित शब्दो मे इसका वर्णन किया गया है :

---

१ तुलना करें, राजेन्द्र लाल मित्र गौवस पेपर्स, १७, काश्मीर रिपोर्ट, २९, नोट २।

२ ८।९।

३ भूर्जे चर्मि मृदुत्वचौ।२।४।४६।

"जहाँ (हिमालय पर) धातुरस (गैरिकादि) के द्वारा अक्षरो के लिखने से हाथी के (शरीर पर विशेष अवस्था सूचक रक्तवर्ण के बिन्दुओ के समान अकित भाग मे) लाल हो जाने वाले भूर्जपत्र विद्याधर-सुन्दरियो के प्रेम-पत्रो की लेखन-क्रिया द्वारा उपयोग मे आते है।"[१] उत्तरी बौद्ध कृतियो मे लेखन के उपकरण के रूप मे भूर्जपत्र का प्राय उल्लेख मिलता है।[२] इसके प्रयोग का सबसे विस्तृत वर्णन अल्बेरूनी के 'भारत' मे मिलता है।[३] "मध्य और उत्तरी भारत मे लोग 'तुज' वृक्ष की छाल का प्रयोग करते हैं, जिसका एक प्रकार धनुष के खोल के रूप मे प्रयुक्त होता है। यह भूर्ज कहलाता है। वे एक गज लम्बा तथा इतना चौडा जितनी हाथ की फैली हुई उँगलियाँ हैं या इससे कुछ कम एक टुकड़ा ले लेते है और इसे अनेक प्रकार से तैयार करते है। उसे कड़ा और चिकना करने के लिए उस पर तेल और पालिश लगाते हैं और तब वे उस पर लिखते हैं। प्रत्येक पत्र का उचित क्रम सख्या द्वारा निर्दिष्ट होता है। पूरी पुस्तक वस्त्र के एक टुकडे मे लपेट दी जाती है तथा उसी प्रकार की दो पट्टियो के बीच बाँध दी जाती है। इस प्रकार की किताब पुथी (पुस्त, पुस्तक) कहलाती है। अपने पत्र तथा जो कुछ भी उन्हें लिखना होता है वे 'तुज' वृक्ष की छाल पर लिखते है।"

भूर्जपत्र विभिन्न परिमाण के पाये जाते थे। वे लेखको की आवश्यकता एव रुचि के अनुसार विभिन्न आकार के टुकडो मे काट लिये जाते थे। अल्बेरूनी के अनुसार ये टुकड़े प्राय सवा गज लम्बे तथा नौ इच चौडे होते थे। घोट कर तथा तेल रगड़ कर उन्हें लिखने के योग्य बनाया जाता था। छाल पर, नरकुल की कलम द्वारा एव एक विशिष्ट प्रकार की स्याही से लिखा जाता था। पत्रो का मध्यभाग बिना लिखा ही छोड दिया जाता था तथा छेद दिया जाता था ताकि उनमे से डोरा निकल सके। वे दो समान आकार की, बीच मे छिदी हुई, तख्तियो मे बाँध दिये जाते थे।

मुगल शासन-काल मे भारत मे सस्ते और सुन्दर कागज के प्रवेश के बाद छाल का लेखन के उपकरण के रूप मे प्रयोग कम हो गया, यद्यपि अपनी पवित्रता के कारण धार्मिक पुस्तको तथा जन्त्रो के लिखने के लिए बहुत बाद तक इसका प्रयोग होता ही रहा। आज भी जन्त्र भोजपत्र पर लिखे जाते हैं।

---

१ न्यस्ताक्षरा धातुरसेन यत्र भूर्जत्वच कुञ्जरबिन्दुशोणा ।
व्रजन्ति विद्याधरसुन्दरीणामनङ्गलेखक्रिययोपयोगम् ॥१।७।

२ बार्थलिक सस्कृत वोरटरबुख इन कुर्जरर फास्सुग ।

३ इण्डिया (सखऊ) १।१७१।

४ इण्डिया (सखऊ) १।१७१।

छाल पर सबसे पुरानी हस्तलिखित प्रति खोतान से प्राप्त खरोष्ठी धम्मपद की है जिसका काल ईसा के बाद दूसरी या तीसरी शताब्दी है।[१] सयुक्तागम की हस्तलिखित प्रति ईसा की चौथी शताब्दी की है।[२] कालक्रमानुसार इसके बाद डोरे से बँधे हुए अभिलेख वे 'मोड' है जो मैसन के द्वारा अफगानिस्तान के स्तूपो से प्राप्त किये गये थे।[3] बोवर तथा गाडफ्रे सग्रह के हस्तलेख लगभग ईसा की छठी शताब्दी के है तथा बख्शाली अकगणित के हस्तलेख आठवी शताब्दी के है।[४] ये पुराने हस्तलेख केवल इसलिए बच सके कि वे बालू एव पत्थर के नीचे गडे रहे, जब कि उनके समकालीन अन्य लेख नष्ट हो गये। भूर्जपत्र पर की सबसे बाद की, पद्रहवी और उसके बाद की, शताब्दियो की हस्तलिखित प्रतियाँ काश्मीर से प्राप्त हुई हैं तथा पूना, लन्दन, ऑक्सफोर्ड, बर्लिन और वियना के पुस्तकालयो मे प्राप्य हैं। अब भी काश्मीर, उडीसा तथा भारत के अन्य भागो मे बहुसख्यक हस्तलिखित प्रतियाँ पायी जाती है।

२. ताड़पत्र

एक और लेखन-उपकरण जो प्राचीन भारत मे अति प्रचलित था, वह था ताडपत्र। बौद्ध जातक लेखन-सामग्री के रूप मे पर्ण (पण्ण) का निर्देश करते है, जो अतिसम्भवत ताडपत्र ही थे।[५] हुइली द्वारा लिखित हुएन्त्साग के जीवन-चरित मे एक अनुश्रुति है जिसके अनुसार भगवान् बुद्ध की मृत्यु के शीघ्र बाद हुई प्रथम बौद्ध सगीति मे त्रिपिटक ताडपत्र पर लिखे गये थे।[६] ताड मूलत दक्षिण भारत का ही देशज वृक्ष था, अत हम अनुमान कर सकते है कि लिखने के लिए इसका उपयोग दक्षिण मे प्रचलित हुआ और तब क्रमश भारत के दूसरे भागो मे फैला, यद्यपि काश्मीर, पजाब के एक भाग एव राजपूताना मे इसका प्रयोग नगण्य था। भारत के कुछ भागो मे लेखन के लिए ताडपत्रो का प्रयोग भूर्जपत्र के प्रयोग की अपेक्षा प्राचीनतर था। यह इस बात से सिद्ध होता है कि भूर्जपत्र आकार और परिमाण मे ताडपत्र के बराबर टुकडो मे काटा जाता

---

१ ओझा भारतीय प्राचीन लिपिमाला, पृ० १४४।

२ वही।

३ एच० एच० विल्सन एरियाना एण्टिक्वा, पट्ट ३, पृ० ५४ पर, स० ११।

४ जे० ए० एस० बी० इत्यादि ६५, २२५ इत्यादि।

५ कटाहक जातक, महासुतसोम जातक, काम जातक, चुल्लकालिंग जातक, रुरु जातक इत्यादि।

६ सि-यु-कि (बील द्वारा अनूदित) पृ० १६६-१७७।

था। तक्षशिला ताम्रपट्ट[1] जिसका सम्बन्ध ईसा की प्रथम सहस्राब्दी है, भी ताडपत्र के अनुरूप बनाया गया है।

ताडपत्र पर लिखा हुआ सबसे पुराना हस्तलेख एक नाटक के खण्ड का है जो मोटे तौर पर ईसा की दूसरी शताब्दी का है।[2] मैकार्टना द्वारा काशगर से प्राप्त हस्तलेख ईसा की चौथी शताब्दी मे रखे जा सकते हैं।[3] 'प्रज्ञापारमिता-हृदयसूत्र' और 'उष्णीषविजयधारणी' के हस्तलेख, जो मूलत मध्य भारत मे तैयार किये गये थे, जापान पहुँचे तथा अब होरीउज़ी विहार मे सुरक्षित है, वे ईसा की छठी शताब्दी के है।[4] स्कन्दपुराण का हस्तलेख जो अब काठमाण्डू के दरबार पुस्तकालय मे रखा है ईसा की छठवी शती का है।[5] 'परमेश्वरतन्त्र' की कैम्ब्रिज हस्तलिखित प्रति हर्ष स० २५२ (ईसा ८५८) की है।[6] बौद्ध कृति 'लकावतार' की हस्तलिखित प्रति मे अकित तिथि नेवार स० २८ (=९०६-७ ई०) है।[7] यहाँ यह द्रष्टव्य है कि ताडपत्र वाली पुरानी हस्तलिखित प्रतियाँ अधिकतर ठण्डे व शुष्क देशो तथा भारत के विभिन्न भागों मे पायी गयी है। ईसा की पन्द्रहवी शताब्दी से पूर्व की कोई हस्तलिखित प्रति दक्षिण भारत मे उस प्रदेश की गर्म एव आर्द्र जलवायु के कारण नही पायी गयी।

ताडपत्र लिखने के लिए एक विशेष प्रकार से बनाया जाता था। पुस्तके एव स्थायी लेख लिखने के लिए ताडपत्र पहले सुखाये जाते थे, तब पानी मे उबाले या भिगोये जाते थे और अन्त मे चिकने पत्थर या शख से घोटे जाते थे तथा उपयुक्त टुकडो मे काटे जाते थे। अपने प्राकृतिक रूप मे ताडपत्र साधारण और दैनिक उपयोग के लिए प्रयुक्त होते थे। तैयार किये हुए पत्र का आकार लम्बाई मे एक से तीन फुट तथा चौडाई मे एक से चार इच तक होता था। उत्तरी भारत मे ताडपत्रो पर लिखने लिए स्याही का प्रयोग होता था। दक्षिण मे पत्रो पर लौह लेखनी से अक्षर खोद दिये जाते थे और तब काजल या कोयले के चूर्ण से पोत दिये जाते थे। कम लम्बाई के पत्र

---

१ जे० आर० ए० एस० १८६३, २२२, पट्ट ३।

२ डॉ० लूडर्स द्वारा प्रकाशित (क्लीमेर सस्कृत टेक्स्ट्स, भाग १)।

३ जे० ए० एस० बी० ६६, पृ० २१८, पट्ट ७।

४ अनेकडोटा आक्सोनियन्सिया (आर्यन् सीरीज़), पृ० १-४।

५ कैटेलॉग ऑफ पामलीफ एण्ड सिलेक्टेड पेपर मैन्युस्क्रिप्ट्स बिलांगिग टु दि दरबार लाइब्रेरी, नेपाल, हरप्रसाद शास्त्री द्वारा सम्पादित, इगलिश प्रस्तावना, पृ० ५२।

६ वही।

७ ओझा प्राचीन लिपिमाला, पृ० १४३।

वीच मे एक ही ओर तथा पर्याप्त लम्बाई वाले वीच मे दोनो ओर छेद दिये जाते थे। छिद्रो मे से, पत्रो को साथ रखने के लिए, डोरी डाल दी जाती थी। भारत के सभी भागो मे ताडपत्र अधिकता से पाये जाते थे, इससे सिद्ध होता है कि देश मे इनका व्यापक प्रचार था। किन्तु सस्ते कागज के प्रवेश से ताडपत्रो का प्रयोग कम हो गया। प्रारम्भिक पाठशालाओं, मन्दिरो तथा देहाती दूकानो मे अपनी पवित्रता तथा सुलभता के कारण, ताडपत्र अव भी प्रयुक्त होते हैं।[1]

३. कागज

यह एक सामान्य मत रहा है कि भारत मे कागज का प्रथम प्रवेश मुसलमानो के द्वारा हुआ तथा सर्वप्रथम १०५ ई० मे चीनियो ने इसका निर्माण किया।[2] इस मत के विरुद्ध ग्रीक लेखक निआर्कस्, जो ईसा पूर्व ३२७ मे सिकन्दर के भारतीय अभियान मे उसके साथ आया था, लिखता है कि 'भारतीय लोग कपास को कूट कर लिखने का कागज वनाते रहे थे'।[3] धारा-नरेश भोज (११वी शती ईसवी) के 'पत्रलेखन' आदि छिट-पुट सदर्भों से सिद्ध होता है कि कागज का प्रयोग पत्र लिखने के लिए[4] होता था।

कागज पर लिखे सवसे पुराने हस्तलेख मध्य एशिया मे काश्गर और कुगीर मे प्राप्त हुए थे जो ईसा की पाँचवी शताव्दी की गुप्त लिपि मे लिखे है।[5] कुछ विद्वानो ने सदेह किया था कि इन हस्तलेखो मे प्रयुक्त कागज भारतीय मूल का है या नही। ईसा पूर्व की चौथी शताव्दी से ही भारत मे कागज के प्रयोग के ग्रीक प्रमाण के रहते यह सशय न्याय्य नही है।

भारत की जलवायु सम्वन्धी परिस्थितियो मे कागज टिकाऊ नही हो सकता। इसीलिए गुजरात और राजपूताने से प्राप्त कागज की हस्तलिखित प्रतियाँ ईसा की चौदहवी शताव्दी से पहले की नही हैं। यह सत्य है कि ताडपत्र एव भूर्जपत्र की अल्पमूल्यता एव सुलभता के कारण कागज का प्रयोग अल्प मात्रा मे होता था, साथ ही उन पत्तो मे भोडे प्रकार से निर्मित कागज की अपेक्षा अधिक शक्ति होती थी।

---

१ तुलना, ओझा प्राचीन लिपिमाला, पृ० १४३।

२ वार्नेट : एण्टिक्विटीज़ ऑफ इण्डिया, पृ० २२१।

३ स्ट्राबो, १५, ७१७, वूलर को कर्पास-कागज मे कर्पास-वस्त्र की भ्रान्ति हुई। (इण्डियन पेलियोग्रैफी, पृ० ९८)।

४ गोडस पेपर्स, १६।

५. जे० ए० एस० वी० ६६, २१५ इत्यादि, २५८ इत्यादि।

फिर भी प्राचीन काल से ही, मुसलमानो एव योरोपीय लोगो के प्रवेश के बहुत पहले से ही, भारत मे कागज के स्वदेशी कारखाने रहे हैं, और देश के किन्ही भागो मे वे अब भी बने हैं।[1] कागज के तावो पर चावल या गेहूँ की लेई का पतला लेप कर दिया जाता था और तब शख या पत्थर् के बेलन से उन्हें घोटते थे। यह प्रक्रिया आवश्यक थी जिससे स्याही भोंडे प्रकार से वनाये गये कागज को पार न कर सके। कागज सुविधाजनक आकार के खण्डो मे काट लिया जाता था। कागज पर का लेखन ताडपत्र पर के लेखन के ही अनुसार था। लिखने योग्य कागज के टुकडो के मध्य मे छेद किया जाता था और छेदो मे डोरी डाल कर उन्हें इकट्ठा बाँध दिया जाता था।[2]

४. सूती कपड़ा

सूती कपडा भी लेखनोपकरण के रूप मे प्रयुक्त होता था और अब भी विशिष्ट कार्यों के लिए इसका प्रयोग किया जाता है। इसके लिए प्रयुक्त विशिष्ट शब्द 'पट' 'पटिका' या 'कार्पासिक पट' थे।[3] पट के प्राचीनतम निर्देश आन्ध्रकालीन नासिक-अभिलेखो मे प्राप्त होते हैं।[4] उत्तरकालीन कुछ छन्दोमय स्मृतियाँ भी कपडे पर लिखने का निर्देश करती है। कपडा भी कागज की तरह अधिक टिकाऊ नही होता क्योकि नमी से यह कमज़ोर होता है तथा कीडे भी इसे बहुत पसन्द करते है। इसीलिए कार्पासिक पटीय अभिलेखो के अवशेष अधिक प्राचीन नही हैं। श्रृंगेरी मठ मे पट पर लिखित विवरण दो या तीन सौ वर्ष पुराने है।[5]

जैसलमेर के 'बृहज्ज्ञान कोश' मे स्याही से लिखे हुए जैन सूत्रो की सूची से युक्त एक रेशमी पट बूलर ने प्राप्त किया था।[6] अनहिलवाड पटन मे पीटर्सन को श्री प्रभसूरि के जैन ग्रन्थ 'धर्मविधि' की वि० स० १४१८ (१३६१-६२ ई०) की एक हस्तलिखित प्रति प्राप्त हुई है।[7] हस्तलिपि मे १३ इच चौडे तिरानवे पत्र हैं। अब भी जैन मन्दिरो मे अनेक कागज पाये जाते हैं जिनमे मन्दिर के अभिषेक के अवसर पर

---

१ तुलना, ओझा प्राचीन लिपिमाला, पृ० १४४।

२ अजमेर मे सेठ कल्यानमल्ल धद्ध के वशजो के यहाँ प्राचीन जैन हस्त-लेखो के सग्रह मे नमूने देखे जा सकते है।

३. जे० जॉली रेखतुन्द सिटे, ग्रुडरिस, २,८,११४।

४ नासिक अभिलेख स० ११ ए० वी० जो वी० एस० एस० आर० डब्ल्यू० आई० ४, १०४ इत्यादि मे उल्लिखित है।

५ जे० जॉली रेखतुन्द सिटे, ग्रुडरिस, २,८,११४।

६ इण्डियन पेलियोग्राफी, पृ० ९३।

७ वही।

बनाये गये मण्डल और आकृतियाँ होती है। ब्राह्मणो के विद्यासम्पन्न कुटुम्बोमे भी 'सर्वतोभद्र' 'लिङ्गतोभद्र' इत्यादि मण्डलो तथा 'मातृकास्थापन' एव 'गृहस्थापन' इत्यादि की रूपरेखाओ से युक्त पट प्राप्त है। राजस्थान मे एक वर्ग के लोग वस्त्र के लम्बे-लम्बे टुकडो पर पचाग बनाते है।[1] दक्षिण मे दूकानदार या व्यापारी स्थायी लेखा-जोखा रखने के लिए वस्त्र का प्रयोग करते है।[2]

कागज की तरह कपडे को भी चिकना और रध्रविहीन बनाने के लिए गेहूँ या चावल की लेई का पतला लेप कर दिया जाता था। सूखने पर शख या पत्थर से इसे घोटते थे। इस प्रकार काली स्याही से अक्षर लिखे जाते थे। मैसूर मे इमली के चीये की लेई से या पिसे हुए कोयले से कपडा काला कर लिया जाता है। इस प्रकार के वस्त्र के सूखे खण्डो पर खडिया या घिया पत्थर (स्टीलाइट) से अक्षर लिखे जाते हैं। मण्डल और आकृतियाँ कपडे पर आटे या रग से बनायी जाती हैं।

५. काष्ठपट्ट

काष्ठपट्टो तथा बाँस की शलाकाओ का, लेखनोपकरण के रूप मे, प्राचीनतम उल्लेख धार्मिक आत्म-हत्या-विषयक सिद्धान्तो के निषेध के प्रसग मे 'विनय पिटक' मे मिलता है।[3] फिर जातको मे उनका निर्देश है। जातको मे लेखन-पट्ट को 'फलक' कहा गया है, जो वर्णमाला सीखने के लिए प्रयुक्त होता था।[4] कुछ चिह्नों या अक्षरो से युक्त बाँस की शलाकाएँ बौद्ध भिक्षुओ के लिए यात्रार्थ आज्ञापत्रो (पासपोर्ट) का काम देती थी।[5]

'ललितविस्तर' के अनुसार पाठशालाओ मे चन्दन फलक स्लेटो की तरह प्रयुक्त होते थे।[6] महाराष्ट्र के शको के अभिलेखिक विवरण भी श्रेणी-भवनो मे ऋण सम्बन्धी स्वीकृति लिखने के लिए काष्ठ-फलको का निर्देश करते है।[7] कात्यायन-स्मृति, जिसका विषय व्यवहार विधि है, खडिया से फलक पर अभियोग लिखकर (पाण्डुलेख) उपस्थित करने का विधान करती है।[8] सस्कृत गल्प 'दशकुमार चरित' मे अपहार-

---

१ ओझा प्राचीन लिपिमाला पृ० १४६
२ वही।
३ रिज डेविड्स बुद्धिस्ट इण्डिया, पृ० १०८-९।
४ जातक स० १२५ (कटाहक जातक)।
५ बर्नाफ प्रस्तावना, अ हिस्तोरी दु बुद्धिज्म, २५९ नोट।
६ ललितविस्तर, १० (अग्रेजी अनु० पृ० १८१-८५)।
७ नासिक अभिलेख स० ७, १-४, बी० ए० एस० आर० डब्ल्यू० आई० ४, १०२ मे।
८ बर्नेल एलीमेण्ट्स् ऑफ साउथ इण्डियन पेलियोग्राफी, ८७ नोट २।

वर्मन् ने अपनी प्रेयसी को सम्बोधित कर अपना निर्णय घुटे काष्ठ पर लिखा था।[1] बर्मा मे हस्तलिपियाँ सोने या चाँदी के पानी से अलकृत काष्ठ की पट्टियो पर लिखी जाती थी। अक्षर काले होते थे।[2] इन हस्तलिपियो के नमूने ब्रिटिश म्यूजियम तथा योरोप के इसी प्रकार के अन्य पुस्तकालयो मे प्राप्त हैं।[3] यद्यपि इस प्रकार की हस्तलिपियो के नमूने भारत मे अब नही पाये जाते किन्तु इस बात के लक्षण विद्यमान है कि भारतीय भी साहित्यिक कार्यों के लिए काष्ठ-फलको का प्रयोग करते थे।[4] विण्टरनित्स से विदित होता है कि बोडलेन लाइब्रेरी के अधिकार मे आसाम से प्राप्त एक हस्तलिपि है जो काष्ठ-फलको पर लिखी गयी है।[5] उत्तरी भारत मे ऐसे उदाहरण पाये जाते है जहाँ निर्धन लोग खडिया से धार्मिक ग्रन्थों की प्रतिलिपि काष्ठ-फलको पर करते है। आज भी कक्षाओं मे विद्यार्थी, ज्योतिर्विद्या तथा देहाती दूकानदार काष्ठ-फलकों पर खडिया से लिखते हैं।

६. चर्म

पत्र, छाल तथा काष्ठ के रूप मे प्राकृतिक लेखनोपकरणो के सौलभ्य के कारण चमडे ने लेखनोपकरण के रूप मे प्राचीन भारतीयो का ध्यान आकर्षित नही किया।

इसके अतिरिक्त तपस्वियो द्वारा प्रयुक्त मृगचर्म तथा व्याघ्रचर्म के सिवाय चमडे को हिन्दू अपवित्र मानते थे तथा लेखन-कला के लिए भारत मे जिसका उद्भव धार्मिक प्रयोजनो के लिए हुआ था, उसका व्यवहार नही करते थे। पश्चिमी एशिया, मिस्र तथा योरोप मे जहाँ सहज-सुलभ लेखन उपकरणो का अभाव था और लोगो को पशु-सामग्री का प्रयोग करने मे घृणा नही होती थी साधारणत. चमडा लिखने के लिए प्रयोग मे आता था।

फिर भी भारतीय साहित्य मे चमडे के प्रयोग के कुछ प्रकीर्ण निर्देश मिल जाते है। डि आल्विस लिखता है कि कुछ बौद्ध कृतियो मे लेखन के उपकरणो मे चमडा सम्मिलित है।[6] सस्कृत-ग्रन्थ सुबन्धुकृत 'वासवदत्ता' के एक अश से यह अनुमान

---

१ उच्छ्वास २।
२ बर्नेल एलिमेन्ट्स ऑफ़ साउथ इण्डियन पेलियोग्राफी, पृ० ८७।
३ वही।
४ बूलर इण्डियन पेलियोग्राफी पृ० ९३।
५ वही।
६ कच्चायन की प्रस्तावना, पृ० २७, बूलर . इण्डियन पेलियो ग्राफी, पृ० ९५।

किया जाता है कि सुवन्धु के समय मे लिखने के लिए चमडे का प्रयोग होता था।[1] यहाँ यह सकेत कर देना चाहिए कि भारतवर्ष मे अब तक कोई चमड़े की हस्तलिपि नही प्राप्त हुई। पीटर्सवर्ग के सग्रह मे काशगर से प्राप्त भारतीय वर्णो से खुदे हुए कुछ चमडे के टुकडे है किन्तु यह नही कहा जा सकता कि ये टुकडे मध्य एशिया मे भारत से पहुँचे, क्योकि भारतीय वर्णो का वहाँ प्रसार हो गया था और स्थानीय लोग उनका प्रयोग करते थे। चमड़े का केवल एक नमूना—लिखने के लिए तैयार किये गये चमडे का कोरा खण्ड—जैसलमेर के जैन पुस्तकालय मे उपलव्व 'वृहज्ज्ञान कोश' की हस्तलिखित प्रतियो मे पडा पाया गया था।[2]

७. पत्थर

जव से मनुष्य ने गुहा की दीवार पर पहली खरोच मारी, वह अपनी कला की स्थिरता से प्रभावित हुआ। 'प्रस्तर-लेखन' टिकाऊपन का सूचक वन गया। जव लेखनकला व्यापक हुई, वे सभी आदेश जो महत्त्वपूर्ण और स्थायी समझे गये, पत्थर पर खोदे गये। वौद्ध सम्राट् अशोक (ई० पू० की तीसरी शताव्दी मे) विशेषरूप से निर्देश करते हैं कि उन्होने अपने आदेशो को पत्थर पर इसलिए खुदाया कि वे वहुत समय तक वने रह सकें।[3] कोमल लेखन के अन्य और लचीले उपकरणो के प्रचार के वावजूद स्थायी विवरणो के लेखन के लिए पत्थर का प्रयोग वर्तमान काल तक जारी रहा है। लेखन के माध्यम के रूप मे पत्थर निम्नाकित रूपो मे प्रयुक्त हुआ है

१. चिकनी की गयी या कभी-कभी खुरदरी चट्टाने।[4]
२ स्तम्भ।[5]
३. पट्टिका।[6]
४ मूर्ति का आसन[7] या पृष्ठभाग।[8]

---

१. 'विश्वे गणयतो विधातु शशिकठिनीखण्डेन तमो मसिश्यामेऽजिन इव नयसि ससारस्यातिशून्यत्वाच्छून्यविन्दव इव, वासवदत्ता (हाल का सस्करण), पृ० १८२।

२ वूलर इण्डियन पेलियोग्राफी, पृ० ९५।

३ चिलथितिका च होतूतीति। अशोक शिलालेख द्वितीय (टोपरा सस्करण)।

४ अशोक शि० ले०, हुलश इन्स्क्रिप्शनम् इण्डिकेरम्, भाग १।

५ अशोक स्त० ले०, वही वेसनगर गरुडस्तम्भ अभिलेख, लूडर्स की लिस्ट ६६९।

६. अयोध्या प्रस्तर अभिलेख एपि० इण्डिका० २०, पृ० ५७।

७ पटना मूर्ति अभि०, लूडर्स लिस्ट न० ९५७-५८।

८ वही।

५ पिटक या बर्तन की कोरे तथा ढक्कन ।[1]

६ स्फटिक ।[2]

७ मन्दिर की दीवारे ।[3] फर्श (तल) ।[4] तथा स्तम्भ ।[5]

८. गुहाएँ । [6]

जहाँ तक प्रस्तर-लेखन के विषय का सम्वन्ध है, उसमे निम्नाकित प्रकार सम्मिलित हैं ·

(१) राजो के आदेश या घोषणायेँ ।[7]
(२) राजप्रशस्ति ।[8]
(३) राजाओ के वीच की सन्धियाँ । [9]
(४) स्वीकृतियाँ (समझौते) ।[10]
(५) दान ।[11]
(६) स्मृतियाँ । [12]
(७) समर्पण ।[13]
(८) भूमि-दान ।[14]
(९) काव्य-स्राव ।[15]

---

१ पिप्रहवा बौद्ध भाण्ड अभि०, लूडर्स लिस्ट न० ९३१ ।
२ भट्टि प्रोलू स्तूप का एक अभि०, एपि० इ०, खण्ड २, पृ० ३२८ ।
३. लूडर्स लिस्ट, स० १४, २१, ६३, ६८, ७७, इत्यादि ।
४ वही ।
५ वही ।
६ भण्डारकर की लिस्ट स० १७१२, १७१३ इत्यादि ।
७ अशोकन इन्स्क्रिप्शन्स, हुल्श कार्पस इन्स्क्रिप्शनम् इण्डिकेरम्, खण्ड १ ।
८ खारवेल का हाथी गुम्फा अभि०, एपि० इण्डिका, २०, पृ० ७२ और आगे । समुद्रगुप्त का प्रयाग स्तम्भ अभिलेख, फ्लीट सी० आई० आई०, खण्ड ३, स० १ ।
९ वूलर इण्डियन पेलियोग्राफी, पृ० ९६ ।
१० वही ।
११ इण्डि० एण्टि० ३६, पृ० ११७ और आगे, ऑर्कि० सर० इण्डि० ए० आर० १९०८-०९, पृ० १२६ ।
१२ फ्लीट ९ सी० आई० आई०, खण्ड ३, पृ० ९२ इत्यादि ।
१३ एपि० इण्डिका, खण्ड ४, पृ० ५५ इत्यादि, एपि० इण्डि०, खण्ड ३१, पृ० ६० इत्यादि ।
१४ फ्लीट सी० आई० आई०, खण्ड ३, पृ० १२६ इत्यादि ।
१५ लूडर्स लिस्ट, स० ९९२, ९९७, ९९८, १०००, ११००, ११२५, ११२६, ११२४, ११४६ इत्यादि ।

(१०) साहित्यिक कृतियाँ।[1]
(११) कभी-कभी वृहत् धार्मिक ग्रन्थ।[2]

वर्णो के खोदने या अकित करने के पहले एक विशेष शिला, प्रस्तर का पट्ट या खण्ड चुना जाता था, उसे छील कर चिकना कर लिया जाता था और तब घिस कर चिकना किया जाता था। ऐसे अपवाद भी प्राप्त हुए है कि लिखने के लिए खुरदरे पत्थर का प्रयोग किया गया है। पहले पत्थर पर सीधी रेखाएँ खीची जाती थी, फिर सुलेखक उन पर स्याही या रग से लिखता था और अन्त मे खोदने वाला वर्णों को खोदकर अकित कर देता था। कलात्मक प्रतीति होने के लिए पार्श्व, शीर्ष एव अधोभाग मे स्थान रिक्त छोड दिया जाता था। कभी-कभी लेखन-क्षेत्र चारो ओर के किनारो से नीचा कर दिया जाता था। यदि खोदने के समय कोई टुकडा उखड जाता तो इस प्रकार के खोखले को किसी रूप्य वस्तु (प्लास्टिक) से भर दिया जाता था और तब उस पर अक्षर लिखे जाते थे। खुदे हुए विषय के प्रारम्भ तथा अन्त मे प्राय कोई मागलिक या धार्मिक चिह्न भी खोद देते थे।

८. ईंटें

यद्यपि मेसोपोटामिया तथा पश्चिमी एशिया के अन्य देशो मे लिखने के लिए लोग ईंट का सामान्य उपयोग करते थे किन्तु भारत मे लिखने के लिए ईंट का प्रयोग अत्यल्प हुआ है। कनिंघम[3], फूरर तथा अन्य पुरातत्त्वविदो ने अकेले या कुछ अक्षरो से युक्त कुछ ईंटें मूलत मन्दिर की दीवारो या रथिका या मूर्ति-पीठ मे जडी हुई भारत के विभिन्न भागो से प्राप्त की थी। कभी-कभी धार्मिक पाठ भी ईंटो पर खोद दिये जाते थे। इस प्रकार के अभिलेख का एक नमूना हो (Hoe) ने उत्तर प्रदेश (तब उत्तर पश्चिमी प्रान्त) मे प्राप्त किया था जिसमे बौद्ध सूत्र खुदे हुए थे।[4] ईंटो पर के कतिपय अभिलेख पुरातत्त्व सग्रहालय मथुरा मे सुरक्षित हैं, जो लिपिशास्त्र के आधार पर ईसा पूर्व की प्रथम शताब्दी मे रखे जा सकते हैं। ईंटो के

---

१ चाहमान राजा विग्रह चतुर्थ का 'हरिकेलि नाटक' तथा उसके राजकवि सोमदेव का 'विग्रहराजनाटक', इण्डि० एण्टि० २०, २०१ इत्यादि।

२ उन्नतिसिख पुराण—वि० स० १२२६ की एक जैन कृति, मेवाड मे बिजोलिया के समीप एक शिला पर खुदा है (ओझा भारतीय लिपिमाला, पृ० १५०, नोट ६।)

३ सी० ए० एस० आर० १, ९७, ५, १०२।

४. प्रोसी० ए० एस० बी० १८९६, पृ० ९९ इत्यादि।

अतिरिक्त मृत्पात्र[1] तथा मृत्तिका की मुद्राएँ[2] भी लेखनोपकरण के रूप मे प्रयुक्त होती थी। ईटो, मृत्तिका पात्रो तथा मृत्तिका मुद्राओ पर खुदाई का ढग यह था कि सुखाने या पकाने के पहले ही गीली मिट्टी पर वर्ण खुरच दिये जाते थे।

६. धातुएँ

पत्थर पर या ईटो पर खोदे गये अभिलेखो की तरह के लेखो के लिखने के लिए पत्थर और ईंट से अधिक स्थायी एव सुविधाजनक सामग्री धातु थी। यहाँ यह ध्यान मे रखना चाहिए कि पत्थर और ईट का प्रयोग अति प्राचीन काल से आज तक प्राय समान रूप से हुआ है, जब कि धातु प्राचीन काल मे अल्पता से प्रयुक्त हुई और बाद के काल मे अधिकता से इसका प्रयोग हुआ। लेखन के लिए प्रयुक्त धातुओ मे सोना, चाँदी, ताँबा, जस्ता, पीतल, लोहा तथा राँगा सम्मिलित किये जा सकते हैं।

(अ) सोना—बहुमूल्य होने के कारण इस धातु का प्रयोग बहुत ही कम होता था। तथापि बौद्ध जातको मे सोने पर धनी दूकानदारो के महत्त्वपूर्ण कौटुम्बिक लेखो, राजादेशो, काव्यछन्दो तथा नीति-सम्बन्धी सूक्तियो का प्राय निर्देश मिलता है।[3] किन्तु आसानी से माना जा सकता है कि जातक ग्रथो मे समाज का आदर्श चित्र प्रस्तुत किया जाता था और उसमे काल्पनिक तत्त्वो का विशिष्ट स्थान है। वर्नेल का कथन है कि राजपत्रो तथा भूमिदान के लिए भी सोना प्रयुक्त होता था।[4] कनिंघम ने खरोष्ठी मे दान-अभिलेख वाला एक स्वर्णपट्ट तक्षशिला के समीप गगु स्तूप से प्राप्त किया था।[5] बरमा मे ह्माज्वा ग्राम मे दो स्वर्णपत्र पायेगये है जिन पर बौद्ध सूत्र 'ये धम्मा हेतुप्रभवा' इत्यादि तथा इसके बाद पालि छन्द लिखा था। लिपिशास्त्रानुसार उनका सम्वन्ध ईसा की चौथी या पाँचवी शती से है।[6]

(आ) चाँदी—यद्यपि सोने से काफी सस्ती है किन्तु लेखनोपकरण के रूप मे इसका प्रयोग उससे भी कम हुआ है। अब तक चाँदी पर वहुत कम अभिलेख प्राप्त हुए हैं। चाँदी पर लिखे हुए छोटे हस्तलेखो तथा राजकीय लेखो के नमूने अव भी

---

१ इण्डि० एण्टि०, खण्ड० १४, पृ० ७५।
२ ए० एस० आर० आई०, १९०३-४, पट्ट ६०-६२।
३ रुरु जातक, कुरुधम्म जातक, तेसकुन जातक।
४ बी० एलीमेण्ट्स ऑफ साउथ इण्डियन पेलियोग्राफी, ९०-९३।
५ सी० ए० एस० आर०, द्वितीय १२९, पट्ट ५९।
६. एपि० इण्डि०, खण्ड ५, पृ० १२१।

सुरक्षित है। एक नमूना प्राचीन स्तूप भट्टिप्रोलू से प्राप्त हुआ है।[१] दूसरा तक्ष-शिला से प्राप्त हुआ था।[२] आज भी कुछ जैन मन्दिरो मे चाँदी के फलक विद्यमान हैं जिन पर 'नमोकार मन्त्र' जैसे पवित्र श्लोक तथा 'ऋषिमण्डल यन्त्र' जैसे तान्त्रिक सूत्र खुदे हैं।[३]

(ड) ताँवा—लिखने के लिए सब से अधिक प्रयोग मे आने वाली धातु ताँवा है। अति प्राचीन काल से यह प्रयोग मे आ रहा है। अभिलिखित ताँवे का पत्र या टुकडा अभिलेख के विषय के अनुसार ताम्रपट्ट, ताम्रपत्र, ताम्रशासन, शासनपत्र या दानपत्र कहलाता था। भूमिदान पत्रो को छोडकर, जो स्थायी रूप से ताँवे पर ही खोदे जाते थे और सस्कारपूर्वक प्रतिगृहीता को दिये जाते थे, ताँवे पर लिखे जाने वाले विषय प्राय वही होते थे जो पत्थर पर।[४]

जहाँ तक लिखने के लिए ताँवे के प्रयोग का सम्बन्ध है फाहियान लिखता है कि अपने यात्राकाल (४०० ई०) मे उसने तमाम बौद्ध विहारो के अधिकार मे ताँवे पर अभिलिखित दानपत्रो को पाया जिनमे से कुछ का सम्बन्ध बुद्धकाल से है।[५] निश्चित प्रमाण के अभाव मे इस विषय मे कुछ असदिग्ध रूप से नही कहा जा सकता। किन्तु यहाँ यह निर्देश कर देना चाहिए कि लिपिशास्त्र के अनुसार मौर्यकालीन सोहगौरा ताम्रपत्र की खोज[६] फाहियान के कथन को सम्भाव्य बना देती है। अन्य बौद्ध यात्री हुएनत्साग जो ईसा की सातवी शती मे भारत मे आया, लिखता है कि पार्श्व की प्रेरणा से कनिष्क ने एक बौद्ध सगीति बुलाई थी जिसने तीन टीकाएँ तैयार की ·(१) सुत्त पिटक पर उपदेशशास्त्र, (२) विनय पिटक पर विनयविभाषाशास्त्र और (३) अभिधम्म पिटक पर अभिधम्मविभाषाशास्त्र जो ताम्रपत्रो पर लिखे गये थे तथा जो पत्थर की पिटारियो मे रखे गये थे। पिटारियाँ उनके ऊपर बने स्तूपो मे रखी गयी थी।[७] उत्खनन मे ये अभी तक प्राप्त नही हो सकी। सायण के वैदिक भाष्य के ताँवे पर खुदे होने की एक ऐसी ही कथा है।[८] पर्याप्त प्रमाणो के अभाव मे बर्नेल इस

---

१ बूलर इण्डियन पेलियोग्राफी, पृ० ९५।
२ जे० आर० ए० एस०, १९१४, ९७५-६, १९१५, पृ० १९२।
३ ओझा प्राचीन लिपिमाला, पृ० १५२, फुटनोट ५।
४ तुलना, बूलर इण्डियन पेलियोग्राफी, पृ० ९५।
५ सि यु-कि (बील) प्रथम, ३८।
६. प्रोसी० ए० एस० बी०, १८९४, पृ० १।
७ तुलनार्थ, बर्नेल एलीमेन्ट्स ऑफ साउथ इण्डियन पेलियोग्राफी, पृ० ८६।
८. मैक्समूलर आर० आई०, २९

कथा को अविश्वसनीय मानते है।[1] त्रिपट्टी मे साहित्यिक कृतियो के ताम्र हस्तलेखो की विद्यमानता से धार्मिक और साहित्यिक कृतियो के ताँबे पर खोदे जाने की सम्भावना अधिक दृढ हो जाती है, यद्यपि ये अपेक्षाकृत बाद के काल के हैं।[2] बरमा और सिंहल से प्राप्त ताँबे पर खुदी हुई पुस्तको के कुछ नमूने ब्रिटिश सग्रहालय मे सुरक्षित है।[3] भारत मे निकले हुए ताम्र-अभिलेखो के अन्य प्रकारो की सूची बहुत बडी है। यह ध्यान मे रखना चाहिए कि ईसा की छठी शताब्दी तक लिखने के लिए ताँबे का प्रयोग बहुत अधिक नही था। बाद की बारहवी शताब्दी तक यह बहुत व्यापक बन गया और भारत मे मुसलमानो के आक्रमण के बाद पुन इसका प्रयोग कम पड गया।

ताम्रपत्र अनेक ढग से तैयार किये जाते थे। सोहगौरा ताम्रपत्र का एकमात्र उदाहरण ऐसा है जो बालू के साँचे मे ढाला गया था, जिसमे प्रतीको समेत वर्ण पहले ही लौह लेखनी से या नुकीली लकडी से खोद दिये गये थे। इस पत्र पर वर्ण औरप्र तीक दोनो ही उभरे हुए प्रतीत होते हैं।[4] अधिकाश ताम्रपत्र हथौडो से विभिन्न आकार और माप के बना लिये जाते थे। यह बात, स्पष्ट चोट के निशानो से, प्रमाणित हो जाती है। विभिन्न माप और मोटाई के ताम्रपत्र तैयार किये जाते थे। उनमे से कुछ इतने पतले होते थे कि वे दोहरे झुका दिये जा सकते थे तथा उनका भार कठिनाई से कुछ-एक छटाँक होता था, यद्यपि उनमे से कुछ बहुत मोटे और भारी होते थे और उनकी तौल लगभग नौ पौण्ड या इससे भी अधिक थी।[5] उनका आकार दो बातो पर निर्भर करता था—(१) उस जिले मे जहाँ ताम्रपत्र प्रदान किया जाता था, लिखे जाने वाले उपकरणो का आकर (२) लेख्य विषय अर्थात् लिपिक द्वारा तैयार किये गये लेख का आकार।

यदि धातुकार के सम्मुख ताडपत्रो का आदर्श होता तो ताम्रपत्र उसकी लम्बाई एव सकीर्णता के अनुमार बनाया जाता, यदि भूर्जपत्र आदर्श होता तो ताम्रपत्र की चौडाई बढ जाती थी और वे लगभग वर्गाकार बन जाते थे। सामान्यत दक्षिण मे ताम्रपत्र ताडपत्र के अनुसार और उत्तर मे भूर्जपत्र के अनुसार बनते थे। (ताडपत्र के

---

१ साउथ इण्डियन पेलियोग्राफी।

२ बूलर इडियन पेलियोग्राफी, पृ० ९५।

३ जर्नल पाली टेक्स्ट सोसाइटी, १८८३, पृ० १३६ इत्यादि।

४. फ्लीट जे० आर० ए० एस०, १९०७, पृ० ५१० इत्यादि।

५ तक्षशिला ताम्रपत्र, जो तौल मे ३ ३-४ औंस है दुहरा मुडा हुआ पाया गया था। वलभी के शिलादित्य चतुर्थ के अलिन ताम्रपत्र भी कुल मिलाकर १७ पौण्ड ३ ३।४ औंस है, फ्लीट सी० आई० आई० ३, पृ० १७२।

आधार पर बना हुआ तक्षशिला का ताम्रपत्र इसका अपवाद है ।) गुजरात और उत्तरी भारत के ताम्रपत्रो मे स्पष्ट है कि प्रशस्तियो के बढते हुए आकार के अनुसार ताम्रपत्रो का आकार भी बढ जाता था ।[1]

एक ताम्रशासन मे पट्टो की सख्या लेख के आकार पर निर्भर थी । यदि एक लेख्य (डाकूमेन्ट) के लिए एक से अधिक पट्ट प्रयुक्त किये जाते तो उनमे छेदकर उन्हे ताँबे के छल्लो से बाँध दिया जाता था। यदि एक ही छल्ला होता तो छेद प्राय पट्ट के बाईं ओर किया जाता था, जब दो छल्ले होते तो छेद पहले पट्ट के निम्नभाग मे मे और दूसरे पट्ट के ऊपरी भाग मे से होता था । इसी प्रकार एक के बाद दूसरा छेद किया जाता था । छल्ले डोरे का काम देते थे और विभिन्न ताडपत्रो को एक माथ नत्थी रखते थे तथा ताम्रपत्रो को पुस्तक जैसा बना देते थे जिसे आसानी मे खोला जा सकता था ।[2]

ताम्रपत्र पर पर्याप्त हाशिया छोड दिया जाता था । रेखाएँ प्राय पत्र के अधिक चौडे पार्श्व के समानान्तर चलती थी । सर्वप्रथम एक कुशल लेखक विशिष्ट अधिकारियो द्वारा तैयार किये गये विवरण को ताम्रपत्र पर स्याही से सुन्दर स्पष्ट अक्षरो मे लिखता था । इसके बाद लोहार या सोनार छेनी से और यदा-कदा नक्काशी करने के औजार मे उस पर अक्षर खोदता था । कभी-कभी रेखाओ के बदले बिन्दुओ से वर्ण बनाये जाते थे ।[3] दक्षिण के अनेक ताम्रपत्रो पर के सूक्ष्म वर्णों से यह अनुमान होता है कि पहले ताम्रपत्रो को खडिया से रगडा जाता था, तब लेखक उस पर नुकीले लोहे के टुकडे से अक्षर खीच देता था और अन्त मे सुनार या लोहार उत्तम यत्र से उन पर खुदाई कर देता था। विवरण की सुरक्षा के लिए पट्टो की कोरे उठी हुई और मोटी बना दी जाती थीं, इमी उद्देश्य मे पहले पट्ट का पहला पृष्ठ और अन्तिम पट्ट का दूसरा पृष्ठ खाली छोड दिया जाता था ।[4]

राजकीय शासनो मे पट्टो पर विभिन्न रीतियो से राजकीय मुद्रा लगा दी जाती थी । कभी-कभी यह मुद्रा पट्टो को एक साथ रखने वाले छल्लो के जोडो को ढकने वाले धातुखण्ड पर लगा दी जाती थी ।[1] प्राय राजकीय मुद्रा अलग से ढाल ली जाती थी

---

१ तुलनार्थ वलभी के राजाओ के अभिलेख, कतिपय गुप्त नरेशो के अभिलेख तथा मध्ययुगीन राजवशो के अभिलेख ।

२ एपि० इण्डि०, भाग १, पृ० १ (आठवी शताब्दी के कसकुडी दानपत्र ११ पट्टो पर तथा चतुर्थ शताब्दी के हीराहडगल्ली दानपत्र आठ पट्टो पर उत्कीर्ण हैं ।

३ एपि० इण्डि०, भा० ४, पृ० ५६ ।

४ तुलनार्थ, फ्लीट सी० आई० आई० ई०, पृ० ६८, पादटिप्पणी ६ ।

तथा अभिलेख और अक विपरीत दबी हुई सतह पर उभार दिये जाते थे ।[२] किन्ही अवसरो पर यह ताम्रपत्र पर ही खोद दी जाती थी ।[३] साधारण रूप से ताम्रपत्रो के साथ लगी हुई मुद्राएँ ताँवे की होती थी । विरल परिस्थितियो मे अन्य उद्देश्यो के लिए यह सोने की वनी होती थी, जैसा कि वाण के कथन से स्पष्ट है, हर्षवर्धन सोने की मुद्रा का प्रयोग करते थे ।[४]

(ई) पीतल—स्वतन्त्र अभिलेखो के लिए लेखनोपकरण के रूप मे पीतल का प्रयोग शायद ही कभी हुआ है। पीतल की वडी मूर्तियो के पादपीठ या छोटी पीतल की मूर्तियो की पीठ पर वहुत छोटे अभिलेख प्राप्त हुए हैं। ऐसी मूर्तियो की प्राचीनतम तिथि ईसा की सातवी शती है और प्राय वे सव जैन धर्म से सम्वन्धित है । कुछ जैन मन्दिरो मे पीतल के पत्र प्राप्त होते है जिन पर धार्मिक सिद्धान्त अकित हैं ।[५]

(उ) काँसा—जहाँ तक इस धातु का सम्बन्ध है केवल काँसे की घटियो पर दाताओ के नाम तथा दानतिथि खुदी पायी जाती है ।[६] स्वतन्त्र लेखन के लिए पीतल की तरह इसका प्रयोग विरल था ।

(ऊ) लोहा—यद्यपि उपकरणो, शस्त्रो तथा अन्य मानवीय आवश्यकताओ के लिए लोहे का प्रयोग सामान्य रूप से होता था, लिखने के लिए इसका प्रयोग यदा-कदा ही होता था । दिल्ली मे कुतुवमीनार के समीप स्थित मेहरौली का लौह स्तम्भ-अभिलेख एकमात्र उदाहरण है जहाँ लोहे के ऊपर वहुत वडी प्रशस्ति खुदी हुई है । शिव-त्रिशूल तथा लोहे की वनी हुई तोपो पर छोटे-छोटे अभिलेखो के कुछ उदाहरण पाये जाते हैं ।[८] लिखने के लिए लोहे का विरल प्रयोग सम्भवत इस कारण था कि इसमे साधारण रूप से मोरचा लग जाता है और वरवाद हो जाता है, मेहरौली का लौह स्तम्भ एक विरल अपवाद है जहाँ मोरचा न लगने वाला लोहा वनाया गया था ।

---

१ तुलनार्थ, परमारो, चालुक्यो तथा सेनो के अभिलेख ।

२ प्रतीहार वश के भोज, महेन्द्रपाल तथा विनायकपाल के अभिलेख (इण्डि० एण्टि०, भाग १५, पृ० ११२, १४०) ।

३ मालवा के परमारो के अभिलेख ।

४ हर्षचरित (निर्णयसागर प्रेस), पृ० २२७ ।

५ पीतल पर उत्कीर्ण अभिलेख के उदाहरण आवू पहाड पर जैन मन्दिरो की मूर्तियो पर पाये जाते हैं ।

६ केवल वहुत वाद के कास्य अभिलेख के उदाहरण प्राप्य हैं ।

७ फ्लीट सी० आई० ई०, खण्ड ३, पृ० १३९ ।

८. ऐसे उदाहरण ईसा की पन्द्रहवी एव उसके वाद की शताब्दियो के हैं ।

(ए) राँगा—भारत मे इस धातु की कमी के कारण इसका लिखने के लिए प्रयोग अल्प था। राँगे पर लेखन का केवल एक उदाहरण है, राँगे पर खुदी हुई एक बौद्ध हस्तलिपि का नमूना ब्रिटिश म्यूजियम के अधिकार मे है।[1]

१०. स्याही

पत्थर, ईंट, धातु इत्यादि कडे पदार्थों पर लिखने के लिए जहाँ खुदाई या अकन आवश्यक था वहाँ स्याही या किसी प्रकार के रग की आवश्यकता नही थी। ऐसी परिस्थिति मे छेनी या वरमे से काम चल जाता था, यद्यपि वाद को कही-कही रग का प्रयोग भी होता था। किन्तु भूर्जपत्र, ताडपत्र, कागज, कपडा, चमडा इत्यादि कोमल पदार्थों पर लिखने के लिए किसी न किसी प्रकार की स्याही या रग का प्रयोग होता ही था।

भारत मे स्याही के लिए प्रयुक्त शब्द 'मसि' या 'मसी' था। ये शब्द गृह्यसूत्रो मे, जो निश्चय ही ईसवी सन् के पूर्व लिखे गये थे, वहुलता से मिलते हैं। जहाँ तक 'मसि' या 'मसी' शब्द की व्युत्पत्ति का सम्वन्ध है, यह सस्कृत धातु 'मस्' (हिंसायाम्) (कुचलना या कूटना) से निकला है।[2] स्याही को तैयार करने मे इसके घटक कूटें और मिलाये जाते थे, इसलिए इसके लिए 'मसी' शब्द का प्रयोग होता था। हिन्दी के 'मसलना' शब्द मे इस शब्द का मूल अर्थ अब भी सुरक्षित है। भारतवर्ष के किन्ही भागो मे स्याही के लिए प्रयुक्त होने वाला शब्द 'मेला' है। इस व्यवहार के आधार पर बेनफी, हिन्क्स तथा वेबर ने ग्रीक शब्द मेलस (melas) से 'मेला' पद को निकालने का प्रयास किया है।[3] बूलर ने प्रस्ताव किया कि 'मेला' शब्द देशी भाषा के 'मैला' (गन्दा या काला) शब्द से व्युत्पन्न है और इसका अन्यदेशीय मूल खोजना अनावश्यक है। किन्तु 'मेला' शब्द की अधिक सम्भव व्युत्पत्ति संस्कृत 'मेल' (मिलाना) धातु से है। 'मेला' शब्द का स्पष्ट अर्थ मिलाने की अवस्था है, जो स्याही की तैयारी मे अनेक घटको के मिश्रण का सूचक है। स्याही के अर्थ मे 'मेला' शब्द का प्रयोग सस्कृत लेखको द्वारा भी हुआ है। उदाहरणार्थ सुवन्धु ने 'मेलनन्दयते' पद का प्रयोग किया है।[2] सस्कृत कोशो मे मसीपात्र के लिए प्रयुक्त शब्द 'मेलनन्द', 'मेलन्धु', 'मेलन्धुक'

---

१ जर्नल पालि टेक्स्ट्स सोसाइटी, १८८३, पृ० १३४ इत्यादि।
२ बोथलिंक तथा राथ सस्कृत वोर्टरबुख, देखिए अक्षर 'मसि'।
३ जे०वरे, नेग्विस्टीन गौट, गेस, विस, १८९३, पृ० २३५ इत्यादि।
४ बोथलिंक तथा राथ सस्कृत वोर्टरबुख।

हैं । इससे भी स्पष्ट हो जाता है कि सस्कृत लेखक 'मेला' शब्द से भली भाँति परिचित थे ।[1] तथापि मसी शब्द का प्रयोग अतिबहुल था तथा स्याही के वर्तन के लिए प्राय 'मसिपात्र', 'मसिभाड' और 'मसिकुपिका' शब्द प्रयुक्त होते थे ।

ईसा पूर्व की चौथी शताब्दी मे भारतीयों द्वारा स्याही का प्रयोग ग्रीक लेखक निआर्कस तथा कर्टियस[2] द्वारा प्रमाणित हो जाता है । वे अपने विवरण मे लिखते है कि भारतीय लोग कागज तथा सूती कपडे पर लिखते है । यह लेखकों द्वारा स्याही के प्रयोग का स्पष्ट सकेत है । अशोक के कतिपय शासनो पर किन्ही अक्षरो को बनाने मे घुमाव के स्थान पर बिन्दु रखे गये हैं जिससे प्रतीत होता है कि शासनो की खुदाई के समय स्याही का प्रयोग होता था ।[3] स्याही से लिखने का सबसे प्राचीन उदाहरण अन्धेर स्तूप की अस्थि-मजूषा मे मिलता है, जो किसी भी दशा मे ईसा पूर्व की दूसरी शती के बाद का नही है ।[4] स्याही का अधिक व्यापक प्रयोग खोतान से प्राप्त खरोष्ठी हस्तलिपियो मे प्राप्त होता है, जिनका तिथि-अकन ईसा की प्रथम शती से होता है । अफगानिस्तान मे भी उसी शताब्दी के भूर्जपत्र की कुण्डलियों तथा मृत्तिका-भाण्डो पर मसिलेखन के उदाहरण उपलब्ध हुए हैं । कुछ ही बाद के भूर्जपत्र और ताड-पत्रो पर स्याही से ब्राह्मी अक्षरो मे लिखी हस्तलिपियाँ भी प्राप्त होती हैं ।[5] अजन्ता की गुफाओ मे रग से लिखे गये कुछ अभिलेखो के उदाहरण हैं ।[6]

अनेक प्रकार की स्याही का प्रयोग होता था जिनमे काली स्याही सबसे अधिक व्यापक थी । यह दो प्रकार की होती थी साधारण या मिट जाने वाली, सामान्य प्रयोजन के लिए तथा स्थायी या न मिटनेवाली, स्थिर रखने योग्य हस्तलिपियो एव विवरण लिखने के लिए । पहली किस्म बारीक पिसे हुए कोयले को पानी, गोद, चीनी, या अन्य किसी चिपकने वाले पदार्थ के साथ मिलाकर बनाते थे । स्थायी किस्म (प्रकार) लाख को पानी, सोहागा, लोध्र (सफेद फूलो वाला एक वृक्ष) तथा तिल के तेल के काजल के साथ मिलाकर खौला कर गाढा घोल बना लेते थे । इस प्रकार की मसि न मिटने वाली होती थी तथा पानी या नमी का इस पर प्रभाव नही पडता था ।[7] काश्मीर

---

१ मेला मसीजल पत्राञ्जन च स्यान्मसिर्द्वयो इति त्रिकाण्डशेष , अमरकोष ३।५।१० पर उद्धृत ।

२ स्ट्राबो १५।७१७ हिस्ट० अले० ८।६।

३ बूलर इण्डियन स्टडीज, ३, पृ० ६ इत्यादि, ६९ ।

४ बूलर इण्डियन पेलियोग्राफी, पृ० ९८ ।

५ वही ।

६ वी ए० एस० आर० डब्ल्यू० आई०, पृ० ४, पट्ट ५९ ।

७ ओझा प्राचीन लिपिमाला, पृ० १५५ ।

मे भूर्जपत्रो पर लिखने की स्याही वादाम के कोयले को गाय के मूत्र मे खौलाकर वनाते थे ।[1] जव हस्तलिपियाँ समय-समय पर जल-प्रणालियो मे धोयी जाती थी तो इस प्रकार से तैयार की गयी स्याही क्षति से सर्वदा मुक्त रहती थी। । दक्षिण मे स्याही का प्रवेश कुछ वाद को हुग्रा ।

रगीन किस्मो मे लाल सवसे ग्रविक प्रचलित थी तथा पीली का भी कभी-कभी प्रयोग होता था । रगीन स्याही से लिखी हुई हस्तलिखित प्रतियो के दान का पुराणो मे उल्लेख है ।[2] उत्तरी भारत के जैन लेखक भी प्राय' रगीन स्याही का प्रयोग करते थे ।[3] लाल स्याही या तो ग्रलक्तक (लाल रग) या हिंगुल से वनायी जाती थी। ये पदार्थ पानी मे गोद या ग्रन्य किसी लसदार वस्तु के साथ घोल लिये जाते थे । हस्नलिपियो मे लाल स्याही ग्रविकाशत मात्राएँ तथा मूल के दाहिनी एव वायी ग्रोर हाशिया खीचने मे प्रयुक्त होती थी । कभी-कभी ग्रध्यायो के ग्रन्त, विराम तथा 'इति ग्रमुक' जैसे वाक्याश भी लाल स्याही से लिखे जाते थे । हरी ग्रौर पीली स्याही कुछ जैन लेखको (ग्राचार्यों) की रुचि के ग्रनुकूल थी जो ग्रध्यायो के ग्रन्तिम ग्रश इससे लिखते थे ।[4] कथासरित्सागर के रचयिता सोमदेव रक्त से लिखने का निर्देश करते हैं,[5] जिसे वर्नेल लेखक की कोरी-मनगढत वात मानते है । यह ध्यान रहे कि सोम-देव जगल मे स्याही के ग्रभाव मे खून से लिखने का निर्देश करता है । कभी-कभी विशिष्ट लोग ग्रपने उद्देश्य की पवित्रता एव दृढ निश्चय दिखाने के लिए ग्रपनी प्रतिज्ञाग्रो को रक्त से लिखते थे । किन्तु ऐसे उदाहरण ग्रति विरल है ।

चित्रो पर कलात्मक ग्रभिलेखन के लिए या धार्मिक ग्रन्थो या धनी सरक्षको के प्रयोग मे ग्राने वाली साहित्यिक कृतियो की भी हस्तलिखित प्रतियाँ तैयार करने मे स्वर्ण या रजत मसि का प्रयोग होता था ।[6] साहित्यिक साक्ष्य से प्राचीन काल मे इन स्याहियो के प्रयोग का निर्देश मिलता है यद्यपि उपलब्ध उदाहरण वहुत वाद के है ।

---

१ वर्नेल साउथ इण्डियन पेलियोग्राफी, पृ० ९३ ।

२ हेमाद्रि, दानखण्ड, ४५९ इत्यादि ।

३ तुलनार्थ, फेसिमिलीज़ इन राजेन्द्र लाल मित्र'स नोटिसेज़ ग्रॉफ सस्कृत मैनुस्क्रिप्ट्स् ३, पट्ट १ ।

४ ग्रोझा प्राचीन लिपिमाला, पृ० १५६ ।

५ ता कथामात्मशोणितै ग्रटव्यां मष्यभावाच्च लिलेख स माकवि ।१।८।३

६ तुलनार्थ, ग्रजमेर के सेठ कल्यानमल का सग्रह (ग्रोझा प्राचीन लिपि-माला, पृ० १५६) ।

११. औज़ार

लिखने के औजार साधारण रूप से 'लेखनी' कहे जाते थे। यह शब्द भारत के बडे-बडे महाकाव्यो मे आता है।[1] यह एक व्यापक शब्द है और कलम, लौह लेखनी, पेन्सिल, नरकुल, लकडी, लोहा, रेशो या वालो से बने ब्रुश (तूलिका) के अर्थ मे अनेक प्रकार से प्रयुक्त हुआ है। इस शब्द के व्यापक प्रचार के पीछे यह तर्क है कि लेखन से खुदाई और रँगाई या लेखन-सामग्री दोनो का वोध होता था।

लिखने के औजारो के सूचक दूसरे शब्द इस प्रकार हैं

(१) वर्णक—इस पद का शाब्दिक अर्थ 'वर्ण को वनाने वाला' है। यह कलम के अर्थ मे प्रयुक्त होता था। 'ललितविस्तर' मे एक विना चिरी हुई छोटी वर्निका या वत्ती का निर्देश है जो पाठशाला के विद्यार्थियो द्वारा लिखने की पट्टी पर वर्ण खीचने मे प्रयुक्त होती थी।[2]

(२) वर्णिका—सस्कृत कोशो मे पाया जाने वाला यह शब्द 'वर्णक' का ही दूसरा रूप है।[3]

(३) वर्णवर्तिका—यह रँगी हुई वत्ती थी। 'दशकुमार चरित' मे इसका निर्देश है।[4]

(४) तूलि या तूलिका—साधारणतया ब्रुश के अर्थ मे इसका प्रयोग होता था।[5]

(५) शलाका—इसका अर्थ था लौह-लेखनी या खोदनी।[6]

लेखन-कला से सवधित अन्य साधन परकार और रूल थे। परकार केवल ज्योतिर्विदो द्वारा वृत्तो और एक दूसरे की काटते हुए वृत्तो से युक्त कुण्डलियाँ वनाने मे और कभी-कभी ग्रन्थ के अध्यायो के अन्त मे कुछ लेखको द्वारा कलात्मक आकृतियाँ वनाने के लिए प्रयुक्त होता था। इन कार्यों मे प्रयुक्त होने वाले परकार विशिष्ट

---

१ तुलनार्थ, वी० आर० डब्ल्यू० और वी० डब्ल्यू० मे देखिए यही शब्द।
२ ललितविस्तर, अ० १०, पृ० १८१-१८५ (अग्रेज़ी अनु० से)।
३ अमरकोश, ३।५।३८। मेदिनी, वर्णक के अन्तर्गत।
४ द्वितीय उच्छ्वास।
५ अमरकोश ३।१०।३२।
६ अयस्कान्तमणि शलाका मालती माधव, १।२।

रूप से परिशुद्ध होते थे। सीधी और समानान्तर रेखाओ के खीचने के लिए रूल का भी प्रयोग होता था। यह लकडी का एक टुकडा था जिस पर बराबर दूरी पर डोरियाँ लगी रहती थी। इसे 'रेखापटि' या 'समासपटि' कहते थे।[1]

---

१ ओझा · प्राचीन लिपिमाला, पृ० १५७।

अध्याय छठवाँ

लेखन तथा उत्कीर्णन का व्यवसाय

भारतवर्ष मे वर्णमाला का आविष्कार साहित्यिको, अध्यापको तथा पुरोहितो द्वारा, साहित्यिक एव धार्मिक उद्देश्यो के लिए हुआ था। इसमे सदेह नही कि वर्णमाला के आविष्कार के लिए भाषाज्ञान तथा स्वरज्ञान की आवश्यकता थी, अत यह कार्य केवल कुशल, शिक्षित एव सस्कृत जनो द्वारा ही अपनाया जा सकता था। यही कारण है कि बहुत समय तक लेखनकला, ब्राह्मणवर्गीय साहित्य और पौरोहित्य विशारदो की विशिष्ट थाती बनी रही। जब तक साक्षरता का प्रसार और प्रयोग सीमित था, व्यावसायिक लेखको की अर्थात् ऐसे लेखको की जो अपने जीविकोपार्जन के लिए लेखनकार्य करते थे, कोई आवश्यकता नही थी। समाज के विकास एव प्रसार तथा व्यवसायो के विभाजन के साथ-साथ लेखन का भी एक व्यवसाय के रूप मे विकास हुआ। भारतवर्ष के प्राचीन साहित्य मे इस बात के प्रचुर निर्देश है कि प्राचीन काल मे व्यावसायिक लेखको का एक वर्ग या जाति वर्तमान थी।[1] विभिन्न —कालक्रमिक, कलात्मक एव राजकीय—कारणो से उनके भिन्न-भिन्न अभिधान थे। सक्षेप मे उनका विवरण इस प्रकार है

१. लेखक

साधारणतया लिखने वालो के लिए प्रयुक्त होने वाला प्राचीनतम शब्द 'लेखक' था। यह शब्द तथा इसके समानार्थी पद[2] भारत के महाकाव्यो—रामायण और महाभारत—मे पाये जाते हैं।[3] महाकाव्यो मे इन शब्दो का प्रयोग यह सिद्ध करता है कि इन काव्यो की रचना के समय लिखने की कला तथा व्यवसाय दोनो विद्यमान थे। लेखन-व्यवसाय के सम्बन्ध मे प्राचीन पालि साहित्य प्रचुर साक्ष्य उपस्थित

---

१ देखिए, 'मुद्राराक्षस', अक १।

२ लिख, लेख, लेखन इत्यादि।

३ लेखन सम्बन्धी अति महत्त्वपूर्ण अशो के लिए, पृष्ठ १३४ पर पादटिप्पणी २ मे निर्दिष्ट शब्दो के अन्तर्गत सेण्ट पीटर्सबुर्ग डिक्शनरी देखिए। जे० दहलमन कृत डास महाभारत, पृ० १८५ इत्यादि।

करता है। उदाहरणार्थ 'विनय पिटक' मे लेखन की विशिष्ट कला के रूप मे प्रशसा की गयी है,[1] सघ की भिक्षुणियो को मनोविनोद के रूप मे नही किन्तु धार्मिक ग्रथो की प्रतिलिपि करने के लाभप्रद व्यवसाय के रूप मे लेखन-कला सीखने की आज्ञा थी,[2] बालक को कौन सी जीवनवृत्ति अपनानी चाहिये इस विषय की चर्चा मे उसके माता-पिता अपना मत प्रकट करते है कि यदि वह लेखन-वृत्ति को ग्रहण करे तो वह सुख और शान्ति से रहेगा यद्यपि उसकी उँगलियाँ अवश्य पीडा करेंगी।[3] महावग्ग[4] और जातक[5] प्राय राजकीय पत्रो का उल्लेख करते है जिनके लिए विशिष्ट व्यावसायिक लेखन-ज्ञान की आवश्यकता थी। हस्तलिखित प्रतियो (पोथक) का भी दो बार उल्लेख हुआ है,[6] जिसको तैयार करने के लिए व्यावसायिक लेखकों की अपेक्षा थी। रिज़ डेविड्स का यह विचार[7] कि प्राचीन बौद्ध साहित्य के निर्माण-काल मे लेखन व्यवसाय अज्ञात था, अति निर्बल तथ्य पर आधारित है और कसौटी पर नही ठहर सकता। परवर्ती भारतीय साहित्य मे 'लेखक' शब्द का प्रयोग दोनो अर्थों मे अर्थात् साधारण लिखने वाले के अर्थ मे तथा विशिष्ट व्यावसायिक लिखने वाले के अर्थ मे हुआ है।

लेखन-व्यवसाय तथा लेखक शब्द के प्रयोग के सम्बन्ध मे जहाँ तक अभिलेखात्मक प्रमाण का प्रश्न है साँची के एक अभिलेख मे इसका प्राचीन निर्देश है।[8] लेखक शब्द स्पष्ट रूप से यहाँ दानदाता के व्यवसाय का बोध कराने के लिए प्रयुक्त हुआ है। बूलर ने इसका अनुवाद 'हस्तलिखित प्रतियो की प्रतिलिपि करने वाला, लिखने वाला, लिपिक' किया था यद्यपि उसे अपने अनुवाद मे सदेह था।[9] बाद के तमाम अभिलेखों मे 'लेखक' शब्द का प्रयोग उस व्यक्ति का निर्देश करने के लिए हुआ है जो धातु या प्रस्तर पर खोदने के लिए विवरण तैयार करता था।[10] इससे भी बाद के काल मे लेखक शब्द का प्रयोग हस्तलिखित ग्रन्थो की प्रतिलिपि करने वाले व्यक्ति के लिए

१. ४।७।
२ ४।३०५।
३. वही, १।७७, ४।१२८।
४ १।४३।
५ बूलर इण्डियन स्टडीज़ ३, ८ इत्यादि, १२०।
६ वही।
७ बुधिस्ट इण्डिया, पृ० १०६-१११।
८ स्तूप १, न० १४३ (एपि० इण्डिका २, पृ० ३६६-३७२)।
९ इण्डियन पेलियोग्राफी, पृ० १००।
१० इपि० इ० १, १ म, फ्लीट गुप्त इन्सक्रिप्शन्स (सी० आई० आई० ३) न० १८ और ८०।

होता था। प्राय श्रद्धालु एव धर्मनिष्ठ ब्राह्मण तथा कभी-कभी निर्धन जीर्ण कायस्थ इस कार्य मे लगाये जाते थे। मन्दिर या पुस्तकालय मे ऐसे लोगो को लगाते थे। अभिलेखो के विवरण से पता चलता है कि अनेक जैन हस्तलिखित प्रतियो को जैन भिक्षुणियो और भिक्षुओ ने लिखा था जो धार्मिक ग्रन्थो की प्रतिलिपियाँ तैयार करने मे अपना समय व्यतीत करते थे। नेपाल मे भी ऐसे उदाहरण पाये जाते है, जहाँ भिक्षुणियाँ, भिक्षु तथा[1] वज्राचार्य बौद्ध ग्रन्थो की प्रतिलिपि करते थे।

२. लिपिकर या लिबिकर

'लेखक' के अतिरिक्त दूसरा शब्द जो लिखने वाले के अर्थ मे ईसा पूर्व की चौथी शताब्दी मे प्रयुक्त होता था, वह 'लिपिकर', 'लिबिकर' या 'दिपिकर' था, अशोक के शासनो मे यह कई बार आता है।[1] सस्कृत कोषकार 'लिपिकर' शब्द को लेखक का पर्याय समझते हैं।[2] किन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि अशोक के अभिलेखो मे इस शब्द का प्रयोग दोनो अर्थों अर्थात् लिखनेवाले तथा खोदनेवाले, प्राय द्वितीय अर्थ मे, हुआ है। सस्कृत कथा वासवदत्ता[3] मे 'लिपिकर' शब्द का अर्थ लेखक है। राजा के लिखनेवालो (राज-लेखको) को कभी-कभी राजलिपिकर कहा जाता था। उदाहरणार्थ साँची के एक अभिलेख[4] मे सुबहित गोतिपुत को 'राजलिपिकर' कहा गया है। सस्कृत साहित्य तथा अभिलेखात्मक विवरणो के अध्ययन से यह स्पष्ट हो जायगा कि 'लिपिकर' शब्द 'लेखक' शब्द की अपेक्षा कम प्रयुक्त होता था और इसका प्रयोग 'लेखक' के अर्थ की अपेक्षा 'प्रतिलिपिकार' और 'खोदनेवाले' के अर्थ मे अधिक हुआ है।

३. दिविर

लिखनेवाले के अर्थ मे प्रयुक्त होने वाला 'दिविर' एक दूसरा शब्द है। पहले पहल यह ५२१-२२ के एक मध्यभारतीय अभिलेख मे मिलता है।[5] ईसा की सातवी और आठवी शताब्दी के अनेक वलभी अभिलेखो मे 'युद्ध और सन्धि का मत्री' (साधि-

---

१ पडेन लिखित लिपिकरेण। ब्रह्मगिरि लघु शि० ले० स० २।
लिपिकरापराधेन (शि० ले० सं० १४ गिरनार सस्करण)
दिपिकर (शि० ले० म० १४ शाहवाजगढी सस्करण)

२ लिपिकरोऽक्षरचणोऽक्षरचुचुश्च लेखके। अमर० २।८।१५

३ हाल का सस्करण, पृ० २३९।

४ स्तूप १, स० ४९ (एपि० इण्डि०, खण्ड २, पृ० १०२)

५ फ्लीट गुप्त इस्क्रिप्शन्स।

विग्रहिक) जो विवरणो के लेख तैयार करने का उत्तरदायी था, 'दिविरपति' या 'दिवीरपति' वताया गया है। 'दिविरपति' शव्द स्पष्ट रूप से इस वात का निर्देश करता है कि साधिविग्रहिक के अन्तर्गत विवरण तैयार करनेवाले अनेक दिविर होते थे। 'दिविर' शव्द के मूल के सम्वन्ध मे वूलर लिखते हैं 'दिविर' या 'दिवीर' फारसी 'देवीर' (='लेखक') है जो सम्भवत सासानियो के समय मे, जव भारत और फारस के वीच व्यापार और आवागमन वहुत वृद्धि पर था, ग्रहण किया गया था।[१] इस सम्वन्ध मे यह ध्यान रखना चाहिए कि ईसा की सातवी और आठवी शताव्दियो मे भारत मे न तो शको या सासानो का शासन था और इन्ही शताव्दियो मे फारस पर अरव अधिकार हो जाने के कारण भारत और फारस के वीच न किसी प्रकार का व्यापारिक या सास्कृतिक सम्वन्ध ही था। मध्य भारत मे शक शासन ईसा की चतुर्थ शताव्दी के अन्त मे समाप्तप्राय था। अव तक ईसा की प्रथम चार शताव्दियो मे 'देवीर' शव्द का प्रयोग या ग्रहण प्रमाणित नही हुआ है। 'दिविर' शव्द का मूल अशोक के अनुशासनो मे प्रयुक्त 'दिपिकर' शव्द मे प्रतीत होता है।[२] 'दिपिकर' शव्द साधारणतया दिविकर > दिविअर > दिविर प्राकृत रूप हो सकता था। यह सम्भव है कि 'दिपिकर' और 'दिविर' का उद्गम समान मूल से हो क्योकि सस्कृत और फारसी सम्वन्धित भाषाएँ थी। 'दिविर' शव्द का प्रयोग ईसा की ग्यारहवी और वारहवी शताव्दियो तक जारी रहा। यह शव्द 'राजतरगिणी' और इस काल के अन्य ग्रन्थो मे आया है। उदाहरण के लिए क्षेमेन्द्र का 'लोकप्रकाश' दिविरो के अनेक वर्गों का निर्देश करता है, जैसे गज दिविर (वाजार के लिपिकार), नगर दिविर (नगर के लिपिकार) इत्यादि।[३] 'दिविर' शव्द का प्रचार अधिकतर भारत के उत्तरी-पश्चिमी भागो मे ही सीमित रहा।

४. कायस्थ

व्यवसायी लेखको के एक निश्चित वर्ग या जाति का निर्देश करने वाला प्रमुखतम शव्द 'कायस्थ' था। सवसे प्रथम विष्णुधर्मसूत्र[४] मे और फिर याज्ञवाल्क्य स्मृति मे (वहुत अच्छे सदर्भ मे नही) यह शव्द आता है[५] राजा को चाट,

---

१ इण्डियन पेलियोग्राफी, पृ० १०१।
२ शि० ले० स० १४ (शाहवाजगढी सस्करण)।
३ इण्डियन एण्टिक्वैरी, ६।१०।
४ ७।३।
५ चाटतस्करदुर्वृत्तमहासाहसकादिभि ।
पीड्यमाना प्रजा रक्षेत् कायस्थैश्च विशेषत ॥१।३३६।

तस्कर, दुराचारी तथा डाकू जनों से तथा कायस्थो के हाथो विशेष रूप से पीडित प्रजा की रक्षा करनी चाहिए ।" विज्ञानेश्वर 'कायस्थ' शब्द की निम्नलिखित शब्दो मे व्याख्या करते है

"कायस्थ अर्थात् लेखक और गणक—इनसे पीडित प्रजा की विशेष रूप से रक्षा करनी चाहिए, क्योंकि राजाओ के प्रिय एव मायावी स्वभाव वाले होने से उनका निवारण कठिन होता है।"[1] स्पष्टतया कार्यालयो (अधिकरणो) मे भ्रष्टाचार कायस्थो के प्रति इस धारणा के लिए उत्तरदायी है। इसके बाद 'कायस्थ' शब्द बुद्धगुप्त (लगभग ४७६-४९५ ई०) के समय के दामोदरपुर ताम्रपत्र मे आता है जहाँ कायस्थ वर्ग का प्रमुख कोटिवर्ष (बगाल का दीनाजपुर जिला) की विषय-सभा का एक सदस्य था।[2] यह शब्द राजस्थान से प्राप्त ७३८-३९ ई० के कणस्वा अभिलेख मे भी पाया जाता है[3] और बाद को गुजरात[4] और कलिंग[5] से प्राप्त अभिलेखो मे कायस्थो का प्राय निर्देश हुआ है। कल्हण की 'राजतरगिणी' तथा क्षेमेन्द्र के 'लोक प्रकाश' मे कायस्थो का बहुलता से उल्लेख हुआ है, जिससे सिद्ध होता है कि काश्मीर मे ईसा की तेरहवी शताब्दी तक कायस्थो का स्थान प्रमुख था।

'कायस्थ' शब्द की अनेक प्रकार से व्याख्या सम्भव है। प्रस्तुत सदर्भ मे, राज्य की काया मे स्थित व्यक्ति कायस्थ कहलाता था। पौराणिक दृष्टि से काय—ईश्वर की लेखा और पहचान करने वाली शक्ति को व्यक्त करने वाले देवता के शरीर—मे अवस्थित प्रथम कायस्थ था, जिससे कायस्थ जाति उत्पन्न हुई। इसकी एक दार्शनिक व्याख्या भी है जिसके अनुसार कायस्थ वह कहलाता है जिसके सभी आदर्श और उद्देश्य उसके काय (शरीर) मे ही केन्द्रित हो और जो इसके बाहर किसी वस्तु की चिन्ता नही करता है। प्रारम्भ मे कायस्थ एक जाति या वर्ग नही था। यह विभिन्न वर्णों एव जातियो से आये हुए उन लोगो की एक श्रेणी या समुदाय था, जो राज्य के मन्त्रियो से सम्बन्ध रखने वाली नौकरी मे प्रवेश करना पसन्द करते थे। समय के प्रवाह मे इस प्रकार के लोग एक समुदाय और फिर एक जाति मे विकसित हुए यद्यपि उनके आगम के विभिन्न मूल इस प्रथा के रूप मे बने रहे कि कायस्थ, बहुत बाद तक, अपनी ही उपजाति मे विवाह करते थे। एक जाति के रूप मे

---

१ कायस्था लेखका गणकाश्च तै पीडयमाना विशेषतो रक्षेत्। तेषा राजवल्लभतयातिमायावित्वाच्च दुर्निवारत्वात्। वही

२ प्रथमकायस्थ विप्रपाल। एपि० इण्डि० १५, पृ० १३८।

३ इण्डि०, एण्टि०, १९ १५।

४ वही, ६ १९२।

५ एपी० इण्डि० ३, पृ० २२४।

कायस्थो की सामाजिक स्थिति का जहाँ प्रश्न है, हिन्दुओ मे उन्हे महत्त्वपूर्ण एव प्रभावशाली स्थान प्राप्त था, यद्यपि कट्टर हिन्दू उन्हे शूद्रो से मिला हुआ समझते थे जिसका कारण उनमे शूद्रत्व का कुछ मिश्रण, उनकी कार्यालयो मे कुख्याति तथा बाद को मुसलमानो के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध था।

५. करण, कर्णिक, करणिन्, शासनिन् तथा धर्मलेखिन्

लेखको को भारत के विभिन्न भागो मे कायस्थ के अतिरिक्त अनेक नामोसे जाना जाता था। ये नाम इस प्रकार थे करण, कर्णिक, करणिन्, शासनिन् तथा धर्मलेखिन्। सम्भवत किसी अधिकरण से सम्बन्ध होने के कारण लिपिकार करण कहलाता था। यह पद कायस्थ का पर्याय प्रतीत होता है, क्योकि कायस्थ की ही तरह करण भी स्मृतिकारो द्वारा अच्छी दृष्टि से नही देखा गया और इसका वर्गीकरण वर्णसकरो के साथ हुआ है। मनुस्मृति[1] के अनुसार करण व्रात्य क्षत्रिय द्वारा सवर्णी स्त्री मे उत्पन्न होने वाली संतान है। याज्ञवल्क्य[2] करण की परिभाषा भिन्न प्रकार से करते है: "करण वैश्य पुरुष और शूद्रा स्त्री से उत्पन्न हुआ है।" करण की सामाजिक स्थिति भी उन्ही कारणो से ग्रसित रही जिनसे कायस्थ की। कर्णिक की व्याख्या कीलहार्न ने इस प्रकार की है "व्यावहारिक (कानूनी) विवरणों (करणो) का लिखनेवाला"।[3] जिस सन्दर्भ मे कर्णिक शब्द प्रयुक्त हुआ है उससे पता चलता है कि यह एक जाति के अर्थ मे नही किन्तु लिखनेवालो के आधिकरणिक वर्ग के अर्थ मे प्रयुक्त होता था। करणिन्[4], शासनिन्[5] तथा धर्मलेखिन्[6] शब्द क्रमश 'अधिकरण का लिपिकर', 'किसी राजा या अधिकारी के आदेशो के लिखनेवाले' तथा 'व्यावहारिक विवरणो को लिखनेवाले' के अर्थ मे विभिन्न प्रकार से प्रयुक्त हुए हैं।

६. शिल्पिन्, रूपकार, सूत्रधार तथा शिलाकूट

उपर्युक्त शब्द शिल्पी और खोदनेवालो के लिए प्रयुक्त होते थे, जो पत्थर या धातु पर अक्षर उत्कीर्ण करते थे। बहुसख्यक अभिलेखात्मक प्रमाणो से ज्ञात होता है

---

१ झल्लो मल्लश्च राजन्याद् व्रात्यान्निच्छिविरे च।
नटश्च करणश्चैव खसो द्रविड एव च ॥१०।२२।

२ वैश्यात्तु करण शूद्राया विन्नास्वेष विधि स्मृत ।१।९२।

३ एपि० इण्डि० १, पृ० ८१, १२९, १६६, एपि० एण्टि० १६।१७५, १८।१२।

४ हर्षचरित २२ (निर्णयसागर सस्करण)

५ इण्डि० एण्टि० २०।३२५।

६ वही, १६।२०८।

कि प्रशस्ति या काव्यमय दान और स्मारक विवरण कवियो या अन्य योग्य व्यक्तियो द्वारा रचे या लिखे जाते थे। इसके पश्चात् उनकी सुवाच्य प्रति व्यावसायिक लेखक द्वारा तैयार की जाती थी। अन्त मे ये विवरण शिल्पी या अक्षर खोदनेवाले को परिस्थिति के अनुसार पत्थर या धातु पर खोदने या अकन के लिये दे दिये जाते थे।[१] बूलर के व्यक्तिगत पर्यवेक्षण मे एक बात आयी थी जिसका वह इस प्रकार वर्णन करता है "शिल्पी को ठीक खोदे जाने वाले पत्थर के आकार की, विवरण की स्पष्ट प्रति दी जाती थी। वह पहले एक पण्डित की देखरेख मे पत्थर पर अक्षर खीचता था और फिर उन्हें खोद देता था।"[२] कभी-कभी इस उचित क्रम मे परिवर्तन भी होते थे। कुछ स्थितियो मे लेखक (रचयिता) ही शिल्पी का भी काम करते थे[३] और कुछ स्थितियो मे शिल्पी ही अपनी स्पष्ट प्रति तैयार करते थे।[४]

जहाँ तक ताम्रपत्रो पर के शासनो का प्रश्न है, खोदनेवालो का अतिविरल निर्देश है और वे केवल बाद के अभिलेखो मे पाये जाते हैं। खुदे हुए पत्र उत्कीर्ण[५], उन्मीलित[६] तथा उत्कट्टित[७] कहलाते थे। जो लोग विवरणो को पत्रो पर लिखते थे वे लौहकार, ताम्रकार, स्वर्णकार तथा अन्य धातुकार होते थे। प्रयुक्त शब्द इस प्रकार है अयस्कर[८] या लोहकर, कास्यकर या ताम्रकर, हेमकर[९] शिल्पिन्[१०] या विज्ञानिक[११]। उडीसा मे खोदनेवाले के लिए प्रयुक्त पारिभाषिक शब्द 'अक्षशालिन्' तथा अक्ष-

---

१ एपि० इण्डि० १।४९। कवि देवगण, लिपिकार क्षत्रियकुमार पाल, तथा प्रस्तरशिल्पी सम्पुल। एपि० इण्डि० १।४५। रचयिता रत्नसिंह, लिपिकार क्षत्रियकुमार पाल तथा शिल्पी सम्पुल। एपि० इण्डि० १।८१। रचयिता नेहिल, लिपिकार तक्षादित्य तथा शिल्पी सोमनाथ।

२ इण्डियन पेलियोग्राफी पृ० १०१।

३ तालगुडा प्रशस्ति (एपि० कर्ना० ७।१७६) मे कवि कुल्य यह दावा करता है, अजेरी अभिलेख (इण्डि० एण्टि० १२।१२७) मे दिवाकर पण्डित का कथन है।

४ इण्डि० एण्टि० २।१०३, १०७, १७।१४०।

५ समादेशादुत्कीर्णभीश्वरेण। एपि० इण्डि० ४, पृ० २०८।

६ फ्लीट सी० आई० आई० खण्ड ३।

७ चक्रदासेनोत्कट्टितम्। एपि० इण्डि० १५, पृ० ४१।

८ एपि० इण्डि० ४।१७०, इण्डि० एण्टि० १७।२२७, २३०, २३६।

९ एपि० इण्डि० ३।३१७, इण्डि० इण्टि० १८।१७।

१० इण्डि० एण्टि० १८।२३४।

११ इण्डि० एण्टि० १६।२०८।

शालिक[1] हैं (प्राकृतरूप अक्खसलिन् और अक्खसले) थे। इन सभी का अर्थ है "लेखागार (रिकार्ड हाउस) से सम्बन्ध रखने वाला व्यक्ति"।

७ विवरण तैयार करवाने वाले अधिकारी

पुरालिपिक विवरण इस विषय मे बहुत ठीक और स्पष्ट नही हैं। वे प्राय विवरण तैयार करानेवाले अधिकारियों तथा वास्तव मे विवरण तैयार करनेवाले व्यक्तियो के बीच भ्रान्ति पैदा कर देते हैं। इस सम्बन्ध मे निर्दिष्ट अधिकारी इस प्रकार हैं—अमात्य (मत्री या उच्च अधिकारी) सान्धिविग्रहिक (युद्ध और सधि से सबधित मत्री), सेनापति (रक्षामत्री), बलाधिकृत (सेनाप्रमुख), महाक्षपटलाधिकरणाधिकृत-महासामन्त महाराज (सम्राट् का सहायक जो राज-लेखागार का अधिकारी था) इत्यादि। एक उदाहरण परिस्थिति को स्पष्ट कर देगा। धरसेन के ताम्रपट्ट अभिलेख (वलभी स० २६९=५८८ ई०) के अन्त मे लिखा मिलता है

"महाराजाधिराज श्रीधरसेन के मेरे अपने हस्ताक्षर। दूतक सामन्त शीलादित्य। सन्धिविग्रहाधिकरणाधिकृत दिविरपति स्कन्दभट्ट द्वारा लिखित।"[2]

ऊपर के अश से स्पष्ट है कि अभिलेख के अन्त मे राजा का हस्ताक्षर अकित कर दिया जाता था, अभिलेख के लिखे जाने के समय दूतक (राजा का प्रतिनिधि) उपस्थित रहता था तथा अभिलेख एक अधिकारी की प्रेरणा से लिखा जाता था जो सन्धि और विग्रह के कार्यालय का अधिकारी तथा दिविरो (लिपिको) का भी अधिपति होता था। प्रस्तुत उदाहरण मे, वास्तव मे, विवरण एक दिविर द्वारा तैयार किया गया था यद्यपि अभिलेख मे यह कहा गया है कि यह स्वय अधिकारी के द्वारा तैयार किया गया। राजतरगिणी के अनुसार काश्मीर के राजाओ के यहाँ पट्टोपाध्याय (पट्टो के तैयार करवानेवाला अध्यापक) नाम का एक अधिकारी होता था। अक्षपटल अधिकरण (कार्यालय) से इस अधिकारी का सम्बन्ध रहता था। स्टीन ने अक्षपटल को एकाउन्टेन्ट जनरल के कार्यालय के रूप मे ग्रहण किया है[3] किन्तु बूलर इसे 'रिकार्ड आफिस' या 'कोर्ट ऑफ रोल्स'[4] समझता है।

---

१ इण्डि० एण्टि० १३।१२३, १८।१४५, एपि० इण्डि० ३।१९, २१३।
२ स्वहस्तो मम महाराजाधिराजश्रीधरसेनस्य। दूतक सामन्तशीलादित्य। लिखित सन्धिविग्रहाधिकरणाधिकृत दिविरपतिस्कन्दभटेन। इण्डि० एण्टि० खण्ड ६, पृ० ९।
३ ५।३९७ इत्यादि (स्टीन सस्क०)।
४ इण्डियन पेलियोग्राफी, पृ० १०१।

८. लिपिकारो तथा लेखको के लिए निर्देशक ग्रन्थ

प्राचीन हिन्दुओ ने केवल अक्षरो का आविष्कार और परिष्कार करके लेखन-कला का विकास ही नही किया अपितु पत्र-व्यवहार एव प्राथमिक विवरण लिखने की एक पद्धति का भी विकास किया जिसने लेखन-कला को सहायता एव प्रेरणा दी। लिपिकारो एव लेखको को व्यावहारिक सहायता देने के लिए पुस्तके लिखी गयी। इस प्रकार की एक पुस्तक 'लेखपचाशिका' मे विभिन्न प्रकार के वैयक्तिक पत्रो, विविध आधिकरणिक विवरणो (जैसे आदेश, घोषणाएँ भूदानपत्र आदि) तथा राजनीतिक (यथा राजाओ की परस्पर सन्धि) एव कूटनीतिक विवरणो को तैयार करने के नियम दिये गये है। क्षेमेन्द्र व्यासदास कृत 'लोकप्रकाश' का एक अश व्यापारिक एव आर्थिक विवरणो (जैसे वाण्ड और हुण्डी) के विस्तृत सिद्धान्त प्रस्तुत करता है।[1] इस विषय पर एक और पुस्तक 'पत्रमजरी' है जो विक्रमादित्य के नवरत्नो मे से एक वररुचि की वतलायी जाती है। चूँकि यह कागज पर पत्र लिखने का निर्देश करती है अतएव वर्नेल की यह धारणा थी कि इसका समय मुसलमानो के भारत आक्रमण के वाद रखना चाहिये।[2] भारत मे कागज के प्रयोग का ई० पू० चौथी शताब्दी मे यवन लेखको ने निर्देश किया ही है।[3] इस साक्ष्य के आधार पर वर्नेल का मत अग्राह्य हो जाता है।

९. अक्षरों के विकास मे लेखको और उत्कीर्णकों का स्थान

अक्षरो के विकास को तीन प्रकार के लोगो ने प्रभावित किया। प्रथम वर्ग मे ब्राह्मण, शिक्षक, साहित्यिक एव पुरोहित आते है जिन्होने अक्षरो का आविष्कार किया और साहित्यिक वा धार्मिक उद्देश्यो के लिए प्राचीनतर लोगो द्वारा आविष्कृत चित्र-सकेतो (पिक्टोग्राफ), प्रतीको एव चिह्नो के आधार पर उनका परिष्कार किया। उन्होने व्याकरण और शिक्षा के नियमो के अन्तर्गत पुन. परिवर्तन किये। वाद मे वौद्ध और जैन भिक्षुओ एव भिक्षुणियो ने जो धार्मिक ग्रथो की प्रतिलिपि करने के कार्य मे सपरिश्रम व्यस्त रहते थे, इस पद्धति को सुगम वना दिया। ऐसे लोगो का दूसरा वर्ग जिसने अक्षरो के विकास पर प्रभाव डाला, व्यावसायिक लेखको (लिपिकरो) एव लेखक जातियो (जो भारत मे ही उत्पन्न हुई थी) का था। उनकी प्रतिभा रचनात्मक

---

१. तुलनार्थ—भण्डारकार, रिपोर्ट ऑन दि सर्च फॉर सस्कृत मैन्युस्क्रिप्ट्स् १८८२-८३, पृ० २३, राजेन्द्रलाल मित्र गोउस् पेपर्स, १६, १३३।

२ साउथ इण्डियन पेलियोग्राफी, पृ० ८९।

३ स्ट्रावो १५।७१७।

नही थी किन्तु लिखने के उपकरणो एव लेखन-गति सम्बन्धिनी अपनी सुविधा के अनुसार रूपो के ग्रहण एव सुधार की उनमे शक्ति थी। वे वर्णों की सुरूपता के प्रति भी उदासीन नही थे। इसके लिए वर्णों के स्वरूप मे परिवर्तनो की आवश्यकता पडी। अक्षरो के स्वरूप मे परिवर्तनो के लिए उत्तरदायी तीसरे वर्ग मे प्रस्तरशिल्पी और धातु पर खोदनेवाले लोग सम्मिलित है। लोगो का यह तीसरा समूह अर्द्धशिक्षित होने के कारण प्रथम दो समूहो से कम प्रभावोत्पादक था। किन्तु जिन उपकरणो (पत्थर और धातु) पर उन्हें कार्य करना था उनकी अवस्था ने वर्णों का विभिन्न अगो को नया स्वरूप दिया। इस वर्ग के उकेरने, छेदने या खोदने की आवश्यकता के कारण सौन्दर्यपूर्ण स्वरूपो एव वर्णों का विकास हुआ।

अध्याय सातवाँ

लेखन-पद्धति

१. चिन्हो और वर्णो का दिग्विन्यास

सिंधुघाटी की लिपि[१] से प्रारम्भ कर ई० पू० की पाँचवी और चौथी शताब्दी (की ब्राह्मी और खरोष्ठी लिपियो) एव उसके बाद के काल[२] की ब्राह्मी और खरोष्ठी तक की लिपियो को कोई भी बडी सरलता से देख सकता है कि चिह्न और वर्ण प्राय एक ही प्रकार से बनाये जाते हैं। वे खडे, मानो किसी काल्पनिक रेखा से ऊपर से नीचे की ओर, खीचे जाते हैं। चिह्नों के समूह आडे सजाये जाते है, कुछ कुषाण[३] और गुप्त[४] मुद्राएँ इसका अपवाद हैं जहाँ स्थानाभाव के कारण वे ऊपर से नीचे को सजाये गये हैं। सिन्धुघाटी के अभिलेखो मे, जहाँ पशुचित्र साथ-साथ दिये गये हैं, पशु को सामान्यतया अभिलेख के ठीक नीचे रखा जाता है और अधिकाश उदाहरणो मे उसका मुख दाहिनी ओर रहता है। कुछ उदाहरणो मे पशु का मुख बायी ओर भी है[५]।

२. लेखन दिशा

सिंधुघाटी के अभिलेखो मे लिखने की दिशा अभी अटकल लगाने की वस्तु है। बिल्कुल अपर्याप्त सामग्री के आधार पर कुछ विद्वान् इस मत के पोषक हैं कि ये अभिलेख दाहिने से बायें को पढे जाते हैं। स्मिथ और गैड इस विचारधारा के हैं कि "निर्दिष्ट सख्या हमारी सूची की ३६४ है और यह सत्य है कि इस मुद्रा की छाप (ठप्पे) मे अँगूठी मे परिवृत्त पक्षी (जो सतर्कतापूर्वक अकित नर-बतख प्रतीत

---

१ साइन-लिस्ट ऑफ अर्ली इण्डस स्क्रिप्ट्स, मोहनजोदरो एण्ड दि इण्डस वैली सिवीलिजेशन, खण्ड २, पृ० ४३४-४५२।

२ बूलर इण्डियन पेलियोग्राफी, सारणी १-६।

३ ह्वाइटहे दि कैटलॉग ऑफ दि क्वाइन्स ऑफ दि पजाब म्युज़ियम, लाहौर।

४ एलन दि कैटलॉग ऑफ दि क्वाइन्स ऑफ दि गुप्ता डाइनेस्टी।

५ जी० आर० हण्टर दि स्क्रिप्टस् ऑफ हरप्पा एण्ड मोहनजोदरो इत्यादि पट्ट १ तथा १ ए।

होता है) दाहिनी ओर मुख किये है। निश्चय ही मिस्र की धार्मिक चित्रलिपि का यह नियम है कि अभिलेख उस ओर पढा जाता है कि जिस ओर आकृतियो का मुख होता है। किन्तु यह दिखलाना सरल है कि सिन्धुघाटी के लेखन के लिए यह लक्षण निरापद नही है क्योकि अधिकाश मानव चिह्नो का मुख दाहिनी ओर है (तुलनार्थ सूची स० ३७४-३८०) जब कि तमाम पक्षियो एव पशुओ का मुख बायी ओर है (तुलनार्थ सूची स० ३५४-३५८)। अत कोई अन्य सिद्धान्त खोजना होगा। किन्तु उसे प्राप्त करना एकदम सरल नही। प्रथम यह देखा जायगा कि लगभग सभी उदाहरणों मे साँड या अन्य पशु, जो मुद्रा का प्रमुख विषय होता है, दक्षिणाभिमुख होता है, और परिणामत यह धारणा है कि अभिलेख सिर पर से प्रारम्भ होता है। तथापि पशु की इस स्थिति का एक अपवाद है क्योकि मुद्रा स० ३४१ के ठप्पे या छाप मे गैंडा बायी ओर को मुख किये हुए है। यह एक भूल हो सकती है किन्तु यह मुद्रा अभिलेख के प्रारम्भ के निर्देशक के रूप मे पशु की सामान्य स्थिति पर अत्यधिक विश्वास करने के विरुद्ध सतर्क कर देने के लिए पर्याप्त है। एक अन्य लघु निदर्शन सात पाइयो से बने एक चिह्न (¦¦¦¦) की सामान्य लेखन-पद्धति मे पाया जाता है, जिसमे नीचे की तीन पाइयाँ प्राय ऊपर की चार पाइयो के दाहिने छोर के समतल ही रखी जाती है।[1]

हरप्पा से प्राप्त एक मुद्रा (स० ५९२९) भी एक अति महत्त्वपूर्ण उदाहरण है जिसमे यह स्पष्ट हो जाता है कि खोदनेवाले ने स्थानाभाव के कारण न केवल चिह्नो को एक जगह सटा कर ही रख दिया है अपितु बायी ओर के रिक्त स्थान मे अन्य चिह्न न समा पाने के कारण उस चिह्न को रेखा के नीचे डाल दिया है। यह अनुमान है कि अभिलेख दाहिनी ओर से आरम्भ होते है, दुर्निवार सा है। एक निर्णयात्मक दृष्टान्त इस निष्कर्ष को सन्देह से परे कर देता है। १९२६-२७ की खुदाई मे प्राप्त एक मुद्रा (एच० १७३) पर कोई पशु चिह्न नही है बल्कि एक लम्बा अभिलेख है, जो वर्ग की दो भुजाओ और तीसरी के अधिकाश भाग को भर लेता है। अब (कम-से-कम छाप मे) यह अभिलेख सम्पूर्ण शीर्षभुजा, सम्पूर्ण वामभुजा और अधिकाश निम्नतलभुजा को भर लेता है। इस प्रकार |⊏| चिह्न प्रत्येक कोने पर ९० अश पर इस तरह मुडे हुए है कि उनका शीर्ष सदैव किनारो

---

१ इस लक्षण से बिलकुल विपरीत बात भी सूझ सकती है। आधुनिक भारतीय सख्या-प्रणाली मे, जिसमे योग और गुणन दोनो के लिए, अक बायें से दायें को लिखे जाते है, अक ठीक इसी प्रकार रखे जाते हैं जिस प्रकार कि इस चिह्न मे। भारतीय प्रणाली पर आधारित अरबी मे भी इसी रीति का प्रयोग होता है।

के साथ-साथ जाता है। अत यह स्पष्ट है कि अभिलेख को हाथ मे मुद्रा घुमाते-घुमाते पढा जाता था। दूसरे और तीसरे तलो की स्थिति से प्रतीत होता है कि इसे दाहिनी ओर उलटा जाता था। दूसरे शब्दों मे, पढनेवाला प्रथम और सबसे बडे तल की दाहिनी ओर से पढना प्रारम्भ करता था, मुद्रा को ९० अश घुमा कर फिर दूसरे तल को दाहिने से बाये को पढता था और इसी प्रकार तीसरे तल को। अतएव इस बात का प्रमाण कि ये अभिलेख दाहिनी ओर से बायी ओर पठनीय है, पूर्ण मालूम होता है।[1] जी० आर० हण्टर की भी प्राय यही धारणा है।[2]

ध्यान रहे कि उपरिनिर्दिष्ट दृष्टान्त प्रामाणिक नही है। सर्वप्रथम हमे अब तक निश्चय नही है कि अभिलेखयुक्त एक विशिष्ट उदाहरण मुद्रा है या तावीज़। मुद्रा पर के अभिलेख के वर्णों की दिशा उलटी होती है[3] किन्तु तावीज़ पर के अभिलेख के वर्ण अपनी सामान्य दिशा मे चलते हैं। तावीज़ मे लेखन की दिशा बतानेवाला मूल होगा, उसकी छाप नही, जिसका उपरिनिर्दिष्ट अधिकारी विद्वानो ने प्रयोग किया है। जहाँ तक पाइयो (स्ट्रोक) के (चिह्न की दूसरी पक्ति मे) दाहिनी ओर रखने का सम्बन्ध है, पहले बताया जा चुका है कि इससे समान रूप से लेखन की दक्षिणाभिमुखी दिशा भी बतायी जा सकती है। यदि हम अन्तिम रूप से निर्णय कर ले कि प्रस्तुत उदाहरण मुद्राएँ है या तावीजे, तो तीसरे या चौथे उदाहरणो मे कुछ बल है। इस प्रकार, ज्ञान की वर्तमान अवस्था मे अन्तिम निर्णय देना निरापद नही है। यदि हम सिन्धुघाटी की लिपि और ब्राह्मी लिपि के बीच सम्बन्ध और अनुगामिता स्थापित करने मे समर्थ होते है तो सिन्धुघाटी की लिपि के दक्षिणाभिमुखी होने की सम्भावना बढ जाती है।

प्राचीन भारत मे सर्वाधिक प्रचलित ब्राह्मी लिपि बायें से दायें को पढी जाती है। इस लिपि के प्राचीनतम नमूनो से लेकर आधुनिकतम नमूनो तक (पिप्रावा बौद्ध भाण्ड अभिलेख[4] से गहडवाल और चेदि अभिलेखो तक[5]) से यही सत्य प्रमाणत

---

१ मार्शल मोहनजोदरो एण्ड दि इण्डस सिविलिजेशन, खण्ड २, पृ० ४१०-११।

२ दि स्क्रिप्ट्स् ऑफ मोहनजोदरो इत्यादि, पृ० १९, २०, ३७-४३।

३ भारत के ताम्रपत्रो मे, जिनका समय बहुत बाद का है, मुद्राएँ विवरणो के साथ ही पूरी-पूरी से जोड दी जाती थी, उनपर बाये से दाये लिखे हुए अभिलेख है।

४ इण्डियन एण्टिक्वैरी, ३६।११७ इत्यादि, लूडर्स लिस्ट स० ९३१।

५ कुमारदेवी का सारनाथ अभिलेख, एपि० इण्डिका ९, पृ० ३२४ इत्यादि।

होता है। बूलर का ऐसा मत था कि सेमेटिक मूल के कारण प्रारम्भ मे ब्राह्मी लिपि दायें से बायें को लिखी जाती थी, बाद को इसने अपनी दिशा बदल दी।[1] उसके अनुसार प्रारम्भिक ब्राह्मी का एक नमूना, दाहिनी ओर से बायी ओर को जाते हुए विरुद्ध मे युक्त एरण सिक्के पर के अभिलेख मे पाया गया था।[2] दुर्भाग्य से पत्थर या अन्य किसी लेखनीकरण पर इस प्रकार का दूसरा नमूना नही पाया गया, बहुत सम्भव है कि एरण सिक्के मे सांचा बनानेवाले ने असावधानी से अक्षरो को उलटे रखने के बजाय उन्हे वास्तविक रूप मे रख दिया हो जिसका परिणाम यह हुआ कि एरण सिक्के पर लेखन की दिशा बदल गयी। अशोक के लघुशिलालेख के सिद्धपुर संस्करण के अन्त मे, पड नाम के उत्कीर्णक के हस्ताक्षर का एक दूसरा नमूना प्रस्तावित किया जा सकता है।[3] किन्तु अभिलेख का मुख्य भाग बायी ओर से दाहिनी ओर को लिखा गया है। इससे स्पष्ट भासित होता है कि पड के हस्ताक्षर का ढग सामान्य नही था एवं चूंकि वह भारत के उत्तर-पश्चिम से आया था जहाँ खरोष्ठी दाहिनी ओर से बायी ओर को लिखी जाती थी, वह केवल खरोष्ठी पद्धति मे ब्राह्मी लिपि का प्रयोग मात्र कर रहा था।

ब्राह्मी लिपि सीताक्रम (बाउस्ट्रोफेडन[4]) से अर्थात् एक पंक्ति बायें से दायें और दूसरी दायें से बायें को लिखी जाती होगी, जैसा कि अशोक के लघुशिलालेख के एर्रागुडी संस्करण से भासित होता है।[5] इस शिलालेख मे उत्कीर्णक दूसरी पंक्ति को दाहिनी ओर से बायी ओर को ले जाता है। इस प्रकार वह पंक्तियो की दिशा सं० २ से १३ तक बदलता है, २०वी और २६वीं पंक्तियो को छोडकर शेष पंक्तियाँ बायी ओर से दायी ओर को लिखी गयी हैं। सम्प्रति प्रश्न यह है कि: क्या यह सिद्ध करता है कि प्रारम्भिक शताब्दियो मे ब्राह्मी लिपि सीताक्रम से लिखी जाती थी या इससे केवल यह प्रतीत होता है कि पड की ही भाँति कोई उत्तर-पश्चिमी भारत का उत्कीर्णक ब्राह्मी लिपि के लिए, जिसे खोदने के लिए उसे लगाया गया था, असफलतापूर्वक खरोष्ठी पद्धति का आरोप कर रहा था। पहले की सम्भावना की अपेक्षा बाद की सम्भावना अधिक समीचीन प्रतीत होती है; विशेष

१ इण्डियन पैलियोग्राफी, पृ० ८।
२ कनिंघम क्वाइन्स ऑफ एन्शियण्ट इण्डिया, १०१।
३ हुल्श कार्पस इन्स्क्रिप्शनम् इण्डिकेरम्, खण्ड १।
४ यह एक ग्रीक शब्द है जिसकी उत्पत्ति bous = वृष + Strophos = मोड—don (क्रियाविशेषण प्रत्यय)। जिस प्रकार जोतने मे बैल घूमता है उसी प्रकार यह लेखन-क्रम होता है।
५ एपि० इं० क्वार्टर्ली, ७, पृ० ८३१ इत्यादि, ९ पृ० ११६ इत्यादि। १३, पृ० १३२ इत्यादि।

रूप से इस तथ्य को ध्यान मे रखते हुए कि ईसा पूर्व की पाँचवी और चौथी शताब्दियो के अभिलेखो मे सीताक्रम के लिखने का एक भी नमूना उपलब्ध नही हुआ।

खरोष्ठी लिपि की दिशा दाहिनी से वायी ओर को है। फिर भी बाद के कुछ खरोष्ठी अभिलेख उपलब्ध हैं जिनमे लिखने की दिशा बायें से दायें को है। दिशा मे परिवर्तन खरोष्ठी पर ब्राह्मी के प्रभाव के कारण बताया जाता है। किन्तु खरोष्ठी की स्वदेशी उत्पत्ति विषयक भारतीय और चीनी परम्पराओ की दृष्टि मे एक सदेह है कि प्रारम्भ मे यह बायी ओर से दाहिनी ओर को लिखी जाती थी, बाद को विदेशी प्रभाव के अन्तर्गत इसने अपनी दिशा बदल दी, और अपने अन्तिम (परिवर्तन) की स्थिति मे अपनी मौलिक दशा को पुन स्थापित करने का प्रयास करती रही। अपने दीर्घ विदेशी प्रयोग के कारण खरोष्ठी भारतीयो के लिए आकर्षक नही रह गयी थी और अन्ततोगत्वा अवनत होकर विलीन हो गयी।

३. पक्ति

यद्यपि भारत मे लेखन की पूर्व अवस्था मे वर्णों मे शीर्षरेखा नही थी, भारतीयो ने सरल लेखन की चेतना का विकास कर लिया था और इसके लिए वे एक काल्पनिक, अस्थायी या अस्पष्ट रेखा का अवलम्बन करते थे। ऐसा करने से सभी वर्ण एक आडी सरल रेखा मे लिखे जाते थे और समान ऊँचाई की मात्राएँ रेखा के ऊपर लगायी जाती थी। सिन्धुघाटी के न पढे गये चिह्न भी न्यूनाधिक रूप से एक सीधी आडी पक्ति मे रखे गये हैं।[1] मौर्यकाल के ब्राह्मी अभिलेखो मे हमे रेखा-निर्माण का स्पष्ट प्रमाण मिलता है। यह ध्यान रहे कि अशोक के उत्कीर्णको को इस विषय मे पूर्ण सफलता नही मिली है। शिला और स्तम्भ अभिलेखो मे अनेक वर्ण वक्र गति मे हो गये है। साधारण रूप से इस प्रकार के अतिक्रमण गिरनार, धौली और जौगड के शिलालेखो मे दिखाई पडते है।[2] इसका कारण सभवत खुदाई के लिए प्रयुक्त शिलाओ के तल की अवस्था है। कुछ समसामयिक अभिलेख कडाई से रेखा-सिद्धान्त का अनुसरण करते हैं। उदाहरणार्थ घसुण्डी प्रस्तर अभिलेख मे[3] सभी वर्ण एक सीधी रेखा मे सजाये गये है और केवल मात्राएँ और ऊपर लिखा हुआ र व्यवस्थित रूप से रेखा के ऊपर आता है। बाद के काल मे रेखा बनाने के सिद्धान्त का पालन ग्रहण किया गया है। सिद्धान्त के पालन के लिए प्रयुक्त की गयी

---

१ जी० आर० हण्टर दि स्क्रिप्ट ऑफ हरप्पा एण्ड मोहनजोदरो इत्यादि, पट्ट १-३७।

२ हुल्श कार्पस इन्स्० इण्डि०, खण्ड १।

३ बूलर इण्डियन पेलियोग्राफी, पट्ट २, खण्ड १६।

विधियाँ, जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, ये थीं खरिया या कोयले से अस्थायी या धूमिल रेखा खींचना या साधारणतया किसी नुकीले औजार से खींचना।

हस्तलिखित प्रतियाँ लिखनेवालों को तक्षकों की अपेक्षा, सीधी रेखा बनाने का विशेष ध्यान रहता था। प्राचीनतम हस्तलिखित प्रतियों से यह सत्य प्रमाणित होता है। खोतान से प्राप्त धम्मपद की हस्तलिखित प्रति मे रूल की सहायता से रेखाएं बनायी गयी हैं। ताडपत्रो पर की हस्तलिखित प्रतियो मे भी इस सिद्धान्त का पालन किया गया है। लेखन को अधिक कलात्मक बनाने के लिए पाण्डुलिपियो पर आडी रेखाओ के सिरो पर (ताडपत्र और दूसरे प्रकार के) पत्रों की चौडाई के आरपार जाती हुई दोहरी रेखाएं खींच दी जाती थी।

प्रस्तर अभिलेखो तथा हस्तलिखित प्रतियो मे रेखाएँ सदा आडी बनायी जाती थी तथा ऊपर से नीचे तक प्राय एक दूसरे के समानान्तर रहती थी। फिर भी इस व्यवस्था (या क्रम) के कुछ अपवाद हैं। उदाहरण के लिए स्वात से प्राप्त खरोष्ठी अभिलेख मे यह क्रम नीचे से ऊपर को है तथा इसे नीचे से पढना पड़ता है। हम पूर्वोक्त क्रम के भी कुछ अपवादो का निर्देश कर सकते हैं। कुषाण और गुप्त मुद्राओ पर खडी पक्तियाँ बनायी गयी हैं, इसका कारण था निर्दिष्ट स्थानाभाव।[१] अभिलेखो और हस्तलिखित प्रतियो पर खडी पक्तियो का नमूना नही मिलता।

४. वर्णो और शब्दो का समुदायीकरण

प्राचीन भारत मे लिखनेवाले एक शब्द के वर्णों तथा एक पदसमूह, वाक्याश और वाक्य के शब्दो को अलग करने पर विशेष ध्यान नही देते थे। पूर्वकाल मे एक वाक्य को दूसरे से अलग करने के लिए भी नियमित रूप से किसी चिह्न का प्रयोग नही करते थे। वे रेखा, छन्द या अन्य किसी विभाग के अन्त तक बिना किसी विराम के अक्षर लिखते जाते थे। इसके प्रति उपेक्षा भाव का कारण भारतीय भाषाओ द्वारा प्राप्त व्याकरण की विशुद्धता थी, क्योकि व्याकरण द्वारा व्युत्पन्न रूपो के कारण, यदि वर्ण या शब्द सटाकर या बिना किसी अलगाव के भी लिखे जाते, भ्रम की कम सम्भावना थी। फिर भी हमे शब्दों के अलग-अलग समूह (या समुदाय) बनाने के प्रयास उपलब्ध होते हैं। इस समुदायीकरण का आधार या तो एक वाक्य मे विन्यसीकरण की भावना थी या लिपिकार की पाठ-पद्धति। अशोक के (कौशाम्बी) स्तम्भ-लेखो को

---

१ जे० आर० ए० एस० १८८९, पट्ट १; न्यूमि० क्रोनि० १८९३, पट्ट ८-१०।

छोडकर तथा शिलालेखों के कलसी सस्करण (स० १-११) से स्पष्ट निर्दिष्ट होता है कि शब्दो के समुदायीकरण का सचेत प्रयास किया गया है।[१] नासिक मे आन्ध्र और पश्चिमी क्षत्रपो के गद्याभिलेखो मे भी इसी तरह के दृष्टान्त प्राप्त किये जा सकते हैं।[२] वाद को छन्दोमय अभिलेखो मे, जहाँ गायन के लिए विराम आवश्यक हो गया, पदों को प्राय रिक्त स्थान से अलग किया गया है।[३] इस समुदायीकरण की एक और भी विधि है। एक पक्ति मे या तो एक पूर्ण छन्द होता है या केवल आधा।[४] अभिलेखो मे मगल (मागलिक सूत्र) का एक अलग ही समुदाय है और वह प्रारम्भ मे हाशिये पर रहता है।[५]

अभिलेखो के बाद की पाण्डुलिपियो मे छन्दोमय अभिलेखो के समान ही समुदायीकरण की व्यवस्था पायी जाती है। खोतान से प्राप्त धम्मपद की खरोष्ठी पाण्डुलिपि की प्रत्येक पक्ति मे एक ही गाथा लिखी गयी है तथा पद रिक्त स्थान द्वारा विभक्त किये गये हैं। समुदायीकरण का अधिक अच्छा उदाहरण बावर की हस्तलिखित प्रति मे उपलब्ध होता है जिसमे अकेले शब्द और शब्दों के समूह प्राय अलग-अलग लिखे गये हैं यद्यपि यह स्पष्ट है कि समुदायीकरण के किन्ही निश्चित नियमों (या सिद्धान्तो) का अनुसरण नही किया गया है।

१. विरामादि चिह्नो का प्रयोग

प्राचीन भारतीय लिपिकार बहुत बाद तक चिह्न प्रयोग की नितान्त आवश्यकता को नही समझे और जब विरामादि चिह्नो के प्रयोग की आवश्यकता उनके मस्तिष्क मे व्याप्त हुई, तब भी उसके उचित व्यवहार के प्रति उनकी उपेक्षा ही बनी रही। सिन्धुघाटी की लिपि मे विरामादि चिह्नो का पता लगाना असम्भव है। इसका प्रथम कारण यह है कि यह अब तक पढी नही गयी और दूसरे इस लिपि मे सभी अभिलेख बहुत छोटे है जिनमे चिह्नो के प्रयोग की आवश्यकता नही समझी गयी। उनमे कुछ ऐसे चिह्न है जो बहुधा अभिलेखो के अन्त मे आते है किन्तु वे विराम नही प्रतीत होते, प्रत्यय जान पडते हैं। जब हम पढे गये अभिलेखो के युग (ईसा

---

१ एपि० इण्डि०, खण्ड २, पृ० ५२४।

२ स० ५, ११ अ, ब और १३ से तुलना कीजिए।

३ फ्लीट गुप्त इन्स्क्रिप्शन्स (सी० आई० आई०, खण्ड ३) स० ५०, पट्ट ३१ बी।

४ वही, स० १, २, ६, पट्ट ४ ए तथा १०, पट्ट ५।

५ वही, स० ६ पट्ट ४ ए तथा १५, पट्ट ९ ए।

पूर्व की पाँचवी शताब्दी से ईसा सन् के प्रारम्भ तक) मे पहुँचते हैं, तव हमे विराम चिह्नों के प्रयोग का कुछ प्रयास उपलब्ध होता है। केवल एक चिह्न—एक सरल या वक्र लघु रेखा [। या)]—विभिन्न प्रकार के विरामों को सूचित करने के लिए प्रयुक्त होती थी। ईसा की पहली शताब्दी से पाँचवी शताब्दी तक विरामादि के सूचन के लिए अनेक सयुक्त चिह्नो का विकास हुआ किन्तु उनका नियमित रूप से प्रयोग नहीं होता था। ईसा की पाँचवी शताब्दी से वाद के छन्दोमय अभिलेखो और विशेष कर पत्थर पर खोदी गयी प्रशस्तियो मे अन्तर्विराम चिह्नो का प्रयोग अधिक नियमित हो गया। विरामादि चिह्नो के नियमित प्रयोग का निदर्शन करनेवाला प्रथम उदाहरण ४७३-७४ ई० की मन्दसोर प्रशस्ति है[१] जिसमे आधे छन्द के वाद एक खडी पाई तथा पूरे छन्द के वाद ऐसी दो पाइयाँ पायी जाती है। फिर भी यह ध्यान रखना चाहिये कि विशेषरूप से दक्षिण से प्राप्त ताम्रपत्र और प्रस्तर अभिलेख इस नियम के अन्तर्गत नही हैं।[२] विभिन्न प्रकार के अभिलेखो के निरीक्षण से यह अनुमान किया जा सकता है कि विराम प्रणाली का विकास ब्राह्मणवर्गीय तथा साहित्यिक लेखको के सचेत प्रयास का परिणाम था, राजकीय अधिकरणो (कार्यालयो) के लिपिक तथा लिखने का पेशा करनेवाले लोग इन चिह्नो के प्रयोग के सम्वन्ध मे वडे आलसी थे। लिखनेवालो की वैयक्तिक शिक्षा और गुणो पर भी वहुत कुछ निर्भर करता था। इस वात मे स्पष्ट हैं कि एक ही समय के एक ही प्रकार के विवरणो मे वहुलता और शुद्धता की दृष्टि से विराम चिह्नो के प्रयोग मे भिन्नता है।

(१) ब्राह्मी अभिलेखो मे विराम चिह्नो का प्रयोग।

ब्राह्मी लिपि मे लिखे गये विवरणो मे, अनेक प्रकार के विरामो के लिए विभिन्न प्रकार के विराम चिह्न प्रयुक्त होते थे। उनका वर्गीकरण निम्न प्रकार से किया गया है

(क) एक सीधी खडी पाई या दण्ड (।)।

जिन उद्देश्यो के लिए इसका प्रयोग हुआ है वे हैं —

(अ) शब्दो का अलगाव[३],

(आ) समुदाय का अलगाव[४],

---

१ फ्लीट गुप्त इन्स्० (सी० आई० आई०, खण्ड ३) स० १८ पट्ट ११।
२ एपि० इण्डि०, खण्ड ६, ८८, ७, १६३, १०, ६३-६४।
३ अशोक के शिलालेख (कालसी, १२, १३, महसराम)।
४. वही।

(इ) गद्य का पद्य से अलगाव[1],
(ई) वाक्य-खण्डो के अन्त की सूचना[2],
(उ) वाक्यों के अन्त की सूचना[3],
(ऊ) छन्द के पूर्वार्द्ध की सूचना[4],
(ए) छन्दो के अन्त की सूचना[5] तथा
(ऐ) विवरणो के अन्त की सूचना[6]।

(ख) शीर्षभाग पर आडी रेखा के साथ खडी पायी (।)। यह बहुत प्रचलित नही है। उत्तरी भारत मे अब तक इसका कोई नमूना प्राप्त नही हुआ है। यह पूर्वीय चालुक्यो के कुछ अभिलेखों मे पायी जाती है।[7]

(ग) दो खडी पाइयाँ या दण्ड (।।)।

ये चिह्न (अ) अको के बाद[8],
(आ) दानदाताओ के नाम के बाद[9],
(इ) वाक्यो के अन्त मे[10],
(ई) छन्दो की अर्धाली के अन्त मे[11],
(उ) छन्दो के अन्त मे[12],
(ऊ) वडे गद्याशो के अन्त मे[13], तथा
(ए) विवरणों के अन्त मे[14] मिलते हैं।

---

१ फ्लीट गुप्त इन्स्० (सी० आई० आई० ३), स० २१ पक्ति १६।
२ वही, स० ८० पट्ट ४४।
३ वही।
४ वही, स० ४२ पट्ट २८।
५ वही, स० ३८ पट्ट २४, पक्ति ३५।
६ वही, स० १९ पट्ट १२ ए।
७ इण्डियन एण्टिक्वेरी, १२।९२, १३।२१३।
८ दि जुन्नर इन्स्० स० २४-२९।
९ वही।
१० अमरावती इन्स्० स० २८, इण्डि० एण्टि० ६ २३, १९।
११ फ्लीट गुप्त इन्स्० (सी० आई० आई० ३) स० १७ पट्ट १०।
१२ वही, स० १७ पट्ट १०, स० १८ पट्ट ११।
१३ वही, स० २६ पट्ट १६, १ २४, स० ३३ पट्ट २१ बी, १ ९।
१४ वही।

(घ) दो खडी पाइयाँ—एक का शीर्ष भाग वक्रयुक्त (⌉ ।) । इसका विकास बाद का प्रतीत होता है क्योकि इसके नमूने केवल ईसा की पाँचवी शताब्दी के बाद उपलब्ध है।[१]

(ङ) शीर्षभागो पर वक्रयुक्त दो खडी पाइयाँ (⌉ ⌈)।[२]

(च) दो पाइयाँ एक या दोनो के पैर मे वक्र एव काँटा (हुक) (⌋ ⌊) ।[३]

(छ) दो खडी पाइयाँ, प्रथम के मध्य मे वायी ओर आडी पाई लगी हुई (⊣ ।)[४] यह रूप ईसा की आठवी शताब्दी के पश्चात् मिलने लगता है।

(ज) शीर्षभाग पर आडी पाइयो से युक्त दो खडी पाइयाँ (⊤⊤) । पूर्वी चालुक्यो के अभिलेखो मे इस प्रकार के नमूने पाये जाते है।[५]

(झ) दो खडी पाइयाँ, वायी का शीर्षभाग काँटे (हुक) से युक्त और दायी का आडी पाई से (⌉ ⊤) । इस प्रकार के विराम चिह्न का उदाहरण कलिग के एक अभिलेख मे पाया गया है।[६]

(ञ) तीन खडी पाइयाँ (।।।) । ये कभी-कभी विवरणो का अन्त लक्षित करती हैं।[७]

(ट) अन्तिम पक्ति के प्रथम चिह्न के नीचे खीची गयी एक अकेली छोटी आडी पाई (–) विवरणो का अन्त लक्षित करती है।[८]

(ठ) एक आडी वक्र या काँटेवाली पाई (⌒ या ⊃ या ⊂) । ईसा पूर्व की दूसरी शताब्दी से लेकर ईसा की सातवी शताब्दी तक इस चिह्न का प्रयोग वैसा ही हुआ है जैसा अकेली खडी पाई का।[९]

---

१ वही, स० १७, पट्ट १०, १ ३२, ३८, स० ३५ पट्ट २२, अन्तिम पक्ति।

२ नेपाल इन्स्० स० ४, इण्डि० एण्टि० ९ १६८, अन्तिम पक्ति।

३ इण्डि० एण्टि०, ९ १०० अन्तिम पक्ति।

४ वही, १२।२०२,११ इत्यादि; १३।३८।

५ इण्डियन एण्टिक्वेरी १२।९२, १३।२१३।

६ एपि० इण्डिका ३।१२८। अतिम पक्ति।

७ इण्डियन एण्टिक्वेरी ७।७९।

८ अशोक के शिलालेख (धौली और जौगड सस्करण)।

९ नानाघाट अभिलेख, बूलर, आक० सर्० रिपोर्ट वेस्ट इण्डिया, ५, पट्ट ५१, पक्ति ६ 'वर्नो' के बाद, नासिक अभिलेख स० ११ ए, वी, फ्लीट गुप्त इन्स० (कॉ० इन्स० इण्डि० खण्ड ३); स० १ अन्त, स० ३ पट्ट २ वी।

(ड) प्राय झुकी हुई दो आडी पाइयाँ (⁀)। ईसा की प्रथम शताब्दी से ईसा की आठवी शताब्दी तक दो खडी पाइयो के स्थान पर इनका प्रयोग हुआ है।[1]

(ढ) ऊपर नीचे दो विन्दु ( )। कुषाण और उसके बाद के अभिलेखो मे यह दो आडी पाइयो के स्थान पर प्रयुक्त हुए है।[2]

(ण) एक आडी पाई द्वारा अनुगमित दो खडी पाइयाँ (।।–)। कभी-कभी यह चिह्न विवरण के अन्त को लक्षित करता है।[3]

(त) वायी ओर मुँह किये एक अर्द्धवृत्ताकार चिह्न (ͻ)। यह भी अभिलेखो के अन्त मे दिखायी पडता है।[4]

(थ) मध्य मे एक दण्ड से युक्त बायी ओर मुख किये एक अर्द्धवृत्ताकार पाई (।ͻ)। कुषाण अभिलेखो मे यह मागलिक सूत्र (मन्त्र) 'सिद्धम्' के पश्चात् आता है।[5]

(द) सख्या सम्बन्धी अक और मागलिक चिह्न। उपर्युक्त विराम चिह्नो के अतिरिक्त सख्या सम्बन्धी अको और मागलिक चिह्नो का भी, विरामादि सूचन के लिए प्रयोग होता था। अको का प्रयोग छन्दो के को[6] तथा मागलिक चिह्नो का प्रयोग अभिलेखो के अन्त[7] एवं हस्तलिखित प्रतियो मे मूल के परिच्छेदो को लक्षित करने के लिए हुआ है।[8]

६. पृष्ठांकन

विवरण के पूर्वापर सम्बन्ध के लिए पृष्ठाकन आवश्यक था। प्रस्तर-अभिलेखो तथा अन्य एक पृष्ठ वाले विवरणो के लिए इसकी कोई आवश्यकता नही थी। प्राचीन हिन्दू अपनी हस्तलिखित प्रतियो मे तथा ताम्रपत्रो मे जिनकी सख्या प्राय एक से

---

१ एपि० इण्डि० १।३८९, स० १४, फ्लीट गुप्त इन्स्० (सी० आई० आई० खण्ड ३), स० ३ पट्ट २वी, स० ४० पट्ट २६, स० ४१ पट्ट २७, स० ५५ पट्ट ३४।

२ एपि०, इण्डि० १। ३९५, स० २८, २९ (दान के वाद), फ्लीट गुप्त इन्स्० (सी० आई० आई० ख० ३)।

३ इण्डि० एण्टि०, ६।७६, एपि० इण्डि० ३।२६०।

४ अशोक के अभिलेख (कालसी शिलालेख स० १-९)।

५ एपि० इण्डि० २। २१२, स० ४२ तथा पाद-टिप्पणी।

६ फ्लीट गुप्त इन्स्० (सी० आई० आई० खण्ड ३) स० १, २।

७ अशोक के शिलालेख (जौगड शिलालेख)।

८ तुलनीय बावर हस्तलिखित प्रति।

अधिक होती थी, पृष्ठाकन का प्रयोग करते थे। यह ध्यान रखना चाहिये कि भारतीय प्रणाली केवल पाण्डुलिपियो के पत्रो के अकन की थी पृष्ठो के अकन की नही। भारत के अधिकाश भाग मे साङ्क पृष्ठ कहलाने वाला पत्र का दूसरा पृष्ठ अकित किया जाता था[1], जब कि दक्षिण मे पृष्ठाकन की सख्या प्रथम पृष्ठ पर होती थी। ताम्रपत्रो मे भी इसी प्रणाली का अनुसरण किया जाता था यद्यपि नियमित रूप से उनका अकन नही होता था।[2]

७. संशोधन

पत्थर तथा धातु पर के अभिलेखो तथा हस्तलिखित प्रतियों मे अशुद्धियो को शुद्ध करने के लिए अनेक विधियो का आश्रय लिया जाता था। उनमे से कुछ इस प्रकार हैं —

(क) अशुद्ध शब्दो और अशो को खुरच देना। अशोक के अभिलेखो मे इस विधि के उदाहरण पाये जाते हैं [3]

(ख) अशुद्धिवाली पक्ति के ऊपर और नीचे छोटी रेखाएं (स्ट्रोक) खीच देना। यह चिह्न बाद मे प्रयुक्त हुआ और अभिलेखों एव हस्तलिखित प्रतियो दोनो मे पाया जाता है।

(ग) अशुद्धाश को हल्दी या पीले लेप से पोत देना। इसका प्रयोग केवल हस्तलिखित प्रतियो मे ही होता था।

(घ) अशुद्ध शब्द या अश को कूट कर बराबर कर देना और तब उस पर शुद्धियाँ को खोदना। यह प्रक्रिया अधिकाश रूप से ताम्रपत्रो पर की जाती थी। कभी-कभी सम्पूर्ण लेखन-स्थान कूटकर बराबर करके नये विवरण के लिए तैयार किया जाता था। इसके कुछ नमूने उपलब्ध हैं।[4]

८. छूट

छूट के उपलब्ध उदाहरणों की सख्या शुद्धियो की सख्या से कम है तथा वाक्यो एव अशो को पूरा करने की प्रणाली सरलतर थी।

---

१ इसके कुछ अपवाद भी हैं। देखिए, वीनर जीत्श्रिफ्ट फुर डी कुन्डे डेस मार्गेनलाण्डेस (दि वियना ओरियण्टल जर्नल)।

२ बर्नेल साउथ इण्डियन पेलियोग्राफी, फलक २४।

३ कालसी शिलालेख स० १२ १.३१।

४ इण्डि० एण्टि० ७।३५१, स० ४७, १३।८४, एपि० इण्डिका ३।४१, टिप्पणी ६।

(क) छूटे हुए शब्दो एव उक्तियो को, सम्बन्धित स्थान का निर्देश करनेवाले किसी चिह्न के बिना, पक्ति के ऊपर या नीचे जोड देना। अशोक के अभिलेखो मे इस प्रकार के उदाहरण प्राप्त होते है।[१] यह अनिश्चितता और उदासीनता की अवस्था को व्यक्त करता है।

(ख) छूटे हुए शब्दो को वर्णों के बीच के रिक्त स्थान मे बैठाना।

(ग) छूटे हुए शब्दो को किनारे या पक्तियो के बीच, भूल के स्थान का निर्देश करनेवाले, काकपद या हसपद नाम के खडे या झुके हुए आडी खडी रेखा से बने चिह्न के साथ, जोडना।[२] अभिलेखो और हस्तलिखित प्रतियों मे पायी जाने वाली यह अवस्था बाद की है।

(घ) भूल के स्थान को बताने के लिए क्रास के स्थान पर स्वस्तिक (卐) का प्रयोग।[३]

(ङ) स्वेच्छापूर्ण छूट का निर्देश कराने के लिए क्रास का प्रयोग। दक्षिण भारत की व्याख्यायुक्त सूत्रो की हस्तलिखित प्रतियों मे यह विधि पायी जाती है।[४]

(च) मूल प्रति की त्रुटियो के कारण का निर्देश करने के लिए पक्ति के ऊपर छोटी-छोटी पाइयो या बिन्दुओ का प्रयोग।[५] विशेष रूप से यह प्रयोग काश्मीर की हस्तलिखित प्रतियो मे पाया जाता है।

(छ) ए और ओ के बाद अ के लोप (पूर्वरूप) की सूचना के लिए अवग्रह चिह्न (ऽ) का प्रयोग। यह सबसे पहले राष्ट्रकूट राजा ध्रुव के ८३४-३५ ई० के बडौदा ताम्रपत्र मे उपलब्ध होता है।[६]

(ज) अस्पष्ट अशो को लक्षित करने के लिए स्वस्तिक (卐) या कुण्डल (o) का प्रयोग। अधिकाशत इन चिह्नो का प्रयोग हस्तलिखित प्रतियो मे होता था।[७]

---

१ कालसी शिलालेख, १३।२, १, २, एपि० इण्डि० ३।३१४, १५।

२ एपि० इण्डि० ३।५२ पट्ट २, पक्ति १, एपि० इण्डि० ३, २७६, पक्ति ११।

३. इण्डि० एण्टि० ६।३२, पट्ट ३।

४ आपस्तम्ब धर्मसूत्र, पृ० ११(१०)।

५ इण्डि० एण्टि० ६।१९, टिप्पणी पक्ति ३३; २० टिप्पणी पक्ति ११।

६. इण्डि० एण्टि० १४।१९३, इपि० इण्डि० ३।३२९, ४।२४४ टिप्पणी।

६ संक्षेपण

जब किसी विवरण या उसके समान विवरण मे एक ही शब्द और उक्तियाँ आती हैं तो स्थान की मितव्ययिता और गति की वृद्धि के लिए सक्षेपण की प्रवृत्ति स्वाभाविक है। भारतीय प्राचीन लेखो मे काफी पहले यह प्रवृत्ति गोचर होती है। आन्ध्र राजाओ[1] तथा कुषाण काल[2] के अभिलेख प्रचुर मात्रा मे सक्षिप्त रूपो के नमूने उपस्थित करते हैं। बाद के अभिलेखो एव हस्तलिखित प्रतियो मे भी सक्षिप्त रूप मिलते हैं। इनका वर्गीकरण इस प्रकार हो सकता है

शब्द	सक्षिप्त रूप
सवत्सर	. . .सव, सव, स या स।
ग्रीष्म या गिम्हण (गर्मी)	. . . गृ०, गइ या गि।
हेमन्त	. हे।
दिवस	... दि।
शुद्ध या शुक्ल-पक्ष-दिन	.. .सु, सु दि या सु ति।
बहुल या बहुल-पक्ष-दिन (वदि)	व, व दि या व ति।[3]
द्वितीय	द्वि।[4]
दूतक	दू।[5]
गाथा	गा।[6]
श्लोक	. श्लो।[7]
पाद	पा।[8]
ठक्कुर	ठ°।[9]

१ पुलुमायि का नासिक अभि० स० १५, सिरिसेन या सकसेन मावरिपुत का कन्हेरी अभि० स० १४।

२ कनिष्क का सारनाथ बौद्ध मूर्ति अभि०, एपि० इण्डि० ८।१०३ इत्यादि, कनिष्क का आरा प्रस्तर अभिलेख २, एपि० इण्डि०, १४।१४३।

३ सुदि और वदि के स्थान पर सु ति और व ति रूप काश्मीर मे पाये जाते है।

४ सुराष्ट्र और महाराष्ट्र के अभिलेख, इण्डि० एण्टि०, ७।७३, पट्ट २, पक्ति २०, १३।८४, पक्तियाँ ३७, ४०।

६ खोतान मे प्राप्त धम्मपद की पाण्डुलिपि।

८ दि बॉवर मैन्युस्० पट्ट २।

९ दि मैन्युस्० आफ मालविकाग्निमित्र, पृ० ५, एस० पी० पण्डित का सस्करण।

१०. मांगलिक चिह्न और अलकरण

अभिलेखो के कृत्यो मे पवित्रता के योग तथा उनकी सफल समाप्ति के निश्चय के लिए मागलिक चिह्न उनसे सम्बद्ध कर दिये जाते थे। ऐसा प्राचीन भारतीय साहित्यिक पद्धति के अनुसार किया गया था जिसका विधान था कि प्रत्येक रचना (ग्रन्थ) के प्रारम्भ, मध्य और अन्त मे आशीर्वादात्मक या मागलिक शब्द होने चाहिये, जैसे सिद्ध, ओ, श्री, स्वस्ति इत्यादि।[1] अभिलेखात्मक स्मरणपत्रो (रिकार्ड) मे हमे शब्दो के स्थान पर चिह्न उपलब्ध होते हैं। प्राचीन भारतीय लेखन-प्रणाली मे अशोक के अनुशासनो के समय से मागलिक चिह्न प्राप्त होते है।[2] विभिन्न काल मे विभिन्न प्रकार के चिह्नो की महत्ता एव प्रचलन रहा है। उनमे से सबसे अधिक महत्त्व वाले इस प्रकार हैं :—

(क) स्वस्तिक (विस्तृत प्रचार वाला मागलिक चिह्न)।

(ख) त्रिरत्न (बौद्ध और जैन धर्मों के त्रिरत्न एव ब्राह्मण धर्म की त्रिमूर्ति को व्यक्त करने वाला अलकृत त्रिशूल)।

(ग) धर्मचक्र पर आश्रित त्रिरत्न।

(ग१) वध-मगल (मुकुट की भाँति का एक चिह्न)।

(घ) चैत्य।

(ङ) बोधिवृक्ष।

(च) एक बडे वृत्त के भीतर एक सकेन्द्री वृत्त या एक या अनेक विन्दु। लौकिक व्यवहार के अनुसार यह चिह्न धर्मचक्र या कमल के लिए

---

१ ग्रन्थपरिसमाप्ते निर्विघ्नतार्थं शिष्टाचारपरिपालनार्थं ग्रन्थादौ ग्रन्थमध्ये ग्रन्थान्ते च मगलम्।

२ देखिये, जौगड शिलालेख के प्रतिरूप (फैसिमिली), इण्डि० एण्टि०, ६।८८ ७।१६३।

३ सोहगौरा पत्र के प्रतिरूप, इपि० इण्डि०, २२ पृ० २, भज अभि० स० २, ३, ७। कर्ले अभि० स० १-३, ५, २०, नासिक अभि० स० १, ४ ए, बी, १४, २१, २४, एपि० इण्डि० २।३६८, भगवान लाल, सिक्स्थ ओरियण्टल काग्रेस प्रोसी० ३।२, पृ० १३६ इत्यादि।

३अ खारवेल का हाथीगुम्फा अभिलेख, एपि० इण्डि० २०, पृ० ७२ इत्यादि।

४ ये चिह्न अपने लक्षण से राष्ट्रीय थे और इनका प्रयोग किसी सम्प्रदाय से निरपेक्ष रूप से होता था।

होता है।[1] इस चिह्न का प्रयोग ग्रन्थों मे लम्बे परिच्छेदो के अन्त मे तथा प्रलेखों एव साहित्यिक कृतियो के अन्त मे पाया जाता है।

(छ) ओम् मे के ओ के रूढ या आलकारिक रूप। बाद के अभिलेखो मे वे प्रचुरता से आते हैं, अभिलेखो के प्रारम्भ और अन्त मे तथा कभी-कभी ताम्रपत्रो के किनारे (हाशिया) पर खोद दिये जाते है।[2]

(ज) अभिलेखों से सम्बन्धित अर्द्धमूर्त्तियाँ। इन आलकारिक रूढियो मे जिनका विशिष्ट रूप से प्रयोग हुआ है वे इस प्रकार हैं शख, पद्म, नन्दी, मत्स्य, सूर्यचक्र, तारा इत्यादि।[3] शख और पद्म सम्पन्नता, नान्दी सुरक्षा, मत्स्य उर्वरता तथा सूर्यचक्र और तारा सुदीर्घता के चिह्न हैं।

(झ) राजकवच। इस चिह्न का प्रयोग कुछ हद तक विरल है। यह ताम्र-पत्रो पर सम्भवत राजाक के स्थान पर, जो साधारणतया अलग से ताम्रापत्र से आबद्ध कर दिया जाता था, पाया जाता है। कभी-कभी इस प्रकार की रूढियाँ प्रस्तर-अभिलेखो पर भी पायी जाती हैं।[4]

(ञ) नेपाल की बौद्ध, गुजरात की जैन तथा राजस्थान, काश्मीर और काँगडा की ब्राह्मण हस्तलिखित प्रतियाँ प्रचुर मात्रा से अलकृत एव चित्रमय हैं। उनमे धार्मिक चिह्न फूल-पत्ती तथा भित्ति सम्बन्धी आलकारिक रूढियाँ हैं।

११. अक

यद्यपि राजकीय एव आधिकरणिक आदेशो, राजनीतिक लेखो तथा नैतिक पत्रो पर राजाक का प्रयोग प्रचलित रहा होगा किन्तु भारतीय अभिलेखो के प्रारम्भिक काल मे दानपत्रो के लिए व्यावहारिक दृष्टि से यह परमावश्यक नही समझा जाता

---

१ ये चिह्न फ्लीट के गुप्त इन्स्० मे स्पष्टत दृश्य है (सी० आई० आई० खण्ड ३ स० ३ पट्ट ३९ ए)।

२ फ्लीट गुप्त इन्स्० सी० आई० आई० खण्ड ३, स० ११ पट्ट ६ ए, स० २० पट्ट १२ बी, स० २६ पट्ट १६, इण्डि० एण्टि० ६।३२; एपि० इण्डि० ३।५७, दि बाबर मैन्युस्० पट्ट १, अल्बेरूनी इण्डिया (सचाऊ) १।१७३।

३ भगवान लाल का नेपाल इन्स्०, इण्डियन आर्ट ९।१६३ इत्यादि।

४ एपि० इण्डि० ३।३०७, ३।१४, इण्डि० एण्टि० ६।४९ इत्यादि, १६२।

होगा। प्राचीनतम व्यवहार ग्रन्थ दान सम्बन्धी किसी शासनपत्र पर अक के प्रयोग का आग्रह नही करते। वास्तव मे अको के प्रयोग की प्रथा बाद की चीज है। प्रथम व्यवहारशास्त्र, जो दान सम्बन्धी शासनपत्र पर अक के प्रयोग की आवश्यकता समझता है, याज्ञवल्क्यस्मृति (ईसा की पहली और दूसरी शताब्दी) है, यद्यपि इस प्रकार का पहला प्रत्यक्ष प्रमाण ईसा की चौथी शताब्दी का है। पूर्वमध्यकाल से राजकीय प्रामाणिकता की दृष्टि से मुद्राओ का प्रयोग काफी प्रचलित हो गया था। फिर भी यह केवल ताम्रपत्रों की दशा मे सत्य था, प्रस्तर-लेखों पर राजकीय प्रामाणिकता का कोई चिह्न नही था। प्रस्तर-शासनो पर प्रामाणिकता के चिह्न के अभाव का कारण सम्भवत यह था कि प्रस्तर-शासनो की दूसरी प्रति ताम्रपत्रों पर होती थी जिसमे राजकीय अक जोड दिया जाता था।

राजाको का ताम्रपत्रो पर प्रयोग कुछ विशिष्ट विधियो के अनुसार होता था तथा राजकीय प्रामाणिकता के अतिरिक्त इसका और भी उद्देश्य था। अधिकाश दान सम्बन्धी शासन एक से अधिक ताम्रपत्रो पर लिखे गये हैं। एक शासन के सभी पत्रो को रखने के लिए उसी धातु का एक छल्ला बनाया जाता था। पत्रों के दाहिने पार्श्व मे एक छेद किया जाता था और छेदो मे छल्ला डाल दिया जाता था। अन्त मे अक छल्ले मे डाल दिया जाता था। छल्ले के दोनो सिरे कील या अन्य किसी रीति से जोड दिये जाते थे और अक जोड के ऊपर लगा दिया जाता था। शासनो के साथ अक लगाने का यह ढग मूल शासनपत्र के प्रति किसी प्रकार के जाल, योग एव परिवर्तन के विरुद्ध सुरक्षा कवच का काम देता था क्योंकि बिना अक को तोडे मूल पत्र अलग नही किये जा सकते थे तथा अक के निर्माण पर राजा का एकाधिकार था।

राजकीय अक विभिन्न प्रकार के थे। अधिकाश मे राजकवच पवित्र या प्रतीकात्मक पशु-पक्षियो तथा सम्बन्धित राजकुटुम्बो मे पूजे जाने वाले देवताओ की मूर्तियाँ थी। कुछ अको मे इन लक्षणो के अतिरिक्त राजा या वश के सस्थापक का नाम अथवा सम्पूर्ण वशावली से युक्त छोटे या बडे लेख होते थे। कुछ अको मे किसी महत्त्व का एक लेखमात्र था। अको के कुछ महत्त्वपूर्ण नमूनो का वर्गीकरण इस प्रकार हैं

(१) गुप्तो का अक। इसमे विष्णु के वाहन गरुड पक्षी की मूर्ति होती थी। इसको 'गरुडमदक' (गरुड युक्त अक) कहते थे। समुद्रगुप्त की प्रयाग प्रशस्ति मे इसका उल्लेख है।[1] समुद्रगुप्त के पाँचवे और नवे वर्ष के जाली नालन्दा ताम्रपत्र अभिलेखो मे यह अक है जो अवश्य ही मूल

---

१ फ्लीट सी० आई० आई०, खण्ड ३, स० १।

नमूने के आधार पर जाली रूप से तैयार किया गया होगा।[1] कुमारगुप्त द्वितीय (तृतीय ?) के भितरी अक पर भी गरुड़ चित्र है तथा उसके नीचे वशावलीयुक्त विरुद है।[2] नालन्दा मे इस प्रकार के तमाम गुप्त अक प्राप्त हुए है।[3]

(२) पुष्यभूतियो का अक। ताम्रपत्रो मे अलग से कोई अक नही लगाया जाता था। किन्तु लेख के अन्त मे राजा का स्वहस्ताक्षर खोद दिया जाता था। हर्ष के हस्ताक्षर का पाठ है 'स्वहस्तो मम राजाधिराज-श्री-हर्षस्य'।[4]

(३) चेदियो का अक। यह एक वृत्ताकार अक था जिसमे जिसके ऊपर गजलक्ष्मी (अर्थात् दोनो पार्श्वों से दो हाथियो द्वारा जल से सीची जाती हुई लक्ष्मी) का चित्र, साथ मे विरुद 'श्रीमत्करणदेव' तथा नन्दी होता था।[5]

(४) परमारो का अक। उनके अक पर गरुड का चित्र रहता था।[6]

(५) वाकाटको का अक।

(क) छन्दोबद्ध लेख से युक्त किन्तु बिना किसी युक्ति के वृत्ताकार मुद्रा।[7]

(ख) छन्दोमय विरुद—वाकाटकललामस्य क्रमप्राप्तनृपश्रिय। जनन्या युवराजस्य शासन रिपुशासनम्॥—के साथ सूर्य, चन्द्र तथा अधोभाग मे पुष्प, की आकृतियों से युक्त (एक) अक।[8]

(६) त्रिकूटो और कटच्छुरियो का अक। इनका अक वृत्ताकार होता है जिस पर राजा का नाम लिखा होता है जैसे 'अल्लशक्ति'।[9]

---

१ एपि० इण्डि०, खण्ड २५, पृ० ५२ इत्यादि, फ्लीट सी० आई० आई० खण्ड ३, पृ० २५६ इत्यादि।
२ फ्लीट इण्डि० एण्टि० १९, पृ० २२५।
३ मेम्वायर्स ऑफ दि आर्क्यालॉजिकल सर्वे ऑफ इण्डिया स० ६६।
४. हर्ष का बांसखेड़ा ताम्रपत्र अभिलेख (तिथि ६२८ ई०) एपि० इण्डि० ख० ४, पृ० २०८।
५ कर्णदेव के गोहरवा पट्ट, एपि० इण्डि० ११।१३९।
६ इण्डियन एण्टिक्वेरी ६, पृ० ४८ इत्यादि।
७ फ्लीट (सी० आई० आई० खण्ड ३ पट्ट ३८, एपि० इण्डि० २२, पृ० १३३।
८ प्रभावती गुप्ता का पूना-पट्ट, एपि० इण्डि० १५।४१।
९ ज० बी० आर० ए० एस०, २०।

(७) बादामी के चालुक्यों के अक —

(क) वराह-चित्रण से युक्त विना किसी विरुद के वृत्ताकार या अण्डाकार अक।[1]

(ख) चालुक्यो के राज्यपालों तथा सामन्तो के अक जिनपर वराह की आकृति तथा विरुद दोनों होते थे।[2]

(८) राष्ट्रकूटो के अक —

(क) एक के ऊपर एक पैर किये हुए पक्षयुक्त गरुड की आकृति से युक्त अंक।[3]

(ख) गरुडमदक एव कुसुमाकृति-युक्त अक।

(ग) अक जिसमे दोनो पजों मे दो साँपो के साथ गरुड का रूप, गणपति तथा पार्वती के रूप और चौरी, दीपक, स्वस्तिक, लिंग तथा अकुश के चित्र होते थे।

(९) कल्याणी के चालुक्यो के अक —

(क) पूर्वकालीन बादामी के चालुक्यो के प्रकार का अक।

(ख) वराह के रूप से युक्त नागरी वर्णों मे 'श्रीमदरिकेशरिण' विरुद वाला वृत्ताकार अक।[6]

(१०) चालुक्य सामन्तो के अक।[7]

(क) गोवा के कदम्बो के अक पर सिंह का रूप बना होता था।

(ख) सौन्दत्ति के रट्टो का अक हस्ती की आकृति से युक्त था।

(ग) सिन्दस के रट्टो ने जिस अक को ग्रहण किया था उस पर व्याघ्र या हरिण के साथ व्याघ्र का रूप रहता था।

(घ) गुत्तल के गुट्टो ने अपने अक पर सिंह को अच्छा समझा।

---

१ लूडर्स, एच्० ए० लिस्ट ऑफ ब्राह्मी इन्स्क्रिप्शन्स इत्यादि स० १२, १७, ३९, ४८।

२ वही, स० ११, ३२।

३ वही, स० ९२, १३३।

४ वही, स० ९७, १०७।

५ वही, स० १३३, १४७।

६ वही, स० ३६९।

७ बी० जी०, १।२।२९९, टिप्पणी ४।

(११) यादवो तथा शिलाहारो का अक। इन्होने राष्ट्रकूटो की रीति का अनुसरण किया। इनके अक पर गरुड की आकृति तथा ध्वज होते थे।[1]

(१२) पल्लवो का अक। इस पर दाहिनी ओर मुँह किये बैठे हुए व्याघ्र की आकृति थी।[2]

(१३) पूर्वी चालुक्यो का अक। इस पर गरुड का रूप होता था जिसके नीचे 'त्रिभुवनाकुश' विरुद रहता था। अक के ऊपरी भाग मे अर्धचन्द्र, सूर्य तथा अकुश की आकृति एव निचले भाग मे पुष्पाङ्कन।[3]

(१४) चोलो का अक। अक के बीच मे वराह का रूप होता था। वराह के ऊपर विरुद, विरुद के ऊपर चन्द्र और अकुश की आकृति, वराह के नीचे दाहिनी और बायी ओर दो दीपको के बीच कमल का फूल, वराह के पार्श्वों मे पुष्प और शख।[4]

---

१ लिस्ट स० १९८, २००, २३२।
२ इण्डियन एण्टिक्वैरी, ५, पृ० ५० के सामने दिया गया पट्ट।
३ वही, खण्ड ६, पृ० ४८ इत्यादि।
४ बर्नेल एस० आई० पी०, पृ० १०६ के सामने दिया गया पट्ट स० ३३।

अध्याय आठवाँ

अभिलेखों के प्रकार

१ प्रमुख प्रकार

मोटे तौर पर अभिलेखो के दो प्रकार थे—(१) राजकीय या आधिकरणिक और (२) लौकिक या वैयक्तिक। प्राचीन भारतीय अभिलेखो का वर्गीकरण इन शीर्षको के अन्तर्गत हो सकता है। वाद के धर्मशास्त्र ग्रन्थ भी इस वर्गीकरण को पुष्ट करते है। उदाहरण के लिए स्मृतिचन्द्रिका मे उद्धृत वसिष्ठ कहते है "लेख्य दो प्रकार के है, लौकिक (लोगो के) और राजकीय"।[1] सग्रहकार के रूप मे उद्धृत कुछ लेखकों का वसिष्ठ से मतैक्य है, वे दो भागो मे लेखो (अभिलेखो) को विभाजित करते हैं—(१) राजकीय और जनपदीय (जनपद सम्बन्धी)।[2] राजकीय लेख्य या तो स्वय राजाओं द्वारा या उनके सामन्तो, प्रान्तीय शासको तथा उच्च मत्रियो द्वारा दिये जाते थे, जिन्हे ऐसा करने का अधिकार था। लौकिक लेख्यो के लिए जनसाधारण उत्तरदायी थे यद्यपि अनेक अशो मे वे राजकीय लेख्यो का अनुसरण करते थे। राजकीय लेख्य पुन चार भागो मे विभाजित किये जाते थे।[3]

(१) शासन (मध्यकाल मे भूमिदानपत्र के अर्थ मे इसका प्रयोग होता था)।
(२) जयपत्र (व्यावहारिक निर्णय)।
(३) आज्ञापत्र (आदेश)।
(४) प्रज्ञापन पत्र (घोषणा)।

२ धर्मशास्त्रो के अनुसार

धर्मशास्त्र साहित्य के आधार पर इन चार वर्गों की परिभाषा और व्याख्या इस प्रकार हो सकती है

---

१ लौकिक राजकीयञ्च लेख्य विद्यात् द्विलक्षणम्। व्यवहार, १।१४।
२ राजकीय जनपद लिखित द्विविध स्मृतम्। वही।
३ शासन प्रथम ज्ञेय जयपत्र च तथा परम्।
आज्ञाप्रज्ञापनपत्रे राजकीय चतुर्विधम्॥ वसिष्ठ, स्मृतिचन्द्रिका, व्यवहार, १।१४।

(१) शासन। याज्ञवल्क्यस्मृति मे हमे शासन की निम्नलिखित परिभाषा प्राप्त होती है :

भूमि देकर या निबन्ध (दान) करके राजा को उसे, आने वाले भद्र राजाओ के परिज्ञान के लिए, लिखित करा देना चाहिये। पुन राजा को पट (वस्त्र) पर या ताम्रपत्र पर अपनी वशपरम्परा तथा प्रशस्ति, प्रतिगृहीता का नाम, दान का परिमाण और भूमिभाग की सीमाओ के वर्णन से युक्त अपनी मुद्रा से चिह्नित तथा हस्ताक्षर एव काल देकर स्थायी शासन करा देना चाहिये।"[1]

(२) जयपत्र। इसकी इस प्रकार व्याख्या की गयी है "व्यावहारिक कार्यवाही को स्वय देखकर तथा प्राड्विवाक से सुनकर राजा को जनसाधारण के सूचनार्थ जय-पत्र देना चाहिये।"[2]

(३) आज्ञापत्र। वसिष्ठ ने इसकी यह परिभाषा की है "आज्ञापत्र वह कहलाता है जिसके माध्यम से सामन्तो, भृत्यो (उच्चकर्मचारियो) या राष्ट्रपालादिको को कार्य का आदेश दिया जाय।"[3]

(४) प्रज्ञापन। उपर्युक्त लेखक (वसिष्ठ) इसकी इस प्रकार व्याख्या करता है "प्रज्ञापन वह है (प्रज्ञापन के लिए यह पत्र होता है) जिसके माध्यम से ऋत्विक (यज्ञपुरोहित), पुरोहित (राज्य के धार्मिक विभाग का अधिकारी), आचार्य, मान्य तथा अभ्यर्हित जनो के प्रति किसी कार्य का निवेदन किया जाय।"[4]

राजकीय या आधिकरणिक लेखो के अन्तर्गत बृहस्पति प्रसाद लेख्य (किसी व्यक्ति पर प्रसन्न होकर राजा द्वारा उसे दी गयी किसी वस्तु का लेख) को भी सम्मिलित कर लेते हैं। इसकी इस प्रकार परिभाषा की गयी है, "जहाँ राजा (किसी व्यक्ति

---

१ दत्त्वा भूमिं निबन्धं वा कृत्वा लेख्यं तु कारयेत्।
आगामिभद्रनृपतिपरिज्ञानाय पार्थिव ॥
पटे वा ताम्रपट्टे वा स्वमुद्रोपरिचिह्नितम्।
अभिलेख्यात्मनो वंश्यानात्मानञ्च महीपति ॥
प्रतिग्रहपरिमाणं दानच्छेदोपवर्णनम्।
स्वहस्तकालसम्पन्नं शासनं कारयेत् स्थिरम् ॥१।३१७-१९।

२ व्यवहारान् स्वयं दृष्ट्वा श्रुत्वा प्राड्विवाकत ।
जयपत्रं ततो दद्यात् परिज्ञानाय पार्थिव ॥
—व्यास, स्मृतिचन्द्रिका, व्यवहार १।१४।

३ सामन्तेष्वथ भृत्येषु राष्ट्रपालादिकेषु वा ॥
कार्यमादिश्यते येन तदाज्ञा पत्रमुच्यते ॥ वही ॥

४ ऋत्विक् पुरोहिताचार्यमान्येष्वभ्यर्हितेषु च
कार्यं निवेद्यते येन पत्रं प्रज्ञापनाय तत् ॥ वही ॥

की) सेवा और शूरवीरता आदि से प्रसन्न होकर लिखत द्वारा भूभाग आदि देता है, वह प्रसाद लेख्य होता है।"[1]

जानपद लेख्यो का व्यास ने इन शब्दो मे वर्णन किया है "किसी प्रसिद्ध स्थान के लेखक को राजा के वशक्रम, वर्ष, मास, पक्ष तथा दिवस से युक्त जानपद लेख्य लिखना चाहिये।"[2] इस प्रकार का यही विधान था जिसने लौकिक लेख्यो को राजनीतिक महत्त्व का तथा राजनीतिक इतिहास के पुर्ननिर्माण मे सहायक बना दिया। लौकिक लेख्यों का अनेक प्रकार के व्यवहारो से सम्बन्ध है। स्मृति को विशेष रूप से ठेके तथा धन-सम्बन्धी व्यवहारो के लिए निश्चित स्वरूप का होना आवश्यक समझा जाता था। याज्ञ्यवल्क्य का विधान इस प्रकार है "जो कुछ भी पारस्परिक सम्मति से तय होता है उसे साक्षियो तथा धनिक (धन उधार देने वाले) के नाम के सहित लिखित कर लेना चाहिये।"[3]

यहाँ यह ध्यान रहे कि प्राचीन भारतीय अभिलेखो के उपलब्ध नमूनो से उनके पूर्वकाल मे, लेख्यो के स्वरूप के सम्बन्ध मे स्मृति नियमो के विकास मे सहायता मिली है और उत्तर काल मे उन नियमो के द्वारा वे प्रभावित हुए। बहुत अशो मे इसकी पुष्टि उपलब्ध अभिलेखो की शैली एव विषय की तुलना स्मृति मे दिये गये नियमो से करके हो सकती है।

३. अभिलेखो के विषय के अनुसार

यदि हम अभिलेखो के विभिन्न विषयो का विवेचन करें तो उनका वर्गीकरण निम्नलिखित शीर्षको के अन्तर्गत हो सकता है

(क) व्यापारिक,
(ख) तान्त्रिक,
(ग) धार्मिक और शिक्षात्मक,
(घ) शासन सम्बन्धी,
(ङ) प्रशस्तिपरक,
(च) पूजा या समर्पणपरक,

---

१ देशादिक यत्र राजा लिखितेन प्रयच्छति।
सेवाशौर्यादिना तुष्ट प्रसादलिखित हि तत् ॥ वही ॥

२ लिखेज्जानपद लेख्य प्रसिद्धस्थानलेखक।
राजवशक्रमयुत वर्षमासार्द्धवासरै ॥ वही ॥

३ य कश्चिदर्थो निष्णात स्वरुच्या परस्परम्।
लेख्य तु साक्षिमत् कार्यं तस्मिन् धनिकपूर्वकम् ॥ व्यवहार ६।८४।

(छ) दान सम्बन्धी,
(ज) स्मारकीय,
(झ) साहित्यिक ।

१ व्यापारिक । इस प्रकार के प्राचीनतम नमूने सिन्धुघाटी मे हरप्पा और मोहनजोदरो मे प्राप्त मुद्राओ पर उपलब्ध होते है। कुछ मुद्राएँ स्पष्ट रूप से व्यापारिक वस्तुओ की गाँठो तथा वैयक्तिक व्यापारिक वस्तुओ जैसे मिट्टी के बर्तनो, पर अकित करने के लिए प्रयुक्त होती थी।[1] "यह सम्भव है कि (मुद्राओ पर के) छोटे अभिलेख साधारण रूप मे अधिकारियो के नाम मात्र है तथा बडे अभिलेखो मे उनके स्वामियो की पदवियाँ भी दी गयी हैं।"[2] ऐसा प्रतीत होता है कि ये मुद्राएँ विदेशी व्यापार मे रत नाविक व्यापारियो द्वारा प्रयुक्त होती थी। सिन्धुघाटी की सभ्यता के बाद के ऐतिहासिक कालो मे व्यापारिक मुद्राओ अथवा व्यापारिक प्रकृति के किन्ही व्यापक अभिलेखो के नमूने उपलब्ध नही हुए हैं। इस सम्बन्ध मे यह ध्यातव्य कि निगमो और श्रेणियो को अपने-अपने सिक्के बनाने का अधिकार था तथा उनके पास उनकी अपनी मुद्राएँ भी अवश्य होगी। उनको व्यापारिक उद्देश्य से लेखन का भी व्यापक प्रयोग करना पडता होगा यद्यपि इस प्रकार के व्यापारिक लेख नाशवान् पदार्थ पर होने के कारण सुरक्षणीय नहीं समझे जाते थे।[3] विधिवशात् कुछ व्यापारिक ढग के लेख्य अन्य प्रकार के अभिलेखो मे पाये जा सकते है। उदाहरण के लिए मालव स० ५२९ के कुमारगुप्त और बन्धुवर्मन के समय के मन्दसौर प्रस्तर-अभिलेख मे व्यापारिक उद्देश्य की कुछ पक्तियाँ आ गयी हैं। इन पक्तियो का अनुवाद इस प्रकार किया जा सकता है "यौवन और कान्ति से सम्पन्न, सुवर्णहार, ताम्बूल एव पुष्पो के विधान से भलीभाँति अलकृत होते हुए भी नारी तब तक अपने प्रिय के पास एकान्त मे मिलन के लिए नहीं जाती जब तक कि उसने रँगे हुए रेशम के वस्त्रद्वय को धारण न कर लिया हो। इस तरह, पृथ्वी का सम्पूर्ण यह भाग उनके द्वारा मानो सुन्दर स्पर्श वाले, विभिन्न वर्णो के विभाजन मे अलकृत एव नेत्रसुभग रेशमी परिधान से—अलकृत है।"[4] उनमे प्रचार (विज्ञापन) का प्रोज्ज्वल और आकर्षक रूप विद्यमान है।

---

१ मोहनजोदरो एण्ड इण्डस सिविलीज़ेशन, खण्ड २, पृ० २९७।
२ वही, पृ० ३८१।
३ तुलनार्थ पजाब, राजस्थान और मध्यभारत के जातीय सिक्के, एलन : ब्रिटिश म्यूज़ियम कैटालाग, एन्शियण्ट इण्डिया।
४. तारुण्यकान्त्युपचितोऽपि सुवर्णहार ताम्बूलपुष्पविधिना समलकृतोऽपि।
नारीजन प्रियमुपैति न तावदग्र्या यावन्न पट्टमयवस्त्रयुगानि धत्ते ॥

२. **तान्त्रिक**। इस प्रकार के प्राचीनतम नमूने भी सिन्धुघाटी से ही प्राप्त हुए हैं। वास्तव मे जिन्हे मुद्रा कहा जाता है उनमे अधिकाश तान्त्रिक मत्रो से युक्त तावीजे हैं। "ऐसा सम्भव प्रतीत होता है कि पकी मिट्टी तथा सोफायनी मिट्टी पर के निशान तान्त्रिक समझे जाते थे यद्यपि वे देयधर्म भी थे। एक मुद्राहृत तावीज मे भोडे-भोडे छेद किये गये है जिनका स्पष्ट उद्देश्य इसे किसी चीज—सम्भवत वस्त्रो—मे लगाना था। इसके अतिरिक्त सभी तावीजो, जिनके केवल एक ओर ठप्पा मारा गया है, का पृष्ठभाग बिलकुल चिकना है जिससे प्रतीत होता है कि वे कभी किसी चीज़ मे नही लगी थी और इसलिए व्यापारिक वस्तुओ के लेबुल नही थे। फिर मुद्रालक्षणो से लक्षित अनेक वस्तुओ पर एक से अधिक ऐसे लेख हैं जो ताबीज के योग्य हो सकते है किन्तु किसी अन्य कार्य की सिद्धि के लिए नही। कुछ के ऊपर लाल आवरण है जो मुहरो (सीलिंग) के ऊपर कभी नही रहता और सर्वथा निष्प्रयोजन भी है।"[1] चूँकि मुद्राएँ अभी तक नही पढी गयी है, अभिलेखो की विषयवस्तु के विषय मे निश्चित रुप से कुछ कहना कठिन है। सम्भवत उनमे अपने सम्प्रदायों के विशिष्ट पशुओ द्वारा व्यक्त किये जानेवाले देवताओ के नाम तथा उनके प्रति स्तोत्र है। निम्नलिखित पशु साधारणतया तावीजो पर आते हैं जो उनके सामने लिखे गये देवताओ को व्यक्त कर सकते है।"[2]

कुरग मृग	चन्द्रमा
महिष	यम
ब्राह्मी वृषभ	शिव
मिश्रित पशु	?
हस्ती	इन्द्र
अजा	ब्रह्मा (?)
शश	चन्द्रमा
मनुष्यरूप	?
वानर	?
गैंडा	नदी
छोटे सीगो वाला वृष	शिव

स्पर्शवता वर्णान्तरविभागचित्रण नेत्रसुभगेन।
यै सकलमिद क्षितितलमलकृत पट्टवस्त्रेण ॥ फ्लीट सी० आई० आई० खण्ड ३, स० १८, श्लोक २०-२१।

१ मोहनजोदरो एण्ड इण्डस सिविलीजेशन, खण्ड २, पृ० ३९७।

२ वही, पृ० ३९९।

व्याघ्र	देवी दुर्गा (?) (=मातृदेवी)
द्विमुण्ड पशु	?

धातु, भूर्जपत्र तथा अन्य नाशवान् पदार्थो पर तान्त्रिक मत्रो का लिखा जाना समान रूप से जारी रहा।

३ धार्मिक एवं प्रबोधात्मक (शिक्षात्मक)। धर्म या आचार के वर्णन, अवस्था एव उपदेशो से सम्बन्धित सभी अभिलेख इस कोटि मे आ जाते है। बहुत सम्भव है कि सिन्धुघाटी मे हरप्पा और मोहनजोदरो से प्राप्त मुद्रा और तावीज कही जाने वाली वस्तुएँ विभिन्न सम्प्रदायो के धार्मिक सूत्रो से युक्त पूजा की वस्तु हो और उनका प्रयोग शरीर के साथ रहनेवाली तावीजो के रूप मे न होता हो। इस प्रकार के अभिलेखो का दूसरा समुदाय ईसा पूर्व की तीसरी शताब्दी के अशोक के अनुशासनो मे पाया जाता है। अशोक के अनुशासनो मे निश्चित रूप से इन अभिलेखो को 'धर्मलिपि' कहा गया है।[1] अशोक के अनुशासनो की धार्मिक एव प्रबोधात्मक दशा का परिज्ञान शिलालेख स० ४ के इस अश से हो जायगा "जो कि पूर्व के सैकडो वर्षो से (घटित) नही हुए थे आज वे देवो के प्रिय प्रियदर्शी राजा के धर्मानुशासनो द्वारा वर्धित हैं—प्राणियो का अवध, भूतो के प्रति अहिंसा, सम्बन्धियो के प्रति सद्व्यवहार, ब्राह्मणो और श्रमणो के प्रति सादर व्यवहार, माता-पिता की शुश्रूषा, बडो की सेवा । धर्म के इस तथा अन्य अनेक प्रकार के आचारो की वृद्धि हुई है तथा देवो के प्रिय प्रियदर्शी राजा धर्म के इस आचार की वृद्धि को प्रेरित करेंगे। प्रियदर्शी राजा के पुत्र, पौत्र और प्रपौत्र प्रलयवेला तक धर्म के इस आचरण की वृद्धि करेगे तथा धर्म और धार्मिक आचरण का अनुसरण करते हुए धर्म और धार्मिक आचरण की शिक्षा (अनुशासन ?) देंगे क्योकि धर्मोपदेश सर्वोत्तम कार्य है . ।"[2] उत्तर शुग राजा भागभद्र के समय का बेसनगर गरुड-स्तम्भ अभिलेख यद्यपि पूजापरक है, इसके दूसरे भाग मे आचरणात्मक सिद्धान्त निहित हैं . "यहाँ तीन अमृत पथ हैं। उनका भली भाँति अनुष्ठान किया

---

१ से अत्र यदा अय धम्मलिपी लिखिता। अय ध्रमदिपि दिपिस्त। अशोक शिलालेख स० १, गिरनार सस्करण, अशोक शिलालेख स० ५, शाहबाजगढी सस्करण, हुल्श कॉ० आई० आई०, खण्ड १।

२ यारिसे बहूहि न भूतपुवे तारिसे अज वढिते देवान पियस पियदसिनो राञो धम्मानुसस्टिया अनारभो प्राणान अविहीसा भूतान जातीन सपटिपती ब्रम्हण समणान सपटिपती मातरि पितरि सुस्रुसा थैरसुस्रुसा एस अजे च बहुविधे धमचरणे वढिते वढयिसति चेव देवान प्रियो प्रियदसि राजा धमचरण इद । वही।

जाये तो स्वर्ग को ले जाते है। वे है सयम, त्याग और अप्रमाद।"[1] भारतीय इतिहास के परवर्ती युगो मे विशुद्ध धार्मिक और आचरणात्मक कोटि के अभिलेख नही मिलते, धार्मिक और नैतिक विषय पूजा और दानपरक सामग्री से मिश्रित पाये जाते है। उदाहरण के लिए मालव स० ४९३ और ५२९ की तिथियो से अकित कुमार-गुप्त द्वितीय के मन्दसोर प्रस्तर-अभिलेख मे एक प्रवोधात्मक एव दार्शनिक टिप्पणी दी गयी है जो इस प्रकार है "वायु से हिलते हुए विद्याधरागना के सुन्दर पल्लव के कर्णपूरो (कर्णाभूषणो) से भी अधिक लोक एव (उसी प्रकार) मनुष्य जीवन तथा धन के विशाल कोषो (राशियो) की अस्थिरता को समझ कर उनकी वुद्धि तव से शुभ और अचल हो गयी।"[2]

४. **शासन सम्बन्धी**। इस प्रकार के अभिलेखो का प्रथम समूह अशोक के अनुशासनो मे प्राप्त होता है यद्यपि वे धर्म और आचार से प्रभावित होकर लिखे गये थे। इसके कुछ उदाहरण पर्याप्त होगे "सर्वत्र मेरे विजित प्रदेश मे युक्त, रज्जुक तथा प्रादेशिक इस उद्देश्य (धर्मशिक्षा) तथा अन्य कार्यों के लिए पाँच-पाँच वर्ष मे परिभ्रमण (अनुसयान) करेगे "[3]

> "वहुत समय व्यतीत हुआ पहले धर्म महामात्र नही थे। वे मेरे द्वारा, जब मेरे अभिषेक के तेरह वर्ष हो गये, बनाये गये। धम्म की स्थापना एव वृद्धि तथा धर्मयुक्त जनों के सुख और कल्याण के लिए वे सभी सम्प्रदायो (पाषण्डो) मे कार्य करने पर लगा दिये गये हैं।"[4]

"इसलिए मैने ऐसा प्रबन्ध किया है कि हर समय—खाने के समय भी—हर जगह—अन्त पुर, गर्भागार (शयनगृह), मार्ग, यान तथा उद्यान मे—प्रतिवेदक आकर मुझे प्रजा की बाते (अर्थ) सुनाएँ। मै सर्वत्र प्रजा का कार्य करता हूँ।

---

१ त्रिनि अमुतपदानि इअ सु-अनुठितानि। नेयति स्वग दम चाग अप्रमाद॥
—आर्क या० सर्वे ऑफ इण्डिया, एन्युअल रिपोर्ट, १९०८-०९।

२ विद्याधरीरुचिरपल्लवकर्णपूरवातेरितास्थिरतर प्रविचिन्त्य लोकम्।
मानुष्यमर्थनिचयाश्च तथा विशालास्तेषा शुभा मतिरभूदचला ततस्तु॥
—फ्लीट सी० आई० आई०, खण्ड ३, स० १८, श्लोक २२।

३ मया इद आजपित —सर्वत विजिते मम युता च राजुके च प्रादेशिके च पचसु पचसु वासेसु अनुसयान नियातु। अशोक शिलालेख ३।

४ अतिकात अन्तर न भूतपूर्व धममहामाता नाम। त मया तैदसवासाभिसितन धममहामाता कटा। ते सवपासडेसु व्यापता धमधिस्टानाय धमवढिया हिद सुखाय च धमयुतसा। अशोक शिलालेख ५।

जो कुछ भी मैं स्वय मुख से देने या घोषित करने के लिए कहूँ, एव जो कुछ महामात्रो को आवश्यक (आव्ययिक) आज्ञा दी जाय और परिषद् मे उनके प्रति कोई विवाद या अस्वीकृति हो, तो मुझे हर समय हर जगह सूचित किया जाय।"[१]

"देवताओ के प्रिय की आज्ञा से तोसली के नगर व्यवहारक (=नगर प्रशासक) महामात्र से इस प्रकार कहना चाहिये . जो कुछ मैं सोचता हूँ, वही चाहता हूँ। वह क्या है ? उसे कार्यान्वित करता हूँ और उसकी सूचना समुचित उपायो से देता हूँ। और कार्य को सिद्ध करने का मुख्य उपाय है आप लोगो को शिक्षा देना। आप लोग अनेक सहस्र प्राणियो के ऊपर इसलिए नियुक्त किये गये हैं कि लोगो का प्रेम मुझे प्राप्त हो सके।"[२]

विशुद्ध शासनपरक अभिलेख का एक उदाहरण ईसा पूर्व की तीसरी शताब्दी के सोहगौरा ताम्रपत्र अभिलेख मे प्राप्त है

"श्रावस्ती के महामात्रो का मानवाशीतिकट को आदेश। श्रीमान् ऊपाग्राम मे ये दो कोष्ठागार स्थापित किये गये हैं। दुर्भिक्ष और अन्य आपत्ति के अवसरो पर त्रिकवेणी, माथुर, चञ्चू, मयुदाम और भल्लक ग्रामो में (इनमे) धान्य बाँटा जाय। इस (वितरण) मे बाधा नही होनी चाहिये।"[३]

इस प्रकार का दूसरा उदाहरण १५० ई० के रुद्रदामन् प्रथम के जूनागढ शिलालेख मे प्राप्य है, यद्यपि प्रशस्त्यात्मक और स्मृत्यात्मक तत्त्वो से यह अपूर्ण है। इसका वर्ण्य विषय सुदर्शन झील के बाँध का पुनर्निर्माण है, जो बाद के समय में आनेवाले विध्वंसक वायुवेग से टूट गया था।[४] ४५५-५६ तथा ४५७-५८ ई० का स्कन्दगुप्त का जूनागढ शिलालेख[५] भी इसी प्रकार का है और विवरण मे रुद्रदामन के शिलालेख

---

१ त मया एव कट। सवे काले भुजमानस मे पटिवेदका स्टिता अथे मे जनस पटिवेदय उनि। अशोक शिलालेख ६।

२ देवान पियस वचनेन तोसलिय ममापाय महामात नगलवियोहालका हे वतविय । अशोक का पृथक् कलिंग शिलालेख।

३ सवतियान महमतन ससने मनवसिति-कड। सिलिमाते-उसगमे व एते कोठगलनि। तियवेनि-माथुल-चचु-मोदाम-भलकन वलकयि यदि अतियायिकय। नो गहितवय। एपि० इण्डि०, खण्ड० २२, पृ० २।

४ स्वस्मात् लोगात् महता घनौघेन अनतिमहता च कालेन सुदर्शनतर णान्निमिनि। एपि० इण्डि०, खण्ड ८, पृ० ४२ इत्यादि।

५ फ्लीट सी० आई०, आई०, खण्ड ८, पृ० २ इत्यादि।

के समान है। इसका प्रमुख विषय सुदर्शन झील का पुर्ननिमाण है जो अत्यधिक वर्षा के कारण दूसरी बार टूट गयी थी। इसके प्रासगिक अश इस प्रकार है :

"तब क्रम से, ग्रीष्म काल को बादलो के द्वारा विदीर्ण कर वर्षाकाल के आने पर लगातार बहुत काल तक अत्यधिक जल-वर्षा हुई जिससे, गुप्त-काल की गणना के अनुसार, १३६वे सवत्सर के प्रौष्ठपद मास के छठे दिन की रात को अचानक टूट गया।" श्लोक २६-२७।[1]

"......(उसने) बडे आदर भाव से और अप्रमेय धन व्यय करके दो महीनो के दीर्घ परिश्रम के अनन्तर गु० स० १३७ के वैशाख मास के पूर्व पक्ष के प्रथम दिन सुदर्शन झील को १०० हाथ लम्बाई ६८ हाथ चौडाई ७ पुरुष (आदमी की) ऊँचाई २०० हाथ मे सम्यक् रूपेण पत्थरों को रख कर बन्धवा दिया ताकि चिरन्तन काल तक फिर न टूटे।" श्लोक ३५-३७।[2]

इसके अतिरिक्त उत्तर और दक्षिण मे परवर्ती काल के बहुसख्यक ताम्रपत्र उपलब्ध हुए हैं जो दानार्थ लिखे गये थे। वे शासन सज्ञा से अभिहित हैं और उनमे शासन सम्बन्धी तात्त्विक सामग्री विद्यमान है। उदाहरण के लिए हर्ष के बाँसखेरा ताम्रपत्र अभिलेख का निम्नलिखित प्रासगिक अश इस कथन की पुष्टि करेगा।

हर्ष... सामन्त राजाओं, पुलिस-अधिकारियो, जमीन की माप करने के अधिकारी, प्रतिनिधि, कुमारामात्य, उपरिक (ओवरसियर), विषयपति (जिलाधीश), स्थायी और अस्थायी सैनिक तथा मर्कट सागर मे (अहिच्छत्र प्रान्त के, अगदीय जिले के पश्चिमी पठक मे स्थित है) एकत्र हुए लोगो को आज्ञा देता है·

आप लोगो को यह ज्ञात ही है कि मैने प्रतिग्रह और दान के नियमो के अनुकूल भूमिच्छिद्रन्याय से भूमिकर एव राज्य परिवार को प्राप्त होनेवाले अन्य करो, परिहारो (माफियो) तथा विपय से पृथक् किये गये भूभाग के साथ स्वसीमापर्यन्त उल्लिखित ग्राम भट्टबालचन्द्र और भद्र स्वामिको को दे दिया है। ऐसा जान कर ग्रामवासी जनो को समुचित तौल, माप, भूमि तथा भोग (राजा के व्यक्तिगत उपभोग हेतु सुवर्णादि)

---

१ अथ क्रमेणाम्वुदकाल आगते निदाघकाल प्रविदार्य तोयदैः ॥
ववर्ष तोय वहुसतत चिर सुदर्शन येन बिभेद चात्वरात् ॥
सम्वत्सराणामधिके शते तु त्रिशद्भिरन्यैरपि षड्भिरेव।
रात्रौ दिने प्रौष्ठ पदस्य षष्ठे गुप्त प्रकाले गणना वधाय ॥ वही

२. वही।

को आज्ञाकारी भाव से इन्ही के पास ले जाना होगा तथा (उनकी) सेवा और आदर भी करना होगा।"[1]

इसी प्रकार विन्ध्यशक्ति द्वितीय का बसीम ताम्रपत्र-अभिलेख[2] प्रभावती गुप्ता का पूना-ताम्रपत्र अभिलेख[3], शिवस्कन्दवर्मन् का हिरहडगल्ली ताम्रपत्र-अभिलेख[4] पर्याप्त शासनपरक विवरणो से युक्त है।

५ प्रशस्त्यात्मक। राजनीतिक दृष्टि से प्रशस्त्यात्मक अभिलेख सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण वर्ग मे आते है, क्योकि वे निम्नलिखित सूचना-सूत्रो को उपस्थित करते हैं·

(क) सम्बन्धित शासक का नाम तथा वशक्रम।

(ख) राजा का प्रारम्भिक जीवन।

(ग) उसकी सैनिक, राजनीतिक एव शासन सम्बन्धी उपलब्धियाँ।

(घ) उसके सम्पर्क मे आये हुए समकालीन राज्यो का अस्तित्व एवं पारस्परिक सम्बन्ध।

(ङ) राजनीतिक आदर्श और व्यवहार, शासन-व्यवस्था।

(च) राजा की व्यक्तिगत विशेषताएँ।

(छ) उसकी आश्रयशीलता, उदारता एव दानशीलता।

(ज) तुलना और उपमाओ के रूप मे पौराणिक निर्देश।

इन प्रशस्त्यात्मक अभिलेखो का एक सामान्य दोष जो प्राय सभी मे पाया जाता है राजाओ के गुणो की अतिशयोक्ति वर्णन की प्रवृत्ति है। तथापि अतिशयोक्तियाँ अधिकाशत साधारण कथनो मे पायी जाती है। विशिष्ट विवरण अपेक्षाकृत अधिक गम्भीर और यथार्थ है।

---

१ श्रीहर्ष समुपगतान्महासामन्त-महाराज-दौस्साध-साधनिक-प्रमातार राजस्थानीय-कुमारामात्योपरिक-विषयपति-भट-चाट-सेवकादीन्प्रतिवासि जानपदाश्च समाज्ञापयति

विदितमस्तु यथायमुपरिलिखितग्राम स्वसीमापर्यन्त. सोद्रङ्ग सर्वराज्यकुलाभाव्य-प्रत्यायसमेत सर्वपरिहृतपरिहारो विषयादुद्धृतपिण्ड. पुत्रपौत्रानुगश्चन्द्रार्कक्षितिसमकालीनो भूमिच्छिद्रन्यायेन मया भट्टवालचन्द्रभद्रस्वामिभ्या प्रतिग्रहधर्मणाग्रहारत्वेन प्रतिपादितो विदित्वा भवद्भि समनुमन्तव्य प्रतिवासिजानपदैरप्याज्ञाश्रवणविधेयैर्भूत्वा यथा—समुचिततुल्य मेय—भाग—भोगकर—हिरण्यादिप्रत्याया एतयोरेवोपनेया सेवोपस्थान च करणीयमित्यपिच। एपि० इण्डिका० ४, पृ० २०८।

२ इण्डि० हिस्टा० क्वा०, १६, पृ० १८२ इत्यादि।

३. एपि० इण्डि० १५, पृ० ४१ इत्यादि।

४ एपि० इण्डि० १, पृ० ५ इत्यादि।

प्रशस्त्यात्मक अभिलेखो को पुन दो भागो मे विभाजित किया जा सकता है—(१) विशुद्ध प्रशस्त्यात्मक (२) मिश्रित। अशोक के अनुशासनो का, जिनमे अशोक की धम-विजय का वर्णन है, एक अलग ही वर्ग है। उनमे प्रशस्ति के सभी महत्त्वपूर्ण तत्त्वो का समावेश है किन्तु प्रशस्ति के आवश्यक उद्देश्य, उसकी शैली और ओजस्विता का उनमे अभाव है। इनका उद्देश्य आत्मप्रशसा नही, अपितु धर्म का उपदेश और उसकी व्याख्या थी जिन्हे लोग समझे और पालन करें। शैली प्राय गद्यात्मक और यदाकदा बोझिल है, इनकी प्रकृति की शान्तिप्रियता ओज को नही आने देती, जो बाद की युद्धशील राजाओ की प्रशस्तियों का विशिष्ट गुण है। अशोक का तेरहवाँ शिलालेख पूर्णरूप से इस विषय को स्पष्ट कर देगा।

आठ वर्ष पूर्व अभिषिक्त देवो के प्रियदर्शी राजा के द्वारा कलिग जीता गया। ढाई लाख प्राणी वहाँ से (बन्दीरूप मे) लाये गये, एक लाख वहाँ आहत हुए और इनसे कई गुना अधिक की मृत्यु हुई, कलिग को जीतकर देवो के प्रिय को यह चिन्ता है। किन्तु यह धर्मविजय देवो के प्रिय के अनुसार प्रमुख विजय है और यह देवो के प्रिय के द्वारा यहाँ और समीप के ६०० योजन तक के प्रदेश मे प्राप्त कर ली गयी है। इसी उद्देश्य से यह धर्मलिपि लिखी गयी है। वह (उद्देश्य) क्या है? जो मेरे पुत्र और प्रपौत्र होवे वे नयी-नयी विजये प्राप्त करने की न सोचे शान्ति और अल्पदण्डता उन्हें रुचिकर हो, और उसी को विजय माने जो धर्मविजय है। वह इहलौकिक और पारलौकिक है। धर्म मे रति ही उनकी परम रति बने। वह इस लोक और उस लोक मे भी सुखकर है।"[1] विशुद्ध प्रशस्ति का पहला नमूना खारवेल के हाथी गुम्फा अभिलेख मे प्राप्त होता है।[2] यह एक अनूठा लेख है जो काल-क्रम के अनुसार गौरवपूर्ण शब्दो मे खारवेल की कृतियो का विशद वर्णन करता है। इस अभिलेख का निम्नाकित विश्लेषण स्पष्ट कर देगा कि प्रशस्तियो का विपय क्या होता था

(क) अभिलेख के ऊपर बायी ओर कोने पर वद्धमगल और स्वस्तिक चिह्न।

(ख) अर्हंतो और सिद्धो को नमस्कार।

(ग) खारवेल का मूलवश (ऐल), उसकी राजसी उपाधि महाराजाधिराज, उसका विरुद महामेघवाहन, उसका कौटुम्बिक विरुद चेतिराजवशवर्धन, उसकी स्थानपरक उपाधि कलिगाधिपति, उसका व्यक्तिगत नाम श्री खारवेल।

---

१ हुल्श सी० आई० आई०, खण्ड १।
२ एपि० इण्डि०, खण्ड २०, पृ० ७२ इत्यादि।

(घ) उसका पन्द्रह वर्ष तक का क्रीडामय प्रारम्भिक जीवन ।

(ङ) उसकी अगले नौ वर्ष मे ज्ञान की विभिन्न शाखाओ की शिक्षा ।

(च) २४ वर्ष की अवस्था मे खारवेल का राज्याभिषेक ।

(छ) अपने शासन के प्रथम वर्ष उसके द्वारा टूटी-फूटी इमारतो का सस्कार, तालावो और झीलो का निर्माण, उद्यानो की स्थापना तथा प्रजा के रञ्जन का कार्य ।

(ज) शासन के द्वितीय वर्ष मे शातकर्णि की उपेक्षा करके, उसने पश्चिम की ओर एक विशाल सेना को भेजा और कृष्णा नदी पर असिक नगर को स्थापित किया ।

(झ) अपने शासन के तृतीय वर्ष मे राजधानी की प्रजा के अनुरजन के लिए सामाजिक उत्सवो की व्यवस्था की ।

(ञ) स्वशासन के चौथे वर्ष उसने विद्याधराधिवास नामक कलिंग के प्राचीन राजप्रासाद मे प्रवेश किया तथा रठिको एव भोजको को परास्त किया ।

(ट) पाँचवें वर्ष वह एक जल-प्रणाली को नगर मे लाया जिसका उद्घाटन ३०० नन्द सवत् मे हुआ था ।

(ठ) छठे वर्ष उसने राजसूय यज्ञ किया तथा इसके वाद लोगो को दान दिया ।

(ड) सातवें वर्ष वह किन्ही राजाओ को वश मे लाया ।

(ढ) आठवे वर्ष गोरथगिरि पर अधिकार करके राजगृह पर आक्रमण किया और यवन राजा दियुमेत को मथुरा भाग जाने के लिए विवश किया । अपनी विजय मनाने के लिए उसने ब्राह्मणो को पर्याप्त दान दिया ।

(ण) नवे वर्ष उसने ३८ लाख सिक्को के मूल्य से महाविजय प्रासाद का निर्माण करवाया ।

(त) दसवे वर्ष भारतवर्ष की विजय के लिए प्रस्थान किया ।

(थ) ग्यारहवे वर्ष उसने परास्त राजाओ का कोष ले लिया और पियुण्ड के राजप्रासाद को ढहवा दिया । उसने त्रमिर (द्रविड) देश के सघ को भी तोड दिया ।

(द) बारहवें वर्ष उसने उत्तरापथ के राजाओ को त्रस्त कर तथा मगध के लोगो के हृदय मे विपुल भय उत्पन्न कर अपने हाथियो को गगा मे पानी पिलाया । उसने मगध के राजा वहसतिमित्र को चरणो मे झुकने के लिए विवश किया, नन्दराज के द्वारा ले जायी गयी जिन-मूर्ति को वापस लिया तथा अग और मगध की सम्पत्ति को लूटा । पाण्ड्य राजा को भी परास्त किया ।

(ध) तेरहवे वर्ष जैन अर्हतो के लिए कुमारी पर्वत पर गुफाएँ खुदवायी तथा उन्हे सुन्दर ढग से अलकृत करवाया ।

(न) श्री खारवेल क्षेम का राजा, वृद्धि का राजा, भिक्षुओ का राजा, धर्म का राजा था, कल्याणो का देखने वाला, सुनने वाला और अनुभव करने-वाला था, गुणो मे विशेष कुशल, सभी धार्मिक सम्प्रदायो की पूजा करने-वाला, सभी देवताओ के मन्दिरो का सस्कार करानेवाला, ऐसी सेना वाला कि जिसकी गति कभी अवरुद्ध नही हुई, चक्र को धारण करने वाला, सुरक्षित साम्राज्य वाला, सुदृढ शासन वाला, राजर्षियो के कुल मे जन्म लेनेवाला तथा वडी-वडी विजयो को प्राप्त करनेवाला था ।

(प) नीचे दाहिने कोने पर कल्पतरु ।

विशुद्ध प्रशस्ति का एक दूसरा नमूना समुद्रगुप्त का प्रयाग स्तम्भ-अभिलेख है जिसने प्राचीन भारत के महान् शासको की प्रशस्तियो के लिए आदर्श उपस्थित किया ।[1] इसकी वर्ण्यवस्तु का इस प्रकार विश्लेषण हो सकता है

(क) समुद्रगुप्त के कुछ प्रारम्भिक सैन्य कार्य ।

(ख) राजा के साहित्यिक कार्य ।

(ग) समुद्रगुप्त का अपने पिता का उत्तराधिकारी वनने के लिए युवराज के रूप मे चुनाव ।

(घ) समुद्रगुप्त के शौर्यपूर्ण और अमानुषिक सैन्यपरक और राजनीतिक कृत्य जिन्होने दूसरे राजाओ को समर्पण के लिए प्रेरित और विवश किया ।

(ङ) आर्यावर्त के प्रथम युद्ध मे नाग राजाओ, अच्युत, नागसेन, गणपतिनाग इत्यादि के ऊपर समुद्रगुप्त की विजय ।

(च) समुद्रगुप्त द्वारा पाटलिपुत्र पर अधिकार और कोत कुल का उन्मूलन ।

(छ) राजा के धार्मिक और साहित्यिक कृत्य ।

(ज) राजा का विरुद पराक्रमाकादित्य ।

(झ) राजा के सैनिक गुण ।

(ञ) समुद्रगुप्त द्वारा दक्षिणापथ विजय तथा धर्मविजयी नीति का अनुसरण ।

(ट) आर्य्यावर्त का दूसरा युद्ध और समुद्रगप्त द्वारा असुर विजयी नीति का अनुसरण ।

(ठ) अटवी राजाओ का दमन ।

---

१ फ्लीट सी० आई० आई०, भा० ३, स० १ ।

(ड) दक्षिणपूर्व के सीमान्त नृपतियों का आत्मसमर्पण।

(ढ) दक्षिण-पश्चिम की ओर के गणतन्त्रों का आत्मसमर्पण।

(ण) भ्रष्ट राजवंशों का प्रतिष्ठापन।

(त) समुद्रगुप्त के साथ सुदूर उत्तर-पश्चिम के शक कुषाणों से (अधीनता स्वीकार कराके) मैत्री सम्बन्ध।

(थ) सिंहल तथा हिन्द महासागर के अन्य द्वीपों के जनों की समुद्रगुप्त के साथ अधीन सन्धि।

(द) समुद्रगुप्त का अद्वितीय चक्रवर्तित्व।

(ध) समुद्रगुप्त के धार्मिक कार्य।

(न) धनद, वरुण, इन्द्र तथा अन्तक (यम) आदि देवताओं से उसकी कार्य-तुलना।

(प) अधिकारियों के माध्यम से उसका सुन्दर शासन।

(फ) संगीत कला में प्रवीणता।

(ब) उसकी उच्च साहित्यिक योग्यता तथा 'कविराज' उपाधि।

(भ) समुद्रगुप्त संसार के आश्रय के रूप में।

(म) श्रीगुप्त से लेकर समुद्रगुप्त तक गुप्तवंश का वंशक्रम। समुद्रगुप्त की महाराजाधिराज उपाधि।

(य) विजय-स्तम्भ का खड़ा करना, जिसकी तुलना समुद्रगुप्त के यश का उद्घोष करने वाली पृथ्वी की भुजा से की गयी है।

(र) समुद्रगुप्त का यश तीनों लोकों में फैल गया।

(ल) प्रशस्ति को काव्य कहा गया है।

(व) इस प्रशस्ति का रचयिता हरिषेण था जो सान्धिविग्रहिक (सन्धि और युद्ध का मन्त्री), कुमारामात्य (राजकुमार के पद का उपभोग करनेवाला उच्च अधिकारी) एवं महादण्डनायक (सेना का प्रमुख अधिकारी) था तथा महादण्डनायक ध्रुवभूति का पुत्र था।

(श) तिलभट्ट इस लेख्य का अनुष्ठाता था।

(ष) यह इच्छा कि प्रशस्ति सभी प्राणियों के सुख एवं कल्याण के लिए होवे।

विभिन्न प्रशस्तियों की संख्या अनन्त है। स्थायी लेख्य के लिखने के लिए प्रत्येक सम्भव अवसर का प्रयोग समसामयिक राजाओं एवं उनके पूर्वजों के यश को अमर बना देने के लिए किया गया था। प्रत्येक आधिकरणिक, दानपरक, पूजापरक स्मारक लेख में भी प्रायः इसी प्रकार से प्रत्येक लौकिक लेख्य में शासन करनेवाले राजाओं की प्रशस्ति होती थी। लौकिक लेख्यों में लेन और दस्तावेज के कारणभूत लोगों की

भी प्रशस्ति होती थी। मिश्रित प्रशस्ति के सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण नमूने उषवदात के नासिक गुहा अभिलेख[1], रुद्रदामन प्रथम के जूनागढ शिला-अभिलेख[2], गौतमी वलश्री के नासिक गुहा अभिलेख[3], वीर पुरुषदत्त के नागार्जुनी कोण्डा-अभिलेख[4], चन्द्र के मेहरौली लौह-स्तम्भ-अभिलेख[5], कुमारगुप्त द्वितीय तथा वन्धुवर्मन् के समय के मन्दसोर प्रस्तर-अभिलेख[6], स्कन्दगुप्त के जूनागढ शिलाभिलेख[7], स्कन्दगुप्त के भितरी प्रस्तर स्तम्भ-अभिलेख[8], यशोधर्मन के मन्दसोर प्रस्तर-स्तम्भ-अभिलेख[9], ईशानवर्मन् के हरहा प्रस्तर स्तम्भ अभिलेख[10], पुलकेशिन् द्वितीय के ऐहोल प्रस्तर अभिलेख[11], शान्तिवर्मन के समय के तालकुण्डा प्रस्तर-स्तम्भ-अभिलेख[12] इत्यादि मे पाये जाते है।

६. **पूजात्मक अथवा समर्पणात्मक-संबंधी।** भारतीय लिपिशास्त्र पूजा-सवधी अथवा समर्पणपरक अभिलेखो से उतना ही सम्पन्न है जितना प्रशस्त्यात्मक अभिलेखो से। यह असम्भव नही कि हरप्पा और मोहनजोदरो से प्राप्त तावीजो पर पूजापरक अभिलेख हो[13]। इस प्रकार का प्रथम पढा गया उदाहरण पिप्रावा बौद्ध कलश के छोटे अभिलेख मे पाया जाता है जिसमे भगवान् वुद्ध की अस्थि-मजूषा का समर्पण लिखा है

"अपने पुत्रो, भगिनियो और भार्याओ के साथ (वुद्ध के) शाक्य-वन्धुओ ने भगवान् वुद्ध की यह अवशेष-मजूषा को समर्पित की।"[14]

---

१. एपि० इण्डि०, खण्ड ८, पृ० ७८ इत्यादि।
२ वही, खण्ड ८, पृ० ४२ इत्यादि।
३ वही, खण्ड ८, पृ० ६० इत्यादि।
४ वही, खण्ड २०, पृ० १६, १९ इत्यादि।
५ फ्लीट सी० आई० आई०, खण्ड ३, पाद-टिप्पणी स० ३२।
६ वही, स० १८।
७ वही, स० १४।
८ फ्लीट सी० आई० आई०, खण्ड ३, पृ० १३ इत्यादि।
९ वही, सख्या ३३।
१० एपि० इण्डि०, खण्ड १४, पृ० ११५।
११ एपि० इण्डि०, खण्ड ६, पृ० १।
१२ एपि० इण्डि०, खण्ड ८, पृ० ३१ इत्यादि।
१३ मार्शल मोहेनजोदरो एण्ड इण्डस सिविलीजेशन, खण्ड २।
१४ सुकतिभतिन सभगिनीकन सपुतदलन।
इय सलिलनिधने वुधस भगवते सकियानम्॥
इण्डि० एण्टि० ३६, १७ इत्यादि।

इस प्रकार का एक अधिक प्रौढ उदाहरण हेलियोडोरस का बसनगर गरुड स्तम्भ-अभिलेख है।[1] एक पूर्ण विकसित समर्पणपरक या पूजापरक अभिलेख के सभी तत्त्व इसमे विद्यमान है। इसके विषयो का निम्नाकित विश्लेषण इस कथन को स्पष्ट कर देगा

(क) जिसे स्तम्भ सर्मपित किया गया उस देवता का नाम और विरुद (देव-देवस वासुदेवस)।

(ख) स्तम्भ का प्रकार गरुडध्वज और उसका स्थापन।

(ग) अपने विरुद (भागवत), पिता के नाम (दियोन), स्थान (तक्षशिला), उसकी स्थिति और उपाधि (यवनदूत) तथा जिसका प्रतिनिधित्व करता था उस राजा के नाम (अन्तियाल्किदोस) के साथ इसके कारणभूत व्यक्ति (हेलियोदोरस) का नाम।

(घ) माता का नाम (कौत्सी), राजसी उपाधि महाराज तथा विरुद (त्राता) के साथ उस क्षेत्र के ऊपर शासन करने वाले राजा का नाम (भागभद्र)।

(ङ) वर्धमान शासन का शासन-वर्ष १४ (वसेन चतुदसेन राजेन वधमानस)।

(च) एक आचारपरक उक्ति (या कथन)।

समर्पणपरक अभिलेखो का प्रमुख विषय मूर्तियो की स्थापना या मन्दिरो का निर्माण होता है। कुमारगुप्त द्वितीय और बन्धुवर्मन के समय के मन्दसोर अभिलेख मे समर्पणपरक प्रकार का सर्वाधिक प्रौढ रूप पाया जाता है। इसके विषय की सूची इस प्रकार है

(क) पहले तीन प्रार्थना सम्बन्धी श्लोक—भगवान् सूर्य की स्तुति मे है।

(ख) लाटदेश का वर्णन जहाँ से जुलाहो की श्रेणी ने प्रस्थान किया।

---

१ देवदेवस वासुदेवस गरुडध्वजे अयं
कारिते इअ हेलियोदोरेण भाग—
वतेन दियस पुत्रेण तखसिलाकेन
योनदूतेन आगतेन महाराजस
अन्तलिकितस उपता सकासं रञो
कासीपुत्रस भागभद्रस त्रातारस
वसेन चतुदसेन राजेन वधमानस ॥
त्रिनि अमुतपदानि इअ सु अनुठितानि
नयन्ति स्वग दम चाग अप्रमाद।
—आर्क्यो० सर्वे० इण्डियन एन्युअल रिपोर्ट, १९०८-०९, पृ० १२६।

२ कार्पस इं० आई० आई०, खण्ड ३, स० १८।

(ग) दशपुर नगर का आकर्षण, जहाँ लाट से श्रेणी आयी।
(घ) दशपुर नगर के अतर्गत (१) भूमि के परम तिलक रूपनगर, (२) नगर की झीलो (सर), (३) इसके उपवन (वन) तथा (४) विभिन्न कर्मों से सम्बन्धित तथा उच्च चरित्र वाले निवासियों का वर्णन।
(ङ) श्रेणी के सदस्यों का गुणगान।
(च) श्रेणी द्वारा निर्मित वस्त्र का विज्ञापन (एडवर्टाइजमेन्ट)।
(छ) ससार एव उसके अनेकविध अविकारो की अस्थिरता का अनुभव।
(ज) वर्तमान राजा कुमारगुप्त का पृथ्वी पर शासन करने का सकेत।
(झ) प्रान्तीय राज्य प्रमुखो (गोप्ता), विश्ववर्मन तथा उसके पुत्र वन्धुवर्मन, के सकेत।
(ञ) दोनो की प्रशस्ति।
(ट) जुलाहो की श्रेणी द्वारा धन का वडा भाग व्यय करके सूर्यमन्दिर का निर्माण।
(ठ) मन्दिर की प्रशसा।
(ड) मन्दिर के निर्माणकाल की ऋतु (हेमन्त) का वर्णन।
(ढ) सवत् (मालव) वर्ष (४९३), ऋतु (सेव्यघनस्तने=शरद), मास (सहस्य=पौष), पक्ष (शुक्ल), तथा तिथि (त्रयोदशी)।
(ण) समुचित विधानो के पश्चात् (मगलाचारविधिना) मन्दिर का सस्कार।
(त) मदिर के एक अश की विशीर्णता।
(थ) मदिर का पुन. सस्कार (भूय सस्कार)।
(द) पुनर्निर्मित मन्दिर का वर्णन।
(ध) पुर्ननिर्माण का वर्ष, मास, पक्ष तथा तिथि।
(न) पुनर्निर्माण की ऋतु (वसन्त) का वर्णन।
(प) मन्दिर के कारण नगर का अलकरण।
(फ) मन्दिर के दीर्घजीवन की कामना।
(व) प्रलेख की वत्सभट्टि द्वारा रचना।
(भ) खोदनेवाले, लिखनेवाले तथा पढनेवाले के प्रति कल्याण कामना।
(म) मागलिक सूत्र 'सिद्धिरस्तु'।

देश के विभिन्न भागो से प्राप्त अनेक समर्पणपरक अभिलेख प्राप्त हुए हैं। उनमे अधिकतर उपरिनिर्दिष्ट अभिलेख द्वारा प्रस्तुत शैली का अनुसरण करते हैं। फिर भी उनमे से कुछ मे, प्राय प्रशस्ति के रूप मे, शासनासीन सम्राटो का विस्तृत वशक्रम

तथा राजनीतिक कृतियों का वर्णन है। बाद के ढंग के उत्तम नमूने स्कन्दगुप्त का भितरी स्तम्भ अभिलेख[1] तथा पुलकेशिन् द्वितीय के समय का ऐहोल अभिलेख हैं।[2]

७ दान-सम्बन्धी। प्राय अभिलेख इसी कोटि के है। प्राचीन भारत में गृहस्थ के लिए यज्ञ (इष्ट) करना तथा दान देना आवश्यक समझा जाता था। इसलिए राजा और प्रजा सभी, दान देने में तथा स्थायी प्रकार के दान को लिखित करवाने में, एक दूसरे से स्पर्धा करते थे। समर्पित वस्तुओं के आधार पर इस प्रकार के अभिलेख निम्नांकित शीर्षकों के अन्तर्गत विभाजित किये जा सकते हैं

(अ) वे अभिलेख जिनमें भिक्षुओं तथा सन्यासियों के निवास या अन्य किसी उद्देश्य के लिए गुफाओं या उनके किसी एक भाग के दान का निर्देश है:—

(क) पूर्ण गुफाओं का परिखनन, जिन्हें कुभा (=गुहा), लेन (=लयन) तथा सेलघर (=शैलगृह) कहते थे।

गुहादान अभिलेखों का सर्वप्रथम नमूना बिहार में बरबर पहाड़ी में पाये जाने वाले अशोक के लेख हैं। इनमें से प्रथम इस प्रकार है :

"बारह वर्ष पूर्व-अभिषिक्त हुए प्रियदर्शी राजा के द्वारा यह न्यग्रोध-गुहा आजीविकों के लिए दी गयी।"[3]

समर्पण मात्र को लिखित करनेवाला यह साधारण लेख्य है। अशोक के पौत्र दशरथ के नागार्जुनी गुहा अभिलेख इसकी अपेक्षा कुछ बड़े हैं तथा उनमें दान अभिलेखों के कुछ अतिरिक्त तत्त्वों का भी समावेश हुआ है

"देवों के प्रिय दशरथ ने अभिषेक के बाद ही आजीविक महानुभावों को निवास के लिए, वाहियिका गुहा जब तक चन्द्र और सूर्य हैं तब तक के लिए दान कर दी।"[4]

दक्षिण का पश्चिमी भाग गुहादान-अभिलेखों की दृष्टि से अतिसमृद्ध है, इसका सम्बन्ध क्षहरात और आन्ध्र सातवाहन वंशों से है। उड़ीसा में उदयगिरि और खण्डगिरि की तथा औरंगाबाद के समीप की अजन्ता

---

१ फ्लीट : कॉ० आई० आई०, खण्ड ३, पृ० ५२ इत्यादि।
२ एपि० इण्डि०, खण्ड ६, पृ० १ इत्यादि।
३ लाजिना पियदसिना दुवाडसवसाभिसितेन।
इयं निगोहकुभा दिना आजीविकेहि॥—हुल्श कॉ० आई० आई०, खण्ड १।
४ वहियका कुभा दसलथेन देवानं पियेना आनंतलियं अभिसितेना।
आजीविकेहि भदंतेहि वासनिसिदियाये निसिठे आचंदमसूलियं।
—हुल्श : कॉ० आई० आई०, खण्ड १।

प्रकार और आकार के दान सम्बन्धी अभिलेख सुरक्षित हैं, इनका विषय निम्नांकित है —

(ख) दो या अधिक रहने की कोठरियो (गर्भ) का परिखनन, इन्हे विगभ (दो गर्भ वाले), चतुगभ (चार गर्भ वाले), पचगभ (पाँच गर्भ वाले), इत्यादि कहते थे।[1]

(ग) चेतियघर, चैत्य, चेतिय कोठि इत्यादि कही जाने वाली चैत्यगुहाओ का दान।[2]

(घ) सभामण्डपो, भोजनशालाओ, उपस्थानशालाओ (उपथान पूजा का मण्डप) इत्यादि का दान।[3]

(ङ) जलाशयो, तालावो, कुओ आदि का दान, जिन्हे पानीयक पानिय-भाजन, वापि, तडाक इत्यादि कहा जाता था।[4]

(च) गुहाओ के अग्रभाग (घरमुख, गभदार आदि) का दान।[5]

(छ) चकमपथ (चक्रमपथ) कहे जाने वाले पथो के दान।[6]

(ज) स्मारक के रूप मे स्तूपो का दान।[7]

(झ) प्रतिमाओ (भगवत् प्रतिमा),[8] हस्ति व यक्ष मूर्तियो,[9] पत्थर के आसन वेदिकाओ (वेयिका) आदि[10] के दान।

(इ) दानात्मक अभिलेख —ये दान या तो किसी धार्मिक या पवित्र निर्माण के सपूर्ण या आशिक लागत के लिए या भिक्षुओ के भोजन, ब्राह्मणो के भोजन या भूखो के भोजन इत्यादि विभिन्न उद्देश्यो के लिए अक्षय नीवि के रूप मे होते थे। पहले प्रकार के तमाम अभिलेख पश्चिमी घाट मे पाये गये है। दूसरे प्रकार का प्रतिनिधि उदाहरण हुविष्क के समय का मथुरा अभिलेख है

---

१ लूडर्स, एच० "ए लिस्ट ऑफ ब्राह्मी इन्स्क्रिप्शन्स, इट्स-इपि० इण्डि० खण्ड १०मे—स० ९९८, ११२७।

२ वही, स० १०५८, १०६८, १०७०, १०७२, ११४०, ११५३, इत्यादि।

३ वही, स० ९८८, १०००, ११७४, ११८१, ११८२, इत्यादि।

४ वही, स० ९६८,—११८०।

५ वही, स० १०९०, १०९२, ११५६, ११९७।

६ वही, स० ९९८, १०३२, १०३३, १०७२।

७ वही, ९९३-१११०।

८ वही, १०४२-७१।

९ वही, १०८९, ११४३।

१० वही, ९८५, ११४३।

"सिद्धं (चिह्न) ॥ सवत्सर २८ के गुर्पिय (=गॉर्प्यांस=भाद्रपद) मास के प्रथम दिन इस पुण्यशाला (=धर्मशाला) को सरुकमाण के पुत्र खरासलेन तथा वकन के स्वामी (पति) के द्वारा अक्षयनीवि दी गई । उसके व्याज (वृद्धि) से प्रतिमास, शुक्लपक्ष (शुद्ध) की चतुर्दशी को पुण्यशाला मे सौ ब्राह्मणो को भोजन कराना चाहिये (परिविपितव्य) । प्रत्येक दिवस पुण्य-शाला के द्वार पर सत्तुओ के तीन ३ आढक, लवण का १ प्रस्थ, चटनी का १ प्रस्थ हरित कलापक के ३ घटक तथा ५ पान पात्र रखने चाहिये । यह अनाथो, भूखो तथा प्यासो को देना चाहिये । जो इससे पुण्य हो वह देवपुत्र पाहि हुविष्क का, जिनको देवपुत्र प्रिय है उनका एव सम्पूर्ण पृथिवी का हो । दो श्रेणियो को दो अक्षयनीवियाँ, प्रत्येक ५५० पुराण की, दी गयी ।"[1]

(उ) विभिन्न पदार्थों के दान को लिखित करने वाले अभिलेख — इस प्रकार का सबसे महत्त्वपूर्ण उदाहरण उपवदात का नासिक-अभिलेख है जो इस प्रकार है -

"राजा क्षहरात क्षत्रप नहपान के जामाता, दीनीक के पुत्र उपवदात तीन सौ सहस्र गायो के देने वाले, वार्णासा नदी पर सुवर्णदान और तीर्थ करने वाले देवताओ और ब्राह्मणो के लिए १६ ग्राम देने वाले, प्रतिवर्ष सौ सहस्र ब्राह्मणो को भोजन कराने वाले, प्रभास पुण्यतीर्थ मे ब्राह्मणो के लिए आठ भार्याओ के देने वाले, भृगुकच्छ, दशपुर, गोवर्धन, तथा शूर्पारक मे चार (चतु) धर्मशालाओ (शालावसय) के आश्रय (प्रतिश्रय) के देने वाले, उद्यानो के स्थापक, तालावो (तडाग) और कुओ के निर्माता, इबा, पारदा, दमन, तापि, करवेणा तथा दहमिका नदियो मे नावो से पार जाने को निशुल्क

---

[1] सिद्ध ३ ॥ सवत्सरे २०+८ गुर्पिये दिवसे १ अय पुण्य-
शाला प्राचीनीकन सरुकमानपुत्रेण खरासले
र-पनिन वरुनपतिना अक्षयनीवि दिन्ना । तुतो वृद्धि-
तो मासानुमास शुद्धस्य चतुदिशि पुण्यशाला-
य ब्राह्मणशत परिविपितव्य । दिवसे दिवसे
च पुण्यशालाये द्वारमुले धारिये साद्य-सक्तना आ-
ढका ३ लवृण-प्रस्थो १ शक्तप्रस्थो १ हरित-कलापक-
घटका ३ मल्लका ५ । एत अनाधान कृतेन दातव्य
वभक्षितन पिवसिनन । य चत्र पुण्य त देवपुत्रस्य
पाहिस्य हुविष्कस्य । येपा च देवपुत्रो प्रिय तेपामयि पुण्य
भवतु सर्वायि च पृथिवी ये पुण्य भवतु । अक्षयनीवि दिन्ना
(र)का-श्रेणीयि पुराण शत ५००+५० समितकर-श्रेणी-
ये च पुराण शत ५००+५० ॥

इपि० इण्डि० खण्ड २१, पृ० ६० और आगे ।

करने वाले, इन नदियो के दोनो तीरो पर विश्रामगृहों (सभा) तथा पौशालाओं (प्रपा) को बनवाने वाले तथा नानगोल ग्राम मे चरक सम्प्रदाय के अनुयायियो को ३२ सहस्र नारियल के मूलो को देने वाले . द्वारा .।"[1]

(ऋ) भूमि और ग्रामो के दान का उल्लेख करने वाले अभिलेख —पूर्व के अभिलेखो मे इनके उदाहरण विरल है। उत्तर गुप्त काल के वाद तमाम अभिलेखो का सम्बन्ध, विहारो और ब्राह्मणो को दिये गये क्षेत्रो एव ग्रामों से है। इस प्रकार का पूर्वतम उदाहरण गौतमी बलश्री के अभिलेख से जुडा हुआ वासिष्ठी पुत्र पुलुभावि का नासिका अभिलेख है जो इस प्रकार है

"इस लयन के उत्कर्ष के लिए, पूज्या महादेवी के सेवा और प्रिय को करने का इच्छुक और नाती . दक्षिणापथेश्वर पितरो को प्रसन्न करने के लिए, (भवसिन्धु को पार करने के लिए) धर्मसेतु के (निर्माण के) लिए, त्रिरश्मि पर्वत के वास पार्श्व मे स्थित पिसाजि पदक ग्राम को सभी प्रकार के करो के सहित देता है।"[2]

इस प्रकार के सम्पूर्ण विकसित उदाहरण शासन कहलाने वाले ताम्रपत्र हैं। उनमे से कुछ विशिष्ट महत्त्वपूर्ण अभिलेख इस प्रकार है

(१) गुप्त सवत् १५९=४७९ ई० का पहाडपुर-ताम्रपत्र अभिलेख।[3]
(२) गुप्त सवत् २२४=५४३ ई० की गुप्त के समय का दामोदरपुर ताम्रपत्र अभिलेख।[4]
(३) गुप्त सवत् १९३=५१३ ई० का शर्वनाथ का खोह ताम्रपत्र अभिलेख।[5]
(४) प्रभावती गुप्ता का पूना ताम्रपत्र अभिलेख।[6]
(५) शिवस्कन्द वर्मन का हीरहडुगल्ली ताम्रपत्र अभिलेख।[7]
(६) माधव का पेनुकोण्ड ताम्रपत्र-अभिलेख।[8]

---

१ इपि० इण्डि०, खण्ड ८, पृ० ७८ और आगे।

२ एतस लेणस चितण निमित्त महादेवीय अयकाय सेवाकामो पियकामो च णता दक्षिणापथेसरो पितुपतियो धमसेतुस ददाति ग्राम तिरण्हु पवतस अपर-दक्षिण-पसे पिसाजिपदक सवजातभोगनिरठि। इपि० इण्डि० खण्ड ७, पृ० ६०।

३ इपि० इण्डि० खण्ड २०, पृ० ६१ और आगे।

४ वही, खण्ड, १५, पृ० १४२ और आगे।

५ फ्लीट, सी० आई० आई० खण्ड ३, पृ० १२६ और आगे।

६. इपि० इण्डि०, खण्ड १५, पृ० ४१ और आगे।

७ इपि० इण्डि०, खण्ड १, पृ० ५ और आगे।

८ वही, खण्ड १४, पृ० ३३४ और आगे।

(७) हर्ष का बासखेरा ताम्रपत्र-अभिलेख, तिथि शासनवर्ष २२ = ६२८ ई० ।[1]

(८) तीवरदेव का राजिम-ताम्रपत्र-अभिलेख, तिथि शासनवर्ष ७ (= आठवीं शताब्दी का अन्तिम चरण) ।[2]

(९) वाकाटक वंश के ताम्रपत्र-अभिलेख ।[3]

(१०) बादामी के चालुक्यों के ताम्रपत्र-अभिलेख ।[4]

(११) मान्यखेट के राष्ट्रकूटों तथा उनके उत्तराधिकारियों के ताम्रपत्र अभिलेख ।[5]

(१२) वलभी राजाओं के ताम्रपत्र-अभिलेख ।[6]

(१३) प्रतिहारों, गहड़वालों, चेदियों आदि के दान सम्बन्धी अभिलेख । दान सम्बन्धी ताम्रपत्र अभिलेखों के विश्लेषण से उनमें समाविष्ट सूत्रों का कुछ हेर-फेर के साथ, निम्नांकित क्रम प्रकट होता है

(१) विरुद के साथ या बिना विरुद की मुद्रा (सभी अभिलेखों में प्राप्य नहीं) ।

(२) कोई मांगलिक शब्द या मंगल ।

(३) स्थान का नाम, जहाँ से शासन प्रसारित किया गया ।

(४) राजा का वंशक्रम ।

(५) शासन का विवरण

(क) अधिकारियों तथा अन्य लोगों की सूची जिनको शासनसम्बोधित किया गया,

(ख) दान का हेतु उदाहरणार्थ दानदाता, उसके माता-पिता, पूर्वजों तथा सम्पूर्ण संसार को पुण्य प्राप्ति,

(ग) दानपात्रों का उनके वंश, गोत्र, शाखा, प्रवर इत्यादि के साथ, नाम,

(घ) दान दिये गये क्षेत्रों और ग्रामों की शासन-परक अवस्था,

(ङ) राजकीय कर क्षेत्रों से उसका कानूनी (व्यावहारिक) विच्छेद,

(च) ग्राम को प्राप्त होने वाले कर,

(छ) ग्राम द्वारा उपभोग्य छूटें,

---

1. एपि० इण्डि०, खण्ड ४, पृ० २०८ और आगे ।
2. फ्लीट, सी० आई० आई०, खण्ड ३ स० ८१ ।
3. चम्मक-ताम्रपत्र, एपि० इण्डि०, खण्ड १६, पृ० १५१ और आगे ।
4. लूडर्स लिस्ट स० २५, ३०, ३६, ४१, ४८, ७१, १०४, १०६, १५१, १५२, १६४, १७३ ।
5. कीलहॉर्न, लिस्ट एपि० इण्डि० ७, अपेण्डिक्स ।
6. इण्डि० एण्टि० खण्ड ६, पृ० ९ ।

(ज) दान के भग के लिए निश्चित दण्ड ।

(६) दान की शाश्वतता की कामना ।

(७) आशीर्वादात्मक सूत्र ।

(८) स्तुत्यात्मक सूत्र ।

(९) शापात्मक सूत्र ।

(१०) जिस तिथि को शासन किया गया उसका विस्तृत विवरण ।

(११) राजा के दूतक या प्रतिनिधि का नाम ।

(१२) लेख को तैयार करने वाले अधिकारी, प्राय सान्धिविग्रहिक का नाम ।

(१३) खोदने वाले का नाम ।

(१४) राजा का हस्ताक्षर (स्वहस्त) [सर्वथा प्राप्य नही] ।

८. संस्मारक ।

इस प्रकार के अभिलेख किसी महात्मा या वीर पुरुष की जीवन-घटनाओ—जन्म, कोई चामत्कारिक कृति या वीरगति—का उल्लेख करता है। इस प्रकार का प्राचीनतम अभिलेख अशोक का रुम्मिनदेई स्तम्भ अभिलेख है, जो इस प्रकार है

"जिसके अभिषेक के बीस वर्ष हो गये हैं ऐसे देवताओ के प्रिय प्रियदर्शी राजा ने स्वय आकर (इस स्थान की) पूजा की। यहाँ शाक्यमुनि बुद्ध का जन्म हुआ था इसलिए प्रस्तर की विशाल भित्ति बनवायी गई और स्तम्भ खडा किया गया।"[1]

इस अभिलेख मे बुद्ध का जन्म एव जन्मस्थान सस्मृत किये गये हैं। साथ ही अभिलेख उसी मात्रा मे अशोक के लुम्बिनीवन के आगमन को भी सस्मृत करता है। भानुगुप्त के समय का, १९१ गुप्त सवत् (=५१० ई०) का एक दूसरा अभिलेख है जिसमे गोपराज की युद्धभूमि मे वीरगति प्राप्त करना तथा उसकी पत्नी का अपने पति की चिता पर सती होना उल्लिखित है। इसका हिन्दी अनुवाद इस प्रकार होगा —

"सिद्ध। (सूत्र का सूचक एक मागलिक चिह्न)। एक सौ इक्यानवे सम्वत्सर मे श्रावण के कृष्ण पक्ष की सप्तमी को। सवत् १००, ९०,१ श्रावण वादि ७॥ पवित्र (शुक्ल) वश से उत्पन्न राज प्रसिद्धि वाले। उसका अतिवीर

---

१ देवान पियेन पियदसिना लाजिन वीसतिवसाभिसितेन अतन आगाच महीयिते। हित बुधे जाते सक्य मुनीति सिला विगडभीचा कालापित सिलाथमे च उसपापिते। हुल्श, सी० आई० आई०, खण्ड १।

राजा माधव नाम वाला पुत्र (हुआ या था)। उसका प्रसिद्ध पौरुष वाला पुत्र श्रीमान् गोपराज हुआ। वह शरभराज का दौहित्र था और अब अपने वश का तिलक। श्री महाराज भानुगुप्त ससार मे वडे वीर और अर्जुन के समान शूर है। गोपराज उन्ही के साथ यहाँ मित्रभाव से आया और महान् यश वाले युद्ध को करके इन्द्रदेव के समान स्वर्ग को गया। उसकी सुन्दरी स्त्री जो उसमे भक्ति, अनुरक्ति रखने वाली तथा उसकी स्नेहपात्रा थी, अग्निराशि (=चिता) मे उसके साथ प्रवेश कर गयी॥ अर्थात् सती हो गयी।"[1]

कोल्हापुर के शिलाहारो, कल्याण के चालुक्यो से सम्बन्धित सस्मारक अभिलेख बडी सख्या मे वर्तमान हैं और कुछ का सम्बन्ध राष्ट्रकूटो, यादवो तथा कोकन के शिलाहारो से है। ये लेख गद्य मे लिखे गये है और प्राय बहुत छोटे हैं। किन्तु कोल्हापुर और कर्नाटक मे इसी प्रकार के जो अभिलेख प्राप्त हुए है वे पद्य मे हैं तथा उनमे वीरगति प्राप्त हुए वीरो की अतिशयोक्तिपूर्ण प्रशस्तियाँ सन्निहित है।[2] एक आदर्श सस्मारक अभिलेख का विश्लेषण निम्नाकित है —

(१) अभिलेख की सविवरण तिथि।

(२) सस्मृत वीर का वशक्रम।

(३) वीर और उसके पूर्वजो का गुणानुवाद।

(४) शासनासीन राजा के प्रति निर्देश।

(५) वीर की परिलब्धियाँ।

(६) जन्म मरणादि सस्मारित घटनाएँ।

---

१ श्रीभानुगुप्तो जगति प्रवीरो
राजा महान्पार्थसमोऽतिशूर।
तेनाथ सार्द्धन्त्विह गोपराजो
मित्रानुगत्येन किलानुयात॥३॥
कृत्वा च युद्ध सुमहत्प्रकाश
स्वर्ग गतो दिव्यनरेन्द्रकल्प।
भक्तानुरक्ता च प्रिया च कान्ता
भार्य्यावलग्नानुगताग्निराशिम्॥४॥ इपि० इण्डि०, खण्ड १५, पृ० १४२ और आगे।

२ सूटम स्मिथ स० २४२, २४८-५१।

६. साहित्यिक ।

प्राचीन भारत के कुछ अभिलेख काव्य रचनाओ[1] तथा नाटक कृतियो के अशो को लिखित करते है और इनका उद्देश्य विशुद्ध साहित्यिक है । धार्मिक उद्देश्य के लिए खोदे गये धार्मिक साहित्य के भी कुछ उदाहरण है । उदाहरण के लिए कुसीनगर (उत्तर प्रदेश का देवरिया जिला) के महानिर्वाण स्तूप से एक तेरह पक्तियो का ताम्रपत्र प्राप्त हुआ जिसमे वुद्ध का उदानसुत्त लिखित है ।[2] पत्थर पर खुदी हुई नाट्य कृतियो के सबसे महत्त्वपूर्ण उदाहरण अजमेर की 'अढाई दिन का झोपडा' नाम की मस्जिद मे पाये जाते है । इनमे से एक लेख मे ७५ पक्तियाँ हैं । चाहमान राजा विग्रहराज के सम्मान मे महाकवि सोमदेव विरचित ललितविग्रहराज नाटक के बडे-बडे अश इसमे विद्यमान है । दूसरे अभिलेख मे ८१ पक्तियाँ है तथा इसमे अजमेर के विग्रहराज (सोमदेव का आश्रयदाता) द्वारा रचे गये हरिकेलि नाटक के अश उद्धृत है ।[3]

---

१ ईसा की दूसरी शताब्दी से १२वी शताब्दी तक के प्राचीन भारत के अभिलेख । विशेषरूप से प्रशस्तियाँ तथा कुछ दानपरक अभिलेख काव्य शैली मे लिखे हैं तथा कुछ को वास्तव मे काव्य कहा गया है ।

२ एव मया श्रुतम्—एकस्मि समये भगवान् श्रावस्त्या विहरतिस्म जेतवने अनाथपिण्डदस्यारामे । आर्क० सर्० एन्युअल रिपोर्ट-१९०६-०७, पृ० ४६ ।

३ इण्डि० एण्टि० खण्ड २०, पृ० २०१ और आगे ।

नौवाँ अध्याय
पुरालिपीय विधि

पत्थर और तांबे पर के जो प्राचीनतम अभिलेख प्राप्त हुए हैं वे स्वाभाविक और सरल है। उनमे कोई नियमबद्ध वाक्यपद्धति, शैली स्वरूप या विषय नही था। कालान्तर मे भारतीय लिपि विज्ञान द्वारा कतिपय सिद्धान्तो का विकास हुआ जिससे उसका स्वरूप और विषय नियंत्रित होता था। लेखको और खोदने वालो ने साधारणत इस प्रकार से विकसित सिद्धान्तो का अनुसरण किया। इस विकास का कारण साहित्यिक, धार्मिक और व्यावहारिक आवश्यकताएँ थी। सर्वाधिक सामान्य सिद्धान्तो को नीचे दिया जाता है।

१. प्रारम्भ

पिप्रहवा-बौद्ध-भाण्ड-अभिलेख[1], अशोक के शासन[2], सोहगौरा-ताम्रपत्र-अभिलेख[3] तथा शुग राजा भागभद्र के शासन काल का बेसनगर गरुड-स्तम्भ अभिलेख[4] जैसे बाद के अभिलेख मे भी किसी प्रकार का प्रारम्भिक सूत्र (फारमूला) नही है। वे सीधा अपने विषय से आरम्भ होते है। कुछ मागलिक लक्षण—स्वस्तिक, वद्धमगल तथा नंदिपद—प्रथम बार सातवाहन राजा कृष्ण के शासनकाल के नासिक-गुहा-अभिलेख[5] एवं खारवेल के हाथी गुम्फा-अभिलेख[6] मे, जिसका समय ईसा पूर्व की प्रथम शताब्दी का अन्तिम चरण तथा ईसा की प्रथम शताब्दी का प्रारम्भ है, प्रकट होते है। हाथी गुम्फा-अभिलेख मे वे बिल्कुल प्रारम्भ मे रखे गये है और उन्हें प्रारम्भिक सूत्रो को व्यक्त करने वाला समझा जा सकता है। एक शब्द वाला निश्चित प्रारम्भिक सूत्र—

---

१ इण्डियन एण्टिक्वैरी, खण्ड ३६, पृ० ११७ और आगे।
२ हूल्श, सी० आई० आई०, खण्ड ३।
३ इपि० इण्डि०, खण्ड १२, पृ० २।
४ आर्क० सर्वे० इण्डि० एन्युअल रिपोर्ट १९०८-१९०९ पृ० १२६।
५ इपि० इण्डि०, खण्ड ७, पृ० ९३।
६ वही, खण्ड २० पृ० ७२ और आगे।

सिद्ध—का प्रथम दर्शन सातवाहनो और क्षहरातो के जुन्नार[1], महद[2], कुद[3], कार्ले[4], शेलर्वदी[5] तथा नासिक[6] से प्राप्त होने वाले अभिलेखो मे होता है। स्टेन का मत ठीक था कि इस सूत्र का मूलस्थान महाराष्ट्र का गुहा-प्रदेश था और इसका विकास सातवाहन अभिलेखों मे राजकीय शैली के विकास से सम्बन्धित है[7]। ईसा की प्रथम तीन शताब्दियो मे महाराष्ट्र और आन्ध्र देशो से इस सूत्र के प्रचार का प्रसार हुआ। कुषाण और पश्चिमी क्षहरात जैसी विदेशी शक्तियो ने भी इस मागलिक सूत्र को, जो सफलता और पूर्णता को निश्चित करने वाला समझा जाता था, ग्रहण किया। मथुरा इस सूत्र का केन्द्र बन गया, गुप्तो ने इसे यहाँ पाया और ग्रहण किया। गुप्त साम्राज्य के विस्तार के साथ ही 'सिद्ध' का प्रचार उत्तरी और पूर्वी भारत मे फैल गया। मथुरा मे इस सूत्र के प्रचार मे एक नवीन वृद्धि का जन्म हुआ सिद्ध शब्द का समानार्थी एक चिह्न—[illegible]—था और शब्द और चिह्न दोनो का साथ प्रयोग होता था।[8] अन्यत्र उसका प्रयोग या तो साथ-साथ या अलग-अलग होता था। वाकाटक अभिलेख इस सूत्र का एक दूसरा प्रकार उपस्थित करते है। बसीम-शासन[9] मे 'दृष्ट-सिद्ध' है, सूत्र का उत्तरपद प्रथम ताम्रपत्र के ऊपरी बाये कोने मे, सूत्र के पूर्वपद के नीचे रखा गया है। दृष्ट के अभिप्राय के विषय मे फ्लीट का मत था कि यह 'दृष्ट भगवता' (=भगवान् के द्वारा देखा गया) का सक्षिप्त रूप था। सिद्ध के शीघ्र बाद ही 'जित-भगवता' का प्रयोग फ्लीट के मत को अग्राह्य बना देता है।[10] 'दृष्ट' का सम्भावित अर्थ 'देखा गया' प्रतीत होता है जिससे लिखित अन्वीक्षण और स्वीकृति का बोध होता है। यह सूत्र (सिद्ध) इतना समादृत और

---

१ लूडर्स लिस्ट स० ११७२।

२ वही, स० १०७२।

३ वही, स० १०४०, १०४१।

४ वही, स० ४०८।

५ वही, स० ११२१।

६ वही, स० ११२७, ११३७—११४०, ११४८, ११४९।

७ इण्डियन हिस्० क्वा०, ९, २२५-२२६।

८ हुविष्क-कालीन मथुरा-प्रस्तर-अभिलेख, इपि० इण्डि० खण्ड २१, पृ० ६० और आगे।

९ इपि० इण्डि०, खण्ड २६, १५१ पल्लव लेख इपि० इण्डि० ६, ८६ और आगे, वही १, ५, और आगे।

१० पूना ताम्रपत्र इपि० इण्डि० खण्ड, १५ ४१, रीथपुर ताम्रपत्र इपि० इण्डि० खण्ड १९, पृ० २६७।

प्रचलित हुआ कि अपने से बडो को लिखे गये वैयक्तिक पत्रो की रूढिवादी शैली मे यह अब भी जीवित है।

एक अन्य प्रारम्भिक सूत्र जिसका विकास बाद मे हुआ किन्तु समान रूप से प्रचलित हुआ 'स्वस्ति' या 'ओ स्वस्ति' था। स्वस्ति के प्रयोग के कुछ पूर्वतम उदाहरण गुप्त सवत् १२८=४४८ ई० के बैग्राम ताम्रपत्र-अभिलेख, पहाडपुर-ताम्रपत्र-अभिलेख[1], (गुप्त सवत् १५९=४७९ ई०)[2] तथा वैण्यगुप्त के गुणैवर-ताम्रपत्र-अभिलेख[3] मे पाये जाते है। बाद के हर्षवर्धन के अभिलेखो—बाँसखेरा ताम्रपत्र[4] तथा मधुबन ताम्रपत्र[5] का भी प्रारम्भ इसी सूत्र के साथ होता है। जब हम वाकाटको[6], त्रैकूटको[7], कटच्छुरियो[8], पल्लवो[9] तथा गगो[10] के दक्षिण (दकन) और सुदूर दक्षिण (साउथ) के अभिलेख, जिनका समय ईसा की पाँचवी और सातवी शताब्दियो का मध्य है, 'ओ स्वस्ति' सूत्र या केवल 'ओ' के साथ प्रारम्भ होते हैं ओ '१'' चिह्न द्वारा व्यक्त किया जाता था।

भारतीय इतिहास के पूर्व मध्ययुग मे निम्नलिखित प्रारम्भिक सूत्रो का साधारणतया प्रयोग होता था

(१) ओ[11]
(२) ओ स्वस्ति[12]
(३) स्वस्ति[13]
(४) स्वस्ति श्रीमान्[14]।

---

१ इपि० इण्डि० खण्ड २१, पृ० ८१ और आगे।
२ वही, खण्ड २०, पृ० ६१ और आगे।
३ इण्डि० हिस्० क्वा० खण्ड ६ पृष्ठ ५३ और आगे।
४ इपि० इण्डि० खण्ड ४ पृ० २०८।
५ इपि० इण्डि० खण्ड १, पृ० ७२।
६ वही, १९, २६७।
७ वही, १०, ५१।
८ वही, ९, २९६, १२, ३०।
९ वही, १५, २५४ और आगे।
१० वही, १८, पृ० ३३४ और आगे।
११. लूडर्स लिस्ट, ९८, ९९, १००, १०९।
१२ वही, ११, ३१, ३९, ९२।
१३ वही ७, १०, १२, २५, २८, ३२, ३६।
१४. वही, ७, १०, २८, ३२।

(५) स्वस्ति जयत्याविष्कृत[1]
(६) ओं स्वामि-महासेन[2]
(७) ओ स्वस्ति अमरसकाश[3]
(८) ओ स्वस्ति जयत्याविष्कृत[4]
(९) स्वस्ति जयत्यमल[5]
(१०) ओं श्री स्वामि महासेन[6]
(११) ओ जयश्चाभ्युदयोश्च[7]
(१२) स्वस्ति श्री जयभ्युदयश्च[8]
(१३) ओ स्वस्ति जयभ्युदयश्च[9]
(१४) ओ नम शिवाय या ओ नमशिवाय[10]
(१५) श्री ओ नम शिवाय[11]
(१६) श्री ओं नम शिवभ्या[12]
(१७) ओ ओ नमो विनायकाय[13]
(१८) ओ नमो वराहाय[14]
(१९) ओ श्री आदि वराहाय नम[15]
(२०) ओ नमो देवराज देवाय[16]
(२१) ओ नम सर्वज्ञाय[17]

---

१ लूडर्स लिस्ट स० २५, ३६, ३७, ३८।
२ वही, ११।
३ वही, ३१।
४ वही, ३९।
५ वही, १२।
६ कार् इन्स्० स० १।
७ लूडर्स लिस्ट स० २००।
८ वही, स० ३१०, ३४९।
९ वही, स० २६०।
१० वही, ३३३, ३३४।
११ वही, २७८।
१२ वही, ३०८।
१३ वही, १९८, ३५९।
१४ वही, ३३९।
१५. वही, ३६८।
१६ वही, २७९।
१७ वही, २५७।

२ आवाहन

किसी लेख मे प्रारम्भिक सूत्र के बाद ही, लेख मे लिखित कृत्यो के साक्षी के रूप मे ईश्वर, देवताओ, तीर्थकरो, बुद्धो, अर्हतो, सिद्धो, सन्तो इत्यादि की उपस्थिति प्राप्त करने के लिए तथा गृहीत कार्य की सफल समाप्ति के लिए उनकी सहायता एव आशीर्वाद के लिये प्रार्थना की गई है। जब तक हम यह न मान ले कि वे शब्द, जिनमे अभिलेखो का प्रारम्भ होता है, प्रार्थना-सूचक है, जैसे पिप्रहवा-भाण्ड-अभिलेख का 'सुकृति' (=बुद्ध) अशोक के अनुशासनो का 'देवाना प्रिय' तथा बेसनगर गरुड स्तम्भ का 'देवदेव', प्रारम्भ मे इस प्रथा का प्रचार नही था। धर्मो के विकास एव विभिन्न धार्मिक सम्प्रदायो के फूटने के साथ—जैन, बौद्ध, भागवत, वैष्णव, शैव, शाक्त इत्यादि अभिलेखो मे आवाहन की पद्धति अधिक व्यापक और सूत्रबद्ध होती गयी।

पूर्वतम शुद्ध प्रार्थना खारवेल के हाथी गुम्फा अभिलेख[1] मे निम्नांकित सरल शब्दो मे आती है नमो अर्हन्तान (अर्हतो को नमस्कार) तथा नमो सवसिद्धान (सभी सिद्धो को नमस्कार)। नागनिका के नानाघाट-गुहा-अभिलेख[2] मे अनेक देवताओ—धर्म, इन्द्र, सकर्षण, वासुदेव, चन्द्र, सूर्य, महिमावत, लोकपाल, यम, वरुण, कुबेर तथा वासव की प्रार्थना की गई है। शक और कुषाण अभिलेखो मे प्रार्थना बड़ी विरल है। एक अकेला उदाहरण शोडास के समय के, स० ७२ के (सवत् अनिश्चित) मथुरादानपट्ट अभिलेख मे पाया जाता है, जो इस प्रकार है 'नमो अर्हतो वर्धमानस' (वर्धमान=महावीर अर्हत को नमस्कार)[3]। मद्रास प्रेसीडेन्सी के गुण्टूर जिले से प्राप्त वीर पुरुषदत्त के नागार्जुनीकोण्डा अभिलेखो[4] मे, जिनका समय ईसा की तीसरी शताब्दी का उत्तरार्द्ध बताया जाता है, जो भगवान् बुद्ध के प्रति प्रार्थनाएँ है, वे इस प्रकार है

(१) "इन्द्र द्वारा पूजित सुप्रबुद्ध ज्ञानवाले, सर्वज्ञ, सभी जीवो के प्रति अनुकम्पा वाले, राग और द्वेष को जीतकर जो अच्छी तरह मुक्त हो चुके है, सभी आचार्यो मे प्रमुख पूर्णबुद्ध, निर्वाणप्राप्त भगवान् को नमस्कार।"[5]

---

१ एपि० इण्डि० खण्ड २०, पृ० ७२ और आगे।

२ आर्कि० सर्० वेस्ट इण्डिया खण्ड ५, पृ० ६० और आगे।

३ एपि० इण्डि० खण्ड २, पृ० १९९।

४ वही, पृ० १६, १९ और आगे।

५ नमो भगवतो देवराज-सकतस सुपवुधवोधिनो सवञुनो सवसतानुकपस जितरागदोसमोहविमुतस महागणिवसभ गधहथिस समसबुधस धातुवरपरिगहितस। एपि० इण्डि० स० १।

(२) "इक्ष्वाकुराज के सौ ऋषियो को जन्म देने वाले वश मे उत्पन्न, देव, मनुष्य तथा सभी प्राणियो के कल्याण के लिए सुख-मार्ग के प्रदर्शक, काम-क्रोध, भय, हर्ष, तृष्णा तथा मोह् आदि दोषो के विजेता दर्पित कन्दर्प के बल, दर्प तथा मान के भञ्जक, बहुत अधिक बल वाले, अष्टागमार्ग वाले धर्मचक्र के प्रवर्त्तक, चक्रादि लक्षणों से युक्त सुन्दर सुकुमार चरण वाले, मध्याह्नकालीन सूर्य की प्रभा वाले, शरद्कालीन शशि के समान सौम्य दर्शन वाले, सभी जनों के चित्त मे समादृत भगवान् बुद्ध को नमस्कार।"[1]

कुछ अभिलेखो मे छोटी प्रार्थनाएँ हैं, जैसे नमो भगवतो बुधस (भगवान् बुद्ध को नमस्कार) तथा नमो भगवतो सम-सम्बुधस (सम्यक् प्रकार से सम्बुद्ध हुए भगवान् बुद्ध को नमस्कार)।[2]

चन्द्रगुप्त द्वितीय विक्रमादित्य के समय तक के पूर्व गुप्त अभिलेखो मे किसी देवता के प्रति स्तुति नही है। कुमारगुप्त द्वितीय के शासन काल के मन्दसोर प्रस्तर अभिलेख मे तीन श्लोको मे सूर्य के प्रति दीर्घ और प्रोज्वल स्तुति की गयी है। पहला श्लोक इस प्रकार है "वे (भगवान्) भास्कर जिनकी उपासना, जीविका (वृत्ति) के लिए देवतागण, सिद्धि के लिए सिद्ध जन, एकाग्रध्यान मे लीन विषयजित मुमुक्षु योगिजन भक्ति के साथ कठिन तपस्या करने वाले शाप या वरदान देने की क्षमता रखने वाले मुनिजन करते है तथा जो ससार के नाश और अभ्युदय के कारण हैं, सब की रक्षा करें।"[3]

स्कन्दगुप्त का जूनागढ शिलाभिलेख विष्णु की स्तुति के साथ प्रारम्भ होता है, स्तुति इस प्रकार है

---

१ नम भगवतो इखाकराज पवररिसिसतपभव-वस-सभवस देवमनुस-सवसत-हित-सुखमगदेसिकस जितकाम-कोधभयहरिस-तरिस-मोह-दोसस दपित-मार-बलदप-मानपसमन-करस दसबलमहाबलस अठगमग-धमचकपवतकस चक-लखण-सुकुमार-सुजातचरणस तरुणदिवसकरपभस सरदसरिससोम-दरिसनस सवलोकचित-महितस बुधस। इपि० इण्डि० स० ३।

२ वही।

३ यो वृत्यर्थमुपास्यते सुरगणैस्सिद्धैश्च सिद्धचर्त्थिभि-
र्घ्यानैकाग्रपरैर्विधेयविषयैर्मोक्षार्थिभिर्य्योगिभि।
भक्त्या तीव्रतपोधनैश्च मुनिभिश्शापप्रसादक्षमै-
र्हेतुर्य्यो जगत × क्षयाभ्युदयो॒ पायत्सवो भास्कर॥
फ्लीट सी० आई० आई० खण्ड ३, पृ० ८१ और आगे।

"जिसने इन्द्र के सुख के लिए बलि की यथाकामभोग्या, एक क्षण के लिए भी अलग न होने वाली लक्ष्मी का हरण किया तथा जो कमलनिवासिनी लक्ष्मी के चिरतन आश्रयस्थान एव दु खो (आर्ति) के विजेता हैं, उन अत्यन्त विजयशील विष्णु की जय हो।"[1]

स्कन्दगुप्त का इन्दौर-ताम्रपत्र-अभिलेख[2] भास्कर की, बुधगुप्त का एरण-स्तम्भ-अभिलेख[3] गरुडकेतु (विष्णु) की, सक्षोभ का खोह-ताम्रपत्र-अभिलेख[4] वासुदेव (कृष्ण) की, तथा हरिषेण का अजन्ता गुहा-अभिलेख[5] बुद्ध की वन्दना करता है। यशोधर्मन् के मन्दसोर-प्रस्तर-अभिलेख[6] (मालव स० ५८९ = ५३२ ई०)[7] तथा मन्दसोर-स्तम्भ अभिलेख[8] 'पिनाकी' और 'शूलपाणि' के रूप मे शिव की वन्दना करते हैं। इनमे से पहले अभिलेख के तीन श्लोक शिव की स्तुति मे है। प्रथम श्लोक इस प्रकार है

"उस जगत्पति पिनाकी की जय हो जिसके हँसने, बोलने और गाने मे (प्रकटहुई) दन्तकान्ति रात मे चमकनेवाली बिजली की द्युति के समान इस लोक को आवृत और प्रकट कर देती है।"[9] बाद के राजकीय और लौकिक दोनो प्रकार के, विशेपरूप से प्रशस्त्यात्मक और समर्पणात्मक, लेखो मे स्तुति उनका स्थायी गुण बन गया है। ये स्तुतियाँ विष्णु, शिव, ब्रह्मा तथा दूसरे देवताओ और उनकी देवियो के विभिन्न रूपो के प्रति की गयी हैं। बौद्ध लेख भगवान् बुद्ध[10] का तथा कभी-कभी बौद्ध देवियो जैसे आर्यवसुन्धरा[11] का आवाहन करते है। जैन अभिलेख, जिनकी सख्या बौद्ध अभिलेखो से अधिक है, किसी तीर्थंकर जैन सन्त या जैन मत[12] की वन्दना करते है।

---

१ श्रियमभिमतभोग्या नैककालापनीता त्रिदशपतिसुखार्थं यो बलेराजहार। कमलनिलयनाया शाश्वत धाम लक्ष्म्या स जयति विजितार्ति विष्णुरत्यन्त जिष्णु ॥ फ्लीट सी० आई० आई० खण्ड ३, पृ० ५८ और आगे।

२ इण्डि० एण्टि० खण्ड १८, पृ० २१९।

३ फ्लीट, सी० आई० आई० खण्ड ३, पृ० ८९।

४ वही, पृ० ११४ और आगे।

५ इण्डियन कल्चर ७, पृ० ३७२ और आगे।

६ फ्लीट, सी० आई० आई० खण्ड ३, पृ० १५२ और आगे।

७ वही, पृ० १४६ और आगे।

८ स जयति जगता पति पिनाकी स्मितरव-गीतिषु यस्य दन्तकान्ति। द्युतिरिव तडिता निशि स्फुरन्ती तिरयति च स्फुटयत्यदश्च विश्वम् ॥ वही, १५२ और आगे।

९ यशोवर्म देव का नालन्दा अभिलेख, इपि० इण्डि० खण्ड २०।

१० कुमारदेवी का सारनाथ अभिलेख, इपि० इण्डि० खण्ड ९, पृ० ३१९ और आगे।

११ लूडर्स लिस्ट स० २३५, २३७, २३९, २४० इत्यादि।

३. आशीर्वचन

आशीर्वचन लेख करानेवाले के पुण्य और प्रसन्नता के लिए या उसके कृत्यो की सुरक्षा एव दीर्घता के लिए शुभकामना की एक उक्ति है जिसमे अप्रत्यक्ष रूप से उसके या सारे ससार के कल्याण के लिए कामना की जाती है। पहले के अभिलेखो मे नियमित रूप से आशीर्वचन नही है क्योकि ये लेख अधिकाशत बौद्ध तथा विशुद्ध आचारपरक है। आरम्भिक बौद्ध धर्म प्रतिफल की भावना से रहित कार्यो को प्रेरित करता है। फिर भी अशोक के अनुशासनो मे इन आशीर्वचनो के बीज का पता लगाया जा सकता है .

"इसी उद्देश्य के लिए इस लेख को लिखाया गया कि इस अर्थ की वृद्धि मे लोग लगे, हानि मे किसी को रुचि नही होनी चाहिये।"[1]

"इस उद्देश्य के लिए यह धर्म लेख लिखवाया गया कि यह चिरस्थायी हो तथा मेरी सन्तति मेरा अनुवर्तन करे।"[2]

"यदि इस लोक मे अभीष्ट कार्य सिद्ध हो गया तो दोनो की उपलब्धि हुई (अर्थात्) यहाँ वह अर्थ सिद्ध हुआ और उस धर्म मगल के द्वारा परलोक मे अत्यन्त पुण्य प्राप्त हुआ।"[3]

"धर्मरति उनकी सभी प्रकार की रति हो। वही इस लोक और उस लोक मे कल्याण-कारक है।"[4]

"मेरी ऐसी इच्छा है कि कारागार के समय मे भी लोग पारलौकिक (सुख) की प्राप्ति का प्रयास करे। (इस प्रकार) लोगो मे धर्माचरण, सयम और दानसविभाग की वृद्धि होती है।"[5]

---

१ एताय अथाय इद लेखापित इमम अथस वधि युजन्तु हीनि च नो लोचेतव्या। अशोक का चतुर्थ शिलालेख।

२ एतये अथ्रये अयि ध्रम-दिपि लिखित चिरठितिक होतु तथ च मे प्रज अनुवटतु। अशोक का पचम शिलालेख।

३ हिद च स अर्थेपरत्र च अनत पुण प्रसवति तेन ध्रम-मगलेन॥ शिलालेख ९।

४. सब चतिरति भोतु य ध्रमरति। स हि हिदलोकिक परलोकिक। शिलालेख १३।

५ इछा हि मे हेव निलुधसि पि कालसि पालत आलाधयेवूति। जनस च वढति विविधे धम-चलने सयमे दान-सविभागेति। अशोक का चतुर्थ स्तम्भ अभिलेख।

ईसा की प्रारम्भिक शताब्दियों में जब कि वैष्णव और महायान धर्मों का विकास हो रहा था तथा पौराणिक धर्म अभी अंकुरित ही हो रहा था, आशीर्वचनों का आविकारिक उच्चारण होने लगा। एक शिव मन्दिर के निर्माण के वर्णनयुक्त एक कुषाण राजा के पञ्चतर-प्रस्तर-अभिलेख में शुभकामना की गयी है कि "यह शिव मन्दिर पुण्यकर और चिरस्थायी हो।"[1] एक स्तूप के निर्माण को लिखित करने वाला एक अन्य कुषाण राजा का तक्षशिला रजत-कुण्डली-अभिलेख यह कामना प्रकट करता है कि इससे (भगवान् की धातुओं की स्थापना से) "देवपुत्र कुषाण को आरोग्य प्राप्ति सब बुद्धों की पूजा प्रत्येक बुद्ध, सभी प्राणियों, माता पिता, मित्र, तथा रक्त-सम्बन्धियों की पूजा हो और स्वयं को आरोग्य लाभ तथा निर्वाण प्राप्ति हो।[2] कनिष्क के सारनाथ-बौद्ध-मूर्ति-अभिलेख में यह अभिलाषा व्यक्त की गयी है कि मूर्ति "सभी प्राणियों के सुख और कल्याण के लिए हो।"[3] एक अक्षयनीवि को लिखित करने वाले हुविष्क के शासन काल के मथुरा प्रस्तर अभिलेख में ऐसी कामना की गई है "जो इसमें पुण्य हो वह देवपुत्र षाहि हुविष्क को हो, जिनको देवपुत्र प्रिय है उनको भी पुण्य हो। सम्पूर्ण पृथ्वी के लिए पुण्य हो।" यह ध्यान रखना चाहिये कि ये आशीर्वचन प्रारम्भिक है पूर्ण विकसित नहीं। सातवाहनों[4], महाराष्ट्र[5] और उज्जयिनी[6] के शकों तथा कृष्णा-गुण्टूर भाग के इक्ष्वाकुओं[7] के अभिलेखों के साथ भी यही बात है।

गुप्तों के साथ दीर्घ और पूर्ण विकसित आशीर्वचनों का प्रारम्भ होता है जो पूर्व मध्यकालीन भारतीय इतिहास के अभिलेखों में अपने चरम विकास को प्राप्त होते हैं।[8] प्रथम गुप्त-लेख-समुद्रगुप्त का प्रयाग-स्तम्भ-अभिलेख में निम्नांकित आशीर्वचन अन्तर्निहित है, यद्यपि वह अप्रत्यक्ष और प्रशस्ति से मिला हुआ है

---

१ पजकरे णव अमत शिवथल रम । इपि० इण्डि० १४, पृ० १३४।

२ इपि० इण्डि० १४, पृ० २६५।

३ सर्वसत्वना हितसुखार्थम् । इपि० इण्डि० ८, पृ० १७३ और आगे।

४ य चत्र पुण्यंदेवपुत्रस्य षाहिस्य हुविष्कस्य। येषा च देवपुत्रो प्रि तेषामपि पुण्य भवतु। सर्वाये च पृथिवीये पुण्य भवतु। इपि० इण्डि० २६, पृ० ६०।

डी० सी० सरकार, सेलेक्ट इन्सक्रिप्शन्स १, पृ० १८३-२०४।

६ वही, पृ० १५७-१६६।

७ वही, पृ० १६७-१८२।

८ प्रदान-भुज-विक्रम प्रशमशास्त्रवाक्योदयैरुपरिसञ्चयोछ्रितमनेकमार्ग यश।
पुनाति भुवनत्रय पशुपतेर्जटान्तर्गुहानिरोधपरिमोक्षशीघ्रमिव पाण्डु गाङ्ग
पय ॥

फ्लीट सी० आई० आई० खण्ड ३, स० १।

"दान, भुजविक्रम, आत्मसयम, शास्त्रज्ञान की पटुता से सचित अनेक मार्गों से बढने वाला यश तीनो लोको को उसी प्रकार पवित्र करता है जिस प्रकार शिव जी की जटाओ के अन्तर रूपी गुहा के अवरोध से शीघ्र ही परिमुक्त अत्यधिक सचय के कारण अनेक मार्गो मे जाने वाला गगा का निर्मल जल।"[1]

अभिलेख के अन्तिम भाग मे आशीर्वचन का पहले का लघुसूत्र भी प्राप्त होता है "यह काव्य सभी प्राणियो के कल्याण और सुख के लिए हो।"[2] कुमार-गुप्त द्वितीय और बुद्धगुप्त के मन्दसौर अभिलेख (मालव स० ४९३ तथा ५२९ = ४३६ और ४७३ ई०) मे विशुद्ध आशीर्वचन का एक श्लोक है

"जब तक (भगवान्) ईश निष्कलक चन्द्रमा की लेखा से सुशोभित पिंगल जटाओ के समूह को और शार्ङ्गी कधो पर विकसित कमलो की माला को धारण किये रहे तब तक यह भव्य मन्दिर स्थिर रहे।"[3]

स्कन्दगुप्त के जूनागढ अभिलेख मे विशिष्ट आशीर्वचन के अन्य उदाहरण है

"प्रख्यात सुदर्शन झील प्रलयकाल तक स्थिर रहे। झील का सुदृढ सेतु प्रान्त को सुशोभित करने वाले चक्रवाको, क्रौञ्चो तथा हसो से विधौत निर्मल जल से पूर्ण जब तक सूर्य और चन्द्रमा है, बना रहे।"[4]

"और नगर भी सम्पन्न, नागरिको से युक्त, अनेक शत ब्राह्मणो के गान (= साम् इत्यादि) से नष्ट हो गये पापो वाला तथा सैकडो वर्षो तक दुर्भिक्ष की भीति से मुक्त हो ।"[5]

---

१ प्रदान-भुज-विक्रम प्रशमशास्त्रवाक्योदयैरुपरिसञ्चयोच्छ्रितमनेकमार्गं यश।
पुनाति भुवनत्रय पशुपतेर्जटान्तर्गुहानिरोधरिमोक्षशीघ्रमिव पाण्डु गाङ्ग पयः॥ फ्लीट सी० आई० आई०, खण्ड ३, स० १।

२ एतच्च काव्य सर्वभूतहितसुखायास्तु। वही।

३ अमलिन-शशि-लेखा-दंतुर पिङ्गलाना परिवहति समूह यावदीशो जयना।
विकचकमलमालामस-सक्ता च शार्ङ्गी भवनमिदमुदार शाश्वतन्तावदस्तु॥
फ्लीट सी० आई० आई०, खण्ड ३, पृ० ८१ और आगे।

४ सुदर्शन शाश्वत-कल्पकालम्।
अपि च सुदृढसेतु-प्रान्त-विन्यस्त-शोभ-रथचरणसमाह्व-क्रौञ्च हसावधूतम्।
विमल-सलिल भुवित. दानेऽर्क शशी च॥
वही, पृ० ५८ और आग, श्लोक ३७-३८।

५ नगरमपि च भूयादृद्धिमत्पौरजुष्ट द्विजबहुशतगीत ब्रह्मनिर्नष्टपाप।
शतमपि च समानाभीतिदुर्भिक्षमुक्त . . ॥ वही, श्लोक ३९।

विश्ववर्मन् का गगधर अभिलेख (मालव सं० ४८० = ४२३ ई०)[१], यशोधर्मन् या विष्णुवर्धन् का मन्दसोर-प्रस्तर-अभिलेख[२], मिहिरकुल का ग्वालियर-प्रस्तर-अभिलेख (ल० ५१५-३५ ई०), हरिषेण के काल का अजन्ता-गुहा-अभिलेख (ल० ईसा की छठवी शताब्दी)[३] तथा शान्तिवर्मन् के काल का लालगुडा-स्तम्भ-अभिलेख[४] दानदाताओ द्वारा किये गये कृत्यो की स्थिरता एवं सम्पन्नता के लिए इसी प्रकार के आशीर्वचनो से युक्त है।

उत्तरी भारत मे ईसा की सातवी और बारहवी शताब्दियो के मध्य के तथा दकन तथा दक्षिण (साउथ) के ईसा की सातवी और तेरहवी शताब्दियो के मध्य के अभिलेख क्रमश अपने भागो मे आशीर्वचन की गुप्त और वाकाटक शैली का अनुसरण करते है। एक बात विचारणीय है कि ताम्रपत्रो मे, जो प्राय भूमि (दान) मे सम्बन्धित है, एक छोटा सूत्र रखते है (जब तक चन्द्रमा, सूर्य और पृथिवी है तब तक यह दान रहे)[५] और प्रस्तर अभिलेखो मे जो प्राय प्रशसात्मक, समर्पणात्मक या दानात्मक हैं, दानदाता और उसके दान अथवा भक्त और समर्पित वस्तु के लिए लम्बे आशीर्वचन है।[६] कुछ ऐसे भी उदाहरण है जो भिन्नता और अपवाद उपस्थित करते है।

८. प्रशसा

प्रशसात्मक उक्ति मे, लिखित कराने वाले या लिखित के कृत्यो के कारणभूत व्यक्ति की, और अच्छे कार्यो के लिए प्रलोभन के रूप मे, प्रशसा रहती थी। इस तत्त्व का बीज अशोक के निम्नांकित अभिलेखो मे भी पाया जा सकता है ·

"मातापिता की सेवा करना अच्छा है। मित्र, परिचित, स्वजाति, ब्राह्मण

---

१ फ्लीट · सी० आई० आई०, खड ३, पृ० ७४ और आगे।
२ वही पृ० १५२ और आगे।
३ इण्डियन कल्चर, खण्ड ७, पृ० ३७२ और आगे।
४ इपि० इण्डि०, खण्ड ८, पृ० ३१ और आगे।
५ 'चन्द्रार्कक्षितिसमकालीनो' हर्ष का बाँसखेरा ताम्रपत्र अभिलेख, इपि० इण्डि० खण्ड ४, पृ० २०८ और आगे।
'आचन्द्रार्कक्षितिसमकाल यावत्।' वल्लालसेन का नैहाटी-शासन, इपि० इण्डि० खण्ड १४, पृ० १५६।
६ फ्लीट : सी० आई० आई०, खण्ड ३, स० ४२।

और श्रमण को दान देना अच्छा है। जीवहिसा न करना अच्छा है। थोडा व्यय करना और थोडा सचय करना अच्छा है।"[1]

"यह जो धर्ममगल है निश्चय ही बडे फल को देने वाला है। इसमे दास और सेवको के प्रति उचित व्यवहार, गुरुओ का आदर .धर्ममंगल माना जाता है।"[2]

"ऐसा कहा गया हैं : 'दान पुण्यकर है'। किन्तु कोई भी दान या दया 'धर्म' के दान या दया की तुलना योग्य नही है। इसलिए मित्र, हितैषी, या साथी को विभिन्न कार्यों मे यह कह कर सलाह देनी चाहिये, 'यह कर्तव्य है, यह पुण्यकर है, यह स्वर्गकर है।' और स्वर्ग की प्राप्ति के अतिरिक्त अन्य कौन वस्तु इसके द्वारा प्राप्त करने योग्य हो सकती है ?"[3]

"वह इस प्रकार का आचरण करता हुआ इस लोक को भी सिद्ध करता है और परलोक मे उस धर्मदान से अनन्त पुण्य को प्राप्त करता है।"[4]

बेसनगर के गरुड-स्तम्भ-अभिलेख मे प्रशसा का निम्नाकित अश विद्यमान है

"तीन अमृत पदो का यहाँ सम्यक् अनुष्ठान स्वर्ग ले जाता है, वे हैं दम (आत्म-सयम), चाग (=त्याग) और अप्रमाद।"[5]

उपरिनिर्दिष्ट उदाहरण धार्मिक उपदेशो या नैतिक सदाचार की प्रशसाएँ है जो सरल और सयमित हैं। आन्ध्र, क्षहरात, क्षत्रप तथा कुषाण अभिलेखो मे जिनका विषय साधारणतया भिक्षुओ के लिए गुहाओ का खोदना, चैत्य या स्तूपो का जीर्णोद्धार या विनिर्माण, मूर्तियो का प्रतिष्ठापन, मन्दिरो का समर्पण तथा अक्षयनीवियो की स्थापना था, पूर्व के अभिलेखो की भाँति उच्छ्वसित गुणगानो से

---

१ साधु मातरि च पितरि च सूसूसा मिता सस्तुत-आतीन ब्राह्मणसमणान साधु दान प्राणानं साधु अनारभो अपव्ययता अपभाडता साधु। शिलालेख ३।

२ शि० ले० ६।

३ शि० ले० ६ (गिरनार, धोली तथा जौगड सस्करण)। कालसी, शाहबाज-गढी तथा मान्सेरा के सस्करणो मे भी धर्म सम्बन्धी प्रलोभन अन्तर्निहित है।

४ शे तथा कलत हिदलोकिक्ये च क आलधे होति पलत चा अनत पुण पश-वति तेना धमदानेना। शि० ले० ६। देखिये, पृथक् शिलालेख का जौगड सस्करण तथा स्तम्भ लेख २, ३, ४, ६, ७।

५ त्रिनि अमुत-पदानि इअ सु अनुठितानि।
नेयति स्वग दम चाग अप्रमाद। आर्क० सर० इण्डि० एन्युअल रिपोर्ट १६०८-०६, पृ० १२६।

भरे नही हैं। उनमे निम्नाकित उक्तियो के रूप मे साधारण प्रशसा है और वह भी सर्वत्र नही

"भगवान शाक्य मुनि की यह प्रतिमा प्रतिष्ठापित की गयी सभी दुःखो के उपशमन के लिए, सभी प्राणियो के कल्याण और सुख के लिए .. ।"[१]

"इस प्रस्तर-दण्ड को स्वर्ग-सुख की प्राप्ति के लिए स्थापित किया गया ।"[२]

"दोनो लोको के कल्याण और सुख की प्राप्ति, अपनी निर्वाण-सपत्ति के सपादन तथा सभी लोगो के कल्याण और सुख के लिए यह स्तम्भ प्रतिष्ठापित किया गया ।"[३]

भारतीय इतिहास के गुप्त-वाकाटक काल मे ताम्रपत्रो के प्रादुर्भाव के साथ ही इस प्रकार के गुणगान नियमित, जोरदार और लम्बे होने लगे। इनका विषय ब्राह्मणो को भूमि सम्पति का हस्तान्तरण या दान होता था। ये गृहस्थ ब्राह्मण थे, सन्यासी नही, जो दान या भिक्षा को शान्ति और उदासीनता के साथ स्वीकार करते थे। दान ग्रहण करने वाले ये ब्राह्मण, जो शैक्षिक और धार्मिक सस्थाएँ चलाते थे, अपनी सस्थाओ के लिए अधिक से अधिक स्थायी दान प्राप्त करने के लिए उत्सुक रहते थे। ये अपने दानदाताओ तथा उनके दानो की बडी प्रशसा करते तथा भविष्य मे अत्यधिक दान के लिए प्रलोभन के रूप मे उन दाताओ तथा उनके पूर्वजो को सभी सम्भव स्वर्गीय आशीर्वादो से लाद देते। इसका भी विशेष रूप से निर्देश किया गया है कि ये प्रशसात्मक श्लोक भविष्य के शासको तथा विधिवेत्ताओ के लिए हैं।[४] ताम्र शासनो की प्रशसात्मक पक्तियाँ वैयक्तिक उक्तियाँ नही हैं, बल्कि वे प्रामाणिक स्मृतियों से उद्धरण है।[५] इसके कुछ उदाहरण नीचे दिये जाते हैं जिनकी पुनरावृत्ति थोडी-बहुत घट-बढ और परिवर्तन के साथ प्रत्येक ताम्रपत्र मे हुई है :

---

१ भगवत शाक्यमुनेः प्रतिमा प्रतिष्ठापित सर्वदु खोपशमाय सर्वसत्त्वहितसुखार्थ इपि० इण्डि०, खण्ड १०, पृ० ११३, स० ६।

२ इद शान्य उत्थापित स्वर्गसुखार्थ। इपि० इण्डि०, खण्ड १६, पृ० २३८।

३ उभयलोकहित-सुखावहयनाय च अतनो च निवाण-सपति-सम्पादके। सवलोकहित-सुखावहयनाय च इम खभ पतिथपित ति ।।इपि० इण्डि०, खण्ड २०, १६-१६।।

४ तदुत्तरकाल सम्व्यवहारिभिः धर्म्मसवेक्ष्यानुमन्तव्यः। इपि० इण्डि०, खड १५, पृ० १३३ और आगे।

५ विशेष पी० वी० काणे, हिस्ट्री ऑफ धर्मशास्त्र, खण्ड २ २, परिशिष्ट, पृ० १२७१।

"हे युधिष्ठिर ! पूर्व-दाताओ द्वारा द्विजाति को दी गयी भूमि की यत्नपूर्वक रक्षा करो। हे नृपति श्रेष्ठ ! नये दान देने से पूर्व-दानो की रक्षा करना अधिक उत्तम है। अनेको द्वारा इस भूमि का दान किया जा चुका है और (भविष्य मे) बार-बार किया जायेगा। संरक्षण होने पर जब जिसके पास भूमि रहेगी तब उसे उस दान का लाभ मिलेगा।"[1]

"सगर आदि असख्य राजाओ द्वारा इस भूमि का दान दिया जा चुका है। सरक्षण होने पर ही जब जिसके पास भूमि रहेगी तब उसे उस दान का लाभ मिलेगा। भूमि का दान देने वाला स्वर्ग मे साठ सहस्र वर्षो तक सुख प्राप्त करता है ।"[2]

" पितरगण और (यमलोक मे) पूर्वपुरुष उच्च स्वर मे कहते है कि हमारे कुल मे कोई भूमि-दानी पैदा होकर हमारा उद्धार करेगा।"[3]

"प्राय राजाओ की शुभगति नही होती। किन्तु भूमि को देने वाले निरन्तर ही पूजे जाते हैं।"[4]

"भूमि के दान से बढकर कोई दान नही, और नये दान से बढकर दान का

---

१. पूर्वदत्ता द्विजातिभ्यो यत्नाद्रक्ष युधिष्ठिर।
महीं महीवतां (मता) श्रेष्ठ दानाच्छ्रेयोऽनुपालन (नम्) ॥
ब (ब) हुभिर्व्वसुधा दत्ता दीयते च पुन पुनः।
यस्य यस्य यदा भूमिस्तस्य तस्य तदा फलम् ॥ वही तथा इपि० इण्डि० खड १५, पृ० १३३, पृ० १३८ और आगे।

२ बहुभिर्वसुधा दत्ता राजभिस्सगरादिभि ।
यस्य यस्य यदा भूमिस्तस्य तस्य तदा फलम् ॥
षष्टिवर्षसहस्राणि स्वर्गे मोदति भूमिद । दामोदरपुर ताम्रपत्र अभिलेख (गु० स० २२४-५४३ ई०), इपि० इण्डि० खंड १२, पृ० १४२ और आगे।

३. आस्फोटयन्ति पितर प्रवलगन्ति पितामहा ।
भूमिदोऽस्मिन्कुले (अस्मत्कुले) जात स न सतारयिष्यति ॥ विजयमन का मल्लसारुल ताम्रपत्र अभिलेख, इपि० इण्डि०, खण्ड २३, पृ० १५६ और आगे।

४ प्रायेण हि नरेन्द्राणा विद्यते न शुभा गति ।
पूज्यन्ते ते तु सतत प्रयच्छन्तो वसुन्धराम् ॥ सर्वनाथ का खोह अभिलेख (गु० स० १६३, ५१३ ई०)। फ्लीट सी० आई० आई०, पृ० १२६ और आगे।

मग्लण है। नृग आदि सभी राजा पूर्व-दानो का संरक्षण कर स्वर्ग को प्राप्त हुए।"[1]

"भूमिदान के समान दान नही है और कोई दान इसके समान नहीं है।"[2]

"दान देना स्वय मे अधिक सरल है, किन्तु दूसरो के दानो का सरक्षण अधिक कठिन है। यदि नये दान और पूर्व-दान के सरक्षण के बीच चयन करना पडे तो पहले वाले से दूसरा अधिक श्रेष्ठ माना जायेगा।"[3]

मिहिरकुल (ल० ५१५-३५ ई०) के ग्वालियर प्रस्तर अभिलेख मे भूमिदान की प्रशसा के क्रम मे मन्दिर निर्माण का उल्लेख एक अलग उदाहरण है.

"जो लोग सूर्य के, चन्द्रमा की किरणो के समान प्रभा वाले सुन्दर मन्दिर का निर्माण कराते है, उनका प्रलयकल्प तक स्वर्ग मे वास होता है।"[4]

हर्षवर्धन के बाँसखेरा ताम्रपत्र अभिलेख मे (हर्ष स० २२-६२८ ई०) एक सुन्दर परिवर्तन का समावेश किया गया है

"हमारे कुल के उदार क्रम को ग्रहण करने वालो तथा अन्य लोगो को इस दान का भली भाँति अनुमोदन करना चाहिये। विद्युत् और जल के बुलबुलो से भी अस्थिर लक्ष्मी का फल-दान तथा दूसरो के यश का पालन ही है। लोगो को ('जीवों' के अर्थ मे) मनसा, वाचा तथा कर्मणा जो हितकर है

---

१ भूमिप्रदानान्न पर प्रदान दानाद्विशिष्ट परिपालनञ्च।
सर्वेऽतिसृष्टा परिपाल्य भूमि नृपा नृगाद्यस्त्रिदिव प्रपन्ना ॥ सक्षोभ का खोह ताम्रपत्र अभिलेख (गु० स० २०९, ५२९ ई०)। फ्लीट सी० आई० आई० ख० ३, पृ० ११४ तथा क्रमश।

२ भूमिदानसमन्दान न भूत न भविष्यति। मद्रास प्रेसीडेन्सी के गुण्टूर जिले से प्राप्त सिहवर्मन का नरसाओपेट ताम्रपत्र अभिलेख, इपि० इण्डि०, खण्ड १५, पृ० २५४ और आगे।

३ स्वन्दातु सुमहच्छक्य दु खमन्यार्थपालनम्।
दान वा पालन वेति दानाच्छ्रेयोऽनुपालनम् ॥ माधव का पेनुकोण्डा ताम्रपत्र अभिलेख (अनंतपुर, जिला मद्रास), इपि० इण्डि०, खड १४, पृ० ३३४ और क्रमश।

४ ये कारयन्ति भानोश्चन्द्राशुसमप्रभ गृहप्रवरम्।
तेषा वास स्वर्गे यावत्कल्पक्षयो भवति ॥ फ्लीट सी० आई० आई०, खण्ड ३, पृ० १६२ तथा क्रमश।

वही करना चाहिये। धर्म की प्राप्ति का यह अनुपम मार्ग हर्ष के द्वारा कहा गया है।"[1]

भारतीय इतिहास के उत्तरकालीन अभिलेखो के प्रशसात्मक अशो मे मौलिकता का अभाव है, वे रूढ हो गये है। जो भिन्नता उनमे पायी जाती है वह उनकी मात्रा शैली और क्रम मे पायी जाती है। कुछ अभिलेखो मे प्रशसात्मक श्लोको का गद्य मे अन्वय कर उनकी अन्तर्वस्तु को सक्षिप्त कर दिया गया है। कुछ अभिलेखो से प्रशसात्मक श्लोको को बिलकुल हटा कर केवल इतने से ही सतोष किया गया है

"माता और पिता के निजी पुण्य एव यश की वृद्धि के लिए चन्द्रमा, सूर्य और पृथ्वी के समय तक रहने वाला दान।"[2]

५. अभिशाप

किसी को अनिच्छित कार्य करने तथा दूसरो के द्वारा किये गये अच्छे कार्य को मेटने के विरुद्ध हतोत्साह करने के लिए इसका प्रयोग होता था। प्रारम्भिक नैतिक, धार्मिक तथा समर्पणात्मक अभिलेखो मे कोई निश्चित आक्रोश विधि नही है, यद्यपि अपने नकारात्मक उपदेशो मे वे अनभीप्सित कार्य के विरुद्ध चेतावनी देते है। यहाँ तक कि ईसा की चौथी शताब्दी तक के दानपरक अभिलेखो मे भी इस आक्रोशात्मक सूत्र का विकास नही हुआ है, क्योकि दान की वस्तुएँ अधिकाशत रहने की गुफाएँ तथा दैनिक प्रयोग की वस्तुएँ थी, जिनमे दान मे हस्तक्षेप करने के लिए, कोई आकर्षण नही था। फिर भी पूर्व के अभिलेखो मे आक्रोश का प्रारम्भिक रूप विद्यमान है। अशोक के अभिलेख पुन कुछ उदाहरण प्रस्तुत करते हैं

"यहाँ किमी जीव को मार कर होम न किया जाय और न समाज किया

---

१ अस्मत्कुलक्रममुदारमुदाहरद्भिरन्यैश्च दानमिदमभ्यनुमोदनीयम्।
लक्ष्म्यास्तडित् बुद्बुद् चचलाया दान फल परयश परिपालन च॥
कर्मणा मनसा वाचा कर्तव्य प्राणिभिहितम्।
हर्षेणैतत्समाख्यात धर्मार्जिनमनुत्तमम्॥ इपि० इण्डि० खण्ड ४, पृ० २०८।

२ मातापित्रोरात्मनश्च पुण्ययशोभिवृद्धये आचन्द्रार्कक्षितिसमकालीनम्।
इपि० इण्डि०, खण्ड १४, पृ० १५६।

जाय क्योंकि देवताओं के प्रिय प्रियदर्शी राजा समाज में बहुत दोष देखते हैं।"[1] "शीलहीन व्यक्ति से धर्माचरण भी नहीं हो सकता।"[2]

"पाप ही एकमात्र विपत्ति है।"[3]

"जो कोई भी भिक्षु या भिक्षुणी संघ-भेद करता है उसे श्वेत वस्त्र पहना कर अनावास (भिक्षु संघ के बाहर) में रखा जायगा।"[4]

प्रशमात्मक सूत्र की तरह नियमित आक्रोश तत्त्व भी ईसा की चतुर्थ शताब्दी के अन्तिम चरण में प्रकट होता है। यह विशेष रूप में ताम्रपत्रों के भूमि शासनों पर प्रशमात्मक अंश के साथ-साथ पाया जाता है, यद्यपि इसका विरल प्रयोग अन्य प्रकार के अभिलेखों में भी पाया जाता है। कुछ उदाहरणों को नीचे दिया जाता है

"जो कोई इस पुण्य कर्म का अभिद्रोह करे, जो कोई ऊपर लिखे कार्यक्रमों को उलटे, उसे पाँच महापातक[5] और पाँच उपपातक लगें।"[6]

"जो कोई अपनी दी हुई या दूसरे की दी हुई पृथ्वी का हरण करता है वह विष्ठा का कीड़ा होकर पितरों के साथ दुःख भोगता है। आक्षेप करने वाला तथा उसका समर्थक उतने ही समय नरक में रहता है।"[7]

"जो कोई इस सुसम्पन्न दान का व्यतिक्रमण करेगा वह गाय को मारने वाला,

---

१ इध न किंचि जीवं आरभित्पा प्रजूहितव्यं न च समाजो कतवयो। बहुकं हि दोसं समाजम्हि पसति देवानं पियो प्रियदसि राजा। शि० ले० १।

२ धमचरणंपि न भवति असीलस। शि० ले० ४।

३ एस तु परिस्रवे य अपुञं। शि० ले० १०।

४ ये केन पि संघे भेतवे। ए चु खो भिखु वा भिखुनि वा संघ भखति से ओदातानि दुसानि सनधापयिया अनावासंसि आवासयिये। सारनाथ स्तम्भ लेख।

५ ब्रह्महत्या सुरापानं स्तेयं गुर्वङ्गनागमः।
महान्ति पातकान्याहुस्तत्संसर्गश्च पञ्चमम्॥ मनु० ११।५४।

६ यश्च कीत्यभिद्रोहं कुर्याद्यश्चाभिलिखितमुपर्यधो वा स पञ्चभिर्महापातकैरुपपातकैश्च संयुक्तस्स्यात्। चन्द्रगुप्त द्वितीय का मथुरा स्तम्भ अभिलेख (गु० सं० ६१, ३८० ई०) इपि० इण्डि०, खण्ड २१, पृ० ८ और आगे।

७ स्वदत्तां परदत्तां वा यो हरेत वसुन्धराम्।
स विष्ठायां कृमिर्भूत्वा पितृभिः सह पच्यते॥
आक्षेप्ता चानुमन्ता च तान्येव नरके वसेत्। कुमारगुप्त प्रथम का धनैदह ताम्रपत्र अभि० (गु० सं० ११३, ४३२ ई०) इपि० इण्डि० खण्ड १७, पृ० ४८५ और आगे।

गुरु का हत्यारा और द्विज का हत्यारा है। वह मनुष्य पाँच पातको और उपपातको से युक्त हो कर अधोगति वाला होता है।"[1]

"जो लोग देवदाय (धर्मार्थ दिया हुआ दान) का हरण करते है वे विन्ध्याचल के जलविहीन जगलो मे शुष्क कोटरो मे रहने वाले काले साँपो के रूप मे पैदा होते है।"[2]

"जो कोई इस दान मे हस्तक्षेप करे वह वध्य है तथा पाँच पातको और उपपातको से सयुक्त होता है। उसके देवता उसकी हवि को तथा उसके पितर उसके पिण्डो को नही प्राप्त करते। वह स्वय मस्तकहीन वैताल होता है, जिसकी कोई प्रतिष्ठा नही होती, तथा अधोगति को प्राप्त होता है।"[3]

"मनुष्यो की लक्ष्मी को विद्युत् तरगो से निर्मित समझ कर सज्जन पुरुषो को धर्म मे लगे हुए दान का मेटना उचित नही है।"[4]

"जो कोई सर्व धान्य सम्पन्न पृथ्वी को ले लेता है वह कुत्ते के विष्ठा का कीडा होकर अपने पितरो के साथ उसमे डूबा रहता है।"[5]

"जो कोई अपन द्वारा दी गयी या दूसरे के द्वारा दी गयी पृथ्वी को छीन लेता है उसे एक लाख गायो के मारने का पाप लगता है।"[6]

---

१ यो व्यतिक्रमेद्दायमिद निबद्ध गोघ्नो गुरुघ्नो द्विजघातक स।
तै पातकै पञ्चभिरन्वितोऽधर्गच्छेन्नर सोपनिपातकैश्च।। इण्डि० एण्टि० १८, पृ० २१८।

२ विन्ध्यटवीष्वनम्मसु शुष्ककोटरवासिन।
कृष्णाहिनो (हयो) हि जायन्ते देवदाय हरन्ति ये।। इपि० इण्डि० २०, पृ० ६१।

३ एवमवधृते योऽथ करोति स वध्य पञ्चभिर्महापातकै सोपपातकै सयुक्त स्यादपिच।
नास्य देवा न पितरो हवि पिण्ड समान्पयु।
छिन्नमस्तक वेताल अप्रतिष्ठ पतिष्यति।। विजयसेन का मल्लसरुल अभिलेख, इपि० इण्डि० १०, पृ० १, १३, पृ० ५६ और क्रमश।

४ तडित्तरगबहुला श्रिय मत्वा च मर्त्यानां।
न धर्म स्थितयस्सद्भि युक्ता लोके विलोपयितुम्।। वही।

५ सर्वसस्यसमृद्धा तु यो हरेत वसुन्धराम्।
श्वविष्ठाया कृमिर्भूत्वा पितृभिस्सह मज्जने।। फ्लीट सी० आई० आई० ख० ३, पृ० १२६ और क्रमश।

६ स्वदत्ता परदत्ता वा यो हरेत वसुन्धराम्।
गवा शतसहस्रस्य हन्तु प्राप्नोति किल्विषम्।। इपि० इण्डि० खण्ड १६, पृ० १८ और क्रमश।

"जो कोई इस शासन को न मानता हुआ इसमें तनिक भी बाधा पहुँचाये या पहुँचायेगा और ब्राह्मण उसकी शिकायत करे तो, वह दण्डित किया जायेगा।"[१]

"जो कोई अपनी दी हुई या दूसरे के द्वारा दी गयी पृथ्वी का हरण करता है वह (इस प्रकार) एक लाख गायों के मारने वाले के पाप का हरण करता है।'[२]

"इसका हरण करने वाला पाँच पातकों से युक्त होता है।

— — — — —

जो कोई अपने द्वारा दी गयी या दूसरे के द्वारा दी गयी पृथ्वी का हरण करता है, वह साठ हजार वर्ष घोर अन्धकार में वास करता है।"[३]

आशीर्वादात्मक श्लोकों की भाँति, ईसा की छठवीं और तेरहवीं शताब्दी के बीच के समय में इन अभिशापात्मक श्लोकों का स्वरूप स्थिर और दृढ हो जाता है। जो कुछ भी परिवर्तन दिखाई पडता है वह उद्धृत श्लोकों की संख्या, श्लोकों की शब्दावली तथा श्लोकों के उद्धरण क्रम में होता है। शापात्मक श्लोकों को गद्य में और कभी-कभी सम्बन्धित प्रदेश की जन-भाषा में व्यक्त करने तथा संक्षिप्त करने की प्रवृति भी गोचर होती है। शिलाहारों और यादवों के कुछ अभिलेखों में प्राचीन अभिशापात्मक श्लोक नहीं उद्धृत किये गये हैं। उनके अन्त में एक 'गर्दभाक्रोश' (ऐस-कर्म) कहलाने वाला एक अशिष्ट वाक्य होता है। कभी-कभी इस वाक्य के स्थान पर अभिलिखित कीर्तिपट्ट पर गधे की आकृति पायी जाती है।[४]

---

१ यश्चास्मच्छासनमगणयमानस्स्वल्पामप्यत्राबाधां कुर्यात् कारयीत (येत) वा तस्य ब्राह्मणवेदितस्य (ब्राह्मणैं) सदण्डनिग्रहं कुर्य्याम्। प्रभावती गुप्ता का पूना ताम्रपत्र अभिलेख, इपि० इण्डि० १५, पृ० ४१ और आगे।

२ स्वदत्तामन्यदत्तां वा यो हरेत वसुन्धरा। गवा शतसहस्रस्य हन्तुर्हरन्ति दुष्कृतम्॥ वही।

३ योऽस्य हर्ता स पञ्चमहापातकसंयुक्तो भवति।

— — — — — —

स्वदत्तां परदत्तां वा यो हरेत वसुन्धरा। षष्टिं वर्षसहस्राणि घोरे तमसि वर्तते॥ इपि० इण्डि० १४, पृ० ३३४ और आगे।

४ लूडर्स लिस्ट, स० २१५, बर्गेस तथा कासेन्स संशोधित लिस्ट स० २१२५३, ३२४, २५१।

६. समाप्ति

भारतीय लिपि ज्ञान के प्रारम्भिक इतिहास मे अन्त्यसूत्र बहुत समय तक निश्चित नही हुआ और बाद को भी, जब किसी सूत्र के साथ लेख को समाप्त करने की प्रथा न चल पडी, इसमे एकरूपता का अभाव था। अन्त अनेक प्रकार से किया जाता था। लेख की धार्मिक, नैतिक तथा व्यावहारिक महत्ता के अनुसार तथा लेखक की इसी प्रकार की अन्य प्रवृतियो के अनुसार अन्त मे भिन्नता आ जाती थी।

पिपरहवा-बौद्ध-भाण्ड-अभिलेख[1], महास्थान-प्रस्तरपट्ट-अभिलेख[2] तथा सोहगौरा-ताम्रपत्र-अभिलेख[3] छोटे लेख हैं तथा उनमे एक व्यवस्थित रूप से समाप्त करने का कोई लक्षण विद्यमान नही है। अशोक के अभिलेखो मे समाप्ति सम्बन्धी निम्नलिखित निर्णयात्मक उक्तियाँ विद्यमान है जो जानकर रखी गयी हैं तथा उनका वर्गीकरण सम्भव है

(क) आशीर्वादात्मक

(१) "पशुओ और मनुष्यो के उपभोग के लिए।"[4]
(२) " यह चिरस्थायी हो तथा मेरी सतति मेरा अनुवर्तन करे।"[5]
(३) "धर्मरति ही लोगो की रति हो।"[6]

(ख) प्रशसात्मक

(१) "दोनो लाभ हुए अर्थात् यहाँ भी कार्य सिद्ध हुआ और परलोक मे भी इस धर्म मगल के द्वारा अनन्त पुण्य प्राप्त हुआ।"[7]
(२) "यह इसका फल है—अपने सम्प्रदाय की वृद्धि और धर्म की उन्नति।"[8]

---

१ इण्डि० एण्टि०, खण्ड ३६, पृ० ११७ और आगे।
२ इपि० इण्डि०, खण्ड २१, पृ० ८५ और आगे।
३ वही, खण्ड २२, पृ० २।
४ प्रतिभोगाय पशुमनुसान। शि० ले० २।
५ चिरठितिक होतु मे प्रजा अनुवतन्तु। शि० ले० ५, ६।
६ स च ति रति भोतु य ध्रमरति। शि० ले० १३।
७ हिद च से अथ्र परत्र च अनत पुण प्रसवति तेन ध्रममगलने। शि०ले० ६।
८ इम च एतिस फल य आत्म पासड वढि च होति धमस च दीपना। शि० ले० १, २।

(ग) तिथि तथा कर्ता का निर्देश

(१) "राज्याभिषेक के १२ वर्ष बाद देवताओ के प्रिय प्रियदर्शी राजा ने यह लिखवाया।"[1]

(२) "राज्याभिषेक के बाद २६ वर्ष के अन्दर मैने २५ बार कारागार से लोगो को मुक्त किया है।"[2]

(३) "राज्याभिषेक के २७ वर्ष बाद मैने यह धर्मलिपि लिखवायी।"[3]

(घ) खोदनेवाले का नामोल्लेख

"लिपिकर पड के द्वारा यह लिखा गया।"[4]

(ङ) घोषणात्मक

(१) "अनुशासन किया गया।"[5]

(२) "ऐसे देवो के प्रिय आज्ञा करते है।"[6]

अशोक के अभिलेखो मे समाप्त करने की कोई नियमित पद्धति नही थी, किन्तु ऊपर के उदाहरणो से यह देखा जा सकता है कि अशोक के अभिलेखो मे समाप्ति विषयक सूत्रो का बीज विद्यमान था जिसका बाद मे विकास हुआ।

शुङ्गकाल के बेसनगर गरुड स्तम्भ अभिलेख के अन्त मे एक नैतिक उपदेश है, जिसका अभिलेख की अन्तर्वस्तु से घनिष्ठ सम्बन्ध नही है —

"तीन अमृत पदो का सम्यक् अनुष्ठान स्वर्ग ले जाता है, वे है—दम (आत्मसयम), चग (त्याग) और अप्रमाद।[7]"

इण्डोग्रीको, शको तथा कुषाणो के अभिलेखो का एक अलग ही वर्ग है। उनकी समाप्ति मे निम्नलिखित तत्त्व रहते है

---

१ द्वादसवसाभिसितेन देवान पियेन प्रियदसिना राजा इद लेखापित। शि० ले० ४।

२ सडुविसति वसाभिसित स मे एताये अतलिकाये पनवीसति बधन मोखानि कटानि। स्तम्भ ले० ५।

३ सतविसतिवसाभिसितेन मे इय धमलिबि लिखापापिताति। स्त० ले० ७।

४ पडेन लिखित लिपिकरेण। ब्रह्मगिरि का लघु शिला लेख।

५ सावने कटे। रूपनाथ का लघु शिला लेख।

६ हेव देवान पिये आनपयति। येर्रगुडी का लघु शिला लेख।

७ त्रिनि अमुत-पदानि इअ सु-अनुठितानि।
नेयति स्वग दम चाग अप्रमाद॥ आर्क स० इं० ए० रि० १९०८-०९, पृ० १२६।

(क) लिखने (खोदने) वाले का नाम

(१) "विश्पिल के द्वारा लिखा गया, जिसे (ऐसा करने की) आज्ञा दी गयी।"[1]

(२) "महिफति के द्वारा लिखा गया।"[2]

(३) "मधु के द्वारा लिखा गया।"[3]

(ख) नवकर्मिक का नाम

(१) "खलशमुश नवकर्मिक।"[4]

(२) "नवकर्मिक बुधिल के द्वारा ।"[5]

(ग) कर्ताओं का नाम

(१) "चुक्स के क्षत्रप जिहोणिक का ।"[6]

(२) "महाक्षत्रप खरपल्लान के साथ क्षत्रप वनष्पर के द्वारा।"[7]

(घ) शुभ कामना

(१) "वहुत लोगों के कल्याण के लिए।"[8]

(२) "माता और पिता के सत्कार के लिए।"[9]

(३) "निर्वाण की प्राप्ति के लिए हो।"[10]

(४) "यह सम्पूर्ण परित्याग के लिए हो।"[11]

(५) "सभी प्राणियों के कल्याण और सुख के लिए हो।"[12]

---

१ विश्पिलेन अणकतेन। इपि० इण्डि० खण्ड २४, पृ० ७।

२ लिखिद् महिफतिएन। वही खण्ड १८ पृ० १५ और आगे।

३ इमो च लिखितो मधु। वही १४, पृ० १४३।

४ खलशमुश (इति नवकर्मिक) । वही ६, पृ० १४१ और आगे।

५ सघ वुद्धिलेन नवकर्मिगेण। कोनो सी० आई० आई०, खण्ड २, पृ० १४६ और आगे।

६ जिहोणिकस चुक्सस क्षेत्रपस। वही पृ० ८२।

७ महाक्षत्रपेन खरपल्लानेन सहा क्षत्रपेन वनष्परेण। इ० इ०, खण्ड ८, पृ० १७३ और वाद।

८ बहुजन हिताय। कोनो सी० आई० आई०, खण्ड २, पृ० ४।

९ मदु पिदु पूअए। इपि० इण्डि०, खण्ड १८, पृ० २८२।

१० णिवणस प्रतिअए होतु। वही, खण्ड २१, पृ० २५६।

११ होतु अयदे सम परिचगो। वही, खण्ड १४, पृ० २९५।

१२ सर्व सत्वन हिता सुखार्त्थ। वही, खण्ड ८, पृ० १७३ और आगे।

(ङ) समर्पण

(१) "सर्वास्तिवादी आचार्यों के लिए"[1]

(२) "मवुरिक का धर्मदान"[2]

(३) "महासाघिक सम्प्रदाय के आचार्यों के लिए समर्पित"[3]

महाराष्ट्र के क्षहरातो, उज्जयनी के क्षत्रपो, सातवाहनो, कलिग के ऐलो तथा आन्ध्रदेश के इक्ष्वाकुओ के अभिलेखो का समाप्ति विषयक सिद्धान्त निम्नवर्गो मे आता है

(क) समर्पण और तिथि

(१) "४१वे वर्ष के कार्तिक मास के शुक्लपक्ष के पन्द्रहवे (दिन) उसके द्वारा देवो और ब्राह्मणो के लिए पुन दिया गया।"[4]

(२) "यह धर्मदान ४६वें वर्ष किया गया।"[5]

(३) "सवत्सर १०+८ के वर्षा मास के द्वितीय पक्ष के प्रथम दिवस पट्टिका दी गयी।"[6]

(ख) शुभकामना और तिथि

(१) "स० २००+१ कल्याण हो।"[7]

(२) "सभी लोगो के कल्याण और सुख की प्राप्ति के लिए यह स्तम्भ स्थापित किया गया। राजा श्री वीरपुरुपदत्त का स० ६, वर्षा पक्ष ६ (आश्विन का शुक्लपक्ष) दिवस १०।"[8]

---

१ आचार्य्याणा सर्वास्तिवादिना परिग्रहे। इपि० इण्डि० खण्ड ९, पृ० २९।
२ मवुरिक ण देयधर्म। वही खण्ड २, पृ० ३६९-७०।
३ अचर्यण महसन्घिगण परिग्रह। वही खण्ड ११, पृ० २१ और आगे।
४ भूयोनेन दत वसे ४०+१ कातिक शुधेपनरस-देवान ब्राह्मणान च। इपि० इण्डि० खण्ड ८, पृ० ८२ और आगे।
५ देयधम वसे ४०+६ कतो। आर्क० स० वे० ई० खण्ड ४, पृ० १०३।
६ दत्ता पटिका सवछरे १०+८ वासपखे २ दिवसे १। इपि० इण्डि० ख० ८, पृ० ७१ पाद टिप्पणी।
७ २००+१ [स्वस्त्यस्तु] इपि० इण्डि० खण्ड १६, पृ० २३२।
८ सव-लोक-हित-सुखावहथनाय च इम खभ पतिथपित ति। रञो सिरिवीरपुरिसदतस सव ६ वा प ६ दि १०॥ इपि० इण्डि० खण्ड २०, पृ० १६।

(३) "राजा श्री वीरपुरुषदत्त के सवत् १८, हेमन्त पक्ष ६, दिवस ५। सभी प्राणियो के कल्याण और सुख के लिए हो।"[1]

(ग) समर्पण

(१) "इससे (वृद्धि से) मेरे गुहाओ में बसने वाले, चारो दिशाओ से आने वाले भिक्षु सघ का मुख्य आहार होगा।"[2]

(२) "यह गुहा-निवास दक्षमित्रा का धर्मदान।"[3]

(३) "श्रावण मे (इस गुहा मे) निवास करने वालो के लिए करजिक ग्राम दिया गया।"[4]

(४) "चारो दिशाओ से आये हुए भिक्षुओ के सघ को आवास दिया गया।"[5]

(घ) शुभ कामना

(१) स्वामी के धर्म, कीर्ति और यश को बढाने वाले के द्वारा अनुष्ठित हुआ।"[6]

(२) "सभी प्राणियो के हित और सुख के लिए यह तालाब खुदवाया और बँधवाया गया।"[7]

(३) "स्वर्ग के सुख के लिए यह स्तम्भ खडा किया गया।"[8]

(ङ) प्रशस्ति और शुभकामना

"राजर्षि वसु के कुल मे उत्पन्न महाविजयी राजा श्री खारवेल क्षेमराज, वृद्धिराज, धर्मराज है, कल्याणो का देखनेवाला, सुननेवाला तथा

---

१ रञो सिरि वीर पुरिसदतस सवछर अठारस० १०+८ हेमन्त पख छठ ६ दिवस पचम ५। सव सतान हिताय सुखाय होतु ति। वही पृ० २१।

२ एतो मम लेने वसतान चातुदसिस भिखुसघस मुखाहारो भवीमती। इपि० इण्डि०, खण्ड ८, पृ० ७८ स० १०।

३ दखमित्राय देयधम ओवरको। इपि० इण्डि०, खण्ड ७, पृ० ८१, स० ११।

४ गामो करजिको दत्तो सवान वास-वासितान। इपि० इण्डि०, खण्ड ८, पृ० ५७, स० १३।

५ चातुदिसस च भिखुसघस आवासो दतो ति। इपि० इण्डि०, खड ८, पृ० ९४, स० २४।

६ धर्म-कीर्ति-यशासि भर्तुरभिवर्द्धयतानुष्ठितमिति। वही पृ०४२ और आगे।

७ वापी खानिता वन्धापिता च सर्वसत्त्वाना हित सुखार्थमिति। इपि० इण्डि०, खड १६, पृ० २३५।

८ इद शान्य उत्थावित स्वर्गसुखार्थ। इपि० इण्डि० १६, पृ० २३८।

अनुभव करने वाला है, विशेषगुणों में कुशल सभी धार्मिक सम्प्रदायों का पूजनेवाला, सभी देवों के मन्दिरों का पुनर्निमाण करानेवाला, अनवरुद्ध गतिवाली सेना का स्वामी, चक्रधारी सुरक्षित चक्रवाला तथा चक्रवर्ती हो।"[1]

(च) तिथि

(१) "राजा श्री वीर पुरुषदत्त के संवत् ६ के छठे वर्षापक्ष (आश्विन के शुक्लपक्ष) के छठे दिवस।"[2]

(२) वासिष्ठी पुत्र इक्ष्वाकु श्री एहुवुल शांतमूल के द्वितीय संवत्सर ग्रीष्म के छठे पक्ष के दसवें दिन।"[3]

(७) कर्ता, उत्कीर्णक अथवा स्थपति का नाम

(१) "सिहल के पुत्र मदन के द्वारा यह प्रस्तर-लष्टि खड़ी की गयी।"[4]

(२) "श्रमण ज्येष्टदत्त के द्वारा लष्टि खड़ी की गयी।"[5]

(३) "तापस के द्वारा खोदा गया।"[6]

(४) "नवकर्मिक चंदमुख थेर धम्मनंदि थेर तथा नम थेर के द्वारा यह नवकर्म आयोजित था। यह शैल शिल्पी विधिक का काम है।"[7]

भारतीय इतिहास में मौर्य और गुप्त कालों के बीच किसी लेख की समाप्ति अक्रमबद्ध नहीं थी, उसे एकरूपता और पूर्णता प्राप्त थी, जिसका उत्तरकाल में

---

१ खेमराजा स वढराज स भिखुराजा पसंतो सुनतो अनुभवतो कलानानि गुणविशेषकुसलो सव-पाषंड-पूजको सवदेवायतन-संकार-कारको अपतिहत-चक-वाहनयानवलो चकधरा गुतचको पवतचको राजसि-वसु-कुल विनिश्रितो महाविजयो राजा खारवेल सिरि। इपि० इण्डि०, खण्ड २०, पृ० ७२ और आगे।

२ रञा सिरि विरपुरिसदतस सव ६ वाप ६ दि १०। इपि० इण्डि०, खंड २०, पृ० १६ और आगे।

३ रञा वासिठी-पुतस इखाकून सिरि एहुवुल-चतमूलस सवच्छर वितिर गिम्ह-पखस छठ ६ दिवस दसम १०। इपि० इण्डि०, खंड २१, पृ० ६२।

४ मदनेन सिहिलपुतेन लष्टि उथापिता। इपि० इण्डि०, खण्ड १६, पृ० २३ और आगे सं० ३।

५ ज्येष्टदतेन श्रामणेरेन लष्टि उथापित। वही, सं० ४।

६ तापसेन कटा। इपि० इण्डि०, खण्ड ८, पृ० ७१, सं० ४।

७ इम नव कम तिहि नवकम तिहि नवकम केहि कारित चंदमुखथेरेन च धमनंदियथेरेन च नयथेरेन च। सेल-वढाकिस विधिकस कम ति। इपि० इण्डि०, खण्ड २०, पृ० २२।

अनुसरण किया गया और जिसे अधिक विकसित और विस्तृत किया गया। सभी समाप्ति विषयक सूत्रो मे 'स्वस्त्यस्तु' सबसे अधिक आशामूलक था, क्योकि भारतीय इतिहास के बाद के काल मे यह बहुत प्रचलित हुआ। यह आशीर्वादात्मक था किन्तु बाद मे इसे रहस्यमय महत्ता प्राप्त हुई। प्रारम्भिक और अन्तिम दोनो ही सूत्रो के रूप मे इसका प्रयोग हुआ।

ईसा की चौथी और छठी शताब्दी के बीच के लिपिशास्त्र से सम्बन्धित लेख, जिनमे अधिकाश का सम्बन्ध गुप्त, वाकाटक, पल्लव, कदम्ब, गग तथा अन्य छोटे राजवशो से है, समाप्ति के उतने ही प्रकार प्रदर्शित करते हैं जितना कि पूर्वकाल के अभिलेख। दोनो मे अन्तर केवल इतना ही है कि इनके अन्त के स्वरूप पर धर्मशास्त्र, व्यवहार तथा पौराणिक एव महाकाव्य साहित्यिक ग्रथो का अधिक प्रभाव दृष्टिगोचर होता है। वे बौद्ध और जैन धर्मो की तुलना मे हिन्दू धर्म के बढते हुए प्रभाव को भी लक्षित करते है। यह भी निर्देश्य है कि पहले के लेखो की अपेक्षा इनमे तिथि, रचयिता या लेखक, अनुष्ठाता, खोदने वाले, अभिकर्ता इत्यादि का उल्लेख अधिक मात्रा मे हुआ है। समाप्ति के प्रकारो का वर्गीकरण इस प्रकार है

(क) लेखक, अनुष्ठाता, उत्कीर्णक तथा अभिकर्ता आदि के नाम

(१) " सान्धिविग्रहिक कुमारामात्य महादण्डनायक हरिषेण का . यह काव्य हो तथा यह परमभट्टारक (=सम्राट) के चरणो का अनुस्मरण करने वाले महादण्डनायक तिलभट्टक के द्वारा अनुष्ठित हुआ।"[1]

(२) "ईश्वर दास के द्वारा उत्कीर्ण की (खोदी) गई।"[2]

(३) "दूतक शुभदत्त। सान्धिविग्रहिक भोगचन्द्र के द्वारा लिखा गया। पुस्तपाल जयदास के द्वारा तप्त किया गया।"[3]

---

१ एतच्च काव्य सान्धिविग्रहिक-कुमारामात्य-महादण्डनायक-हरिषेणस्य अनुष्ठित च परमभट्टारक-पादानुध्यातेन महादण्डनायक-तिलभट्टकेन। फ्लीट सी० आई० आई० खण्ड ३, पृ० ६ और आगे।

२ उत्कीर्णाईश्वरदासेन। इपि० इण्डि० खण्ड २४, पृ० ३४७ और आगे।

३ दूतक शुभदत्तो लिखित सान्धिविग्रहिक-भोगचन्द्रेण। तापित पुस्तपाल-जयदासेन। इपि० इण्डि० खण्ड २३, पृ० १५६ और आगे।

११

(४) "कक्क पुत्र वामुल के द्वारा श्लोक रचे गये तथा गोविन्द के द्वारा उत्कीर्ण किये गये।"[१]

(५) "चन्द्रदास के द्वारा उट्टंकित।"[२]

(६) "दूतक देवानन्द स्वामी। प्रभुसिंह के द्वारा लिखा गया।"[३]

(७) "यह ताम्रपट्टिका सुवर्णकार के श्रेष्ठ पुत्र अपाप के द्वारा लिखी गई।"[४]

(८) "महाराज के सान्धिविग्रहिक देवसिंह देव के द्वारा यह लिखा गया।"[५]

(ञ) तिथि

(१) "महाराज श्री कुमारगुप्त के शासनकाल मे (राज्ये) स० १००+२०+८, ज्येष्ठ मास के १८वें दिन।"[६]

(२) "स० १००+८०+८ पौष मास दिवस १०+८।"[७]

(३) "स० १००+२०+८ माघ मास दिवस १०+६।"[८]

(४) "सेनापति चित्रवर्मन् के १०+८वें सवत् के ज्येष्ठ मास की त्रयोदशी को यह शासन लिखा गया।"[९]

---

१ वामुलेनोपरचिता श्लोका कक्कस्य सूनुना उत्कीर्णा गोविन्देन। फ्लीट : सी० आई० आई० खण्ड ३, पृ० १४६ और आगे।

२ चन्द्रदासेनोत्कट्टितम्। इपि० इण्डि० खण्ड १५, पृ० ४१ और आगे।

३ दु (दू) तक देवनन्द स्वामी। लीखिता (लिखिता) प्रभुसिङ्ह (सिंहे) न। जर्नल ऑफ दि रॉयल एसियाटिक सोसायटी ऑफ बंगाल, न्यू सीरीज कलकत्ता, खण्ड २०, पृ० ५८ और आगे।

४ सुवर्णकार-आर्य-पुत्रेण अपापेन लिखितेयन्ताम्रपट्टिका। इपि० इण्डि० १४, पृ० ३३४।

५ लिखितमिद महाराजो सान्धिविग्रहिक-देवसिंहदेवेनेति। इपि० इण्डि० २५, पृ० २८६।

६ सम्वत् १००+२०+८ महाराज श्री कुमारगुप्तस्य राज्ये ज्येष्ठमास दि १०+८। फ्लीट सी० आई० आई०, खण्ड ३, पृ० ४६ और आगे।

७ स० १००+८०+८ पौष्य (पौष) दि २०+४। इण्डि० हिस्टा० क्वा० ५, ५३ और आगे।

८ स० १००+२०+८ माघ दि १०+६। इपि० इण्डि० २१, पृ० ८१ और आगे।

९ सेनापतौ चित्रवर्मणि सवत्सरे दृष्टादश १०+८ ज्येष्ठमास-शुक्लपक्ष-त्रयोदश्या शासन लिखित मिति। फ्लीट सी० आई० आई० खण्ड ३, पृ० २३६ और आगे।

(५) "प्रवर्धमान स० ३०+६ वैशाख मास दिवस २०+१।"[1]

(ग) शुभ कामना

(१) "इति सुदर्शन तटाक के सस्कार सम्बन्धी काव्यात्मक रचना समाप्त हुई।"[2]

(२) "माता-पिता, गुरु और पूर्वजो के साथ इस पुण्य के द्वारा यह सात्त्विक काया वाला अभीप्सित शान्ति का लाभ करे।"[3]

(३) "इस प्रतिमा की स्थापना कराने से मुझे जो पुण्य हुआ है वह मातापिता गुरुजनो तथा सभी लोगो के लाभ के लिए हो।"[4]

(४) "गो, ब्राह्मण सभी प्रमुख जीवो का कल्याण हो।"[5]

(५) "जब तक सागरो मे रत्न है, पृथ्वी अनेक प्रकार के गुल्मो, वृक्षो, वनो एव पर्वतो से युक्त है और तारागणो से युक्त चन्द्रमा आकाश को प्रकाशित करता है, तव तक श्रीमयूराक्ष की विपुल कीर्ति सिद्ध हो।"[6]

---

१ प्रवर्द्धमान स० ३०+६ वैशाख दि० २०+१। इपि०इण्डि०, खण्ड २५, पृ० २८६ और आगे।

२ (इति) (सुद)र्शनन-तटाक-सस्कार-ग्रथरचना (स) माप्ता। फ्लीट सी० आई० आई०, खण्ड ३, पृ० ५८ और आगे।

३ मातृ-पितृ-गुरु-पूर्वै पुण्येनानेन सत्वकायोऽ्य।
लभतामभिमतमुपशम — — — — —
आर्के० सर्वे० इण्डिया एन्युअल रिपोर्ट १९१४-१५, पृ० १२४।

४ यदत्र पुण्य प्रतिमा कारयित्वा मया भृतम्।
मातापित्रोर्गुरुणा च लोकस्य च समाप्तये।। वही पृ० १२५-२६।

५ स्वस्त्यस्तु गो-ब्राह्मण-पुरोगाभ्य सर्व्वप्रजाभ्य इति। फ्लीट सी० आई० आई०, खण्ड ३, पृ० ८९।

६ यावच्च
सागरा रत्नवन्तो।
नानागुल्मद्रुम-वनवती यावदुर्वी सशैल।।
यावच्चेन्दुर्ग्रहाण-चित व्योम भासी करोति।
तावत्कीतिभवतु विपुला श्रीमयूराक्षकस्य।।इति।। सिद्धिरस्तु।।
फ्लीट सी० आई० आई०, खण्ड ३, पृ० ७४ और आगे।

(६) "और संसार भी सभी प्रकार के दोषो से मुक्त हो जाने से श्रेष्ठ शान्त, निर्व्याधि और शोकमुक्त पद मे प्रवेश करे।"[1]

(७) "गाय, ब्राह्मण, लेखक तथा वाचक का कल्याण हो।"[2]

(ख) समर्पण

(१) "इस राजा के द्वारा भक्तिभाव से (भगवान) विष्णु मे अपने ध्यान को लगाकर, विष्णुपद पर्वत पर भगवान् विष्णु का यह प्रांशु-ध्वज स्थापित किया गया।"[3]

(२) "यह देव मन्दिर का द्वार आर्या के द्वारा दान किया गया।"[4]

(ग) प्रशंसा

(१) "अनेक लोगो के द्वारा भूमि दी गयी है तथा बार बार दी जायगी। जिसकी-जिसकी जब भूमि होती है, उसको तब फल होता है।"[5]

(२) "अपने पति मे भक्ति और अनुरक्ति वाली पति की प्रिया सुन्दरी पत्नी, अपने पति के साथ ही अग्निराशि मे प्रवेश कर गई।"[6]

---

१ जगदपि च समस्त-ध्वस्त-दोष-प्रहाणाद्विशतु पदमशोक निर्ज्वर शान्त-मार्यं। इण्डियन कल्चर, खण्ड ७, पृ० ३७२।

२ स्वस्ति गो-ब्राह्मण-लेखक-वाचक-श्रोतृभ्य इति। इपि०इण्डि० खण्ड १, पृ० ५ और आगे।

३ तेनायं प्रणिधाय भूमिपतिना भावेन विष्णौ मतिं।
प्रांशुर्विष्णुपदे गिरौ भगवतो विष्णोर्ध्वज स्थापित ॥
फ्लीट सी० आई० आई० खण्ड ३, पृ० १४१।

४ दत्ता आर्याया देवद्वार। इपि० इण्डि०, खण्ड १८, पृ० १६०।

५ बहुभिर्वसुधा दत्ता दीयते च पुन पुन ।
यस्य यस्य यदा भूमिस्तस्य तस्य तदा फलम् ॥ इपि० इण्डि०, खण्ड १५, पृ० १३२ और आगे।
द्रष्टव्य इपि० इण्डि०, खण्ड १५, पृ० १३८। फ्लीट सी० आई० आई०, खण्ड ३, पृ० ११४ और आगे।

६ भक्तानुरक्ता च प्रिया च कान्ता। भार्यावलग्नानुगताग्निराशिम् ॥
फ्लीट सी० आई० आई०, खण्ड ३, पृ० ९२ और आगे।

(च) चेतावनी या अभिशाप

(१) "अपनी दी हुई या दूसरे की दी हुई भूमि को जो हरण करता है वह अपने पितरो के साथ विष्ठा मे कीडा होकर दु ख भोगता है।"[१]

(२) "जो कोई इस सम्पन्न दाय का व्यतिक्रमण करता है, वह गाय का हत्यारा है, गुरु का हत्यारा है, ब्राह्मण का हत्यारा है।"[२]

(३) "(भूमिदान मे) हस्तक्षेप करने वाला तथा उसका अनुमोदक समान काल तक नरक मे रहते है।"[३]

(छ) राजानुशासन या राजाज्ञा

(१) "निज की आज्ञा।"[४]

(२) "निज की आज्ञा।"[५]

(३) "आज्ञा।"[६]

ईसा की सातवी शताब्दी से आगे ताम्रपत्रो मे समाप्ति का विकास हुआ जिसमे "महाराजाधिराज श्री 'अमुक' का मेरा अपना हस्त (हस्ताक्षर)"[७] भी लिखा जाता था। अन्य प्रकार के अभिलेख गुप्त और वाकाटक अभिलेखो द्वारा प्रस्तुत रूप का ही अनुसरण करते हैं। उदाहरणार्थ चालुक्यो का एक लेख आशीर्वादात्मक प्रशस्ति मे समाप्त होता है।

वे रविकीर्ति जिन्होने विवेकपूर्वक दृढ पाषाण निर्मित जिनवेश्म को नवकाव्य

---

१ स्वदत्ता परदत्ता वा यो हरेत् वसुन्धरा।
स विष्ठाया कृमिर्भूत्वा पितृभिस्सह पच्यते ।। इपि० इण्डि० खण्ड १५, पृ० १३० और आगे।

२. यो व्यतिक्रमेद्दायमिम निबद्ध गोघ्नो गुरुघ्नो द्विजघातक स । इत्यादि। फ्लीट सी० आई० आई०, खण्ड ३, पृ० ७० और आगे।

३ आक्षेप्ता चानुमन्ता च तान्येव नरके वसेदिति। इपि० इण्डि० खण्ड १५, पृ० १३५ और आगे। वही, पृ० १४२ और आगे।

४ स्वयमाज्ञा। इपि० इण्डि०, खण्ड १६, पृ० १८ और आगे।

५ आज्ञाप्ति स्वयम्। इपि० इण्डि०, खण्ड ६, पृ० ८६ और आगे।

६ आज्ञाप्ति । इपि० इण्डि०, खण्ड १, पृ० २, स० २।

७ तुलनीय, स्वहस्तो मम महाराजधिराज-श्रीहर्षस्य। इपि०इण्डि०, खण्ड ४, पृ० २०८।

के निर्माण हेतु नियोजित किया और काव्य के क्षेत्र मे कालिदास और भारवि की कीर्ति को प्राप्त किया, विजयी हो।[1]

पूर्वमध्यकालीन उत्तरी और दक्षिणी भारत के प्रारम्भिक अभिलेखो मे समाप्ति के उस स्वरूप के अतिरिक्त जिसका विवेचन हो चुका है—किसी नवीन और महत्त्वपूर्ण समाप्ति-स्वरूप के वर्णन नही होते। केवल "श्री" की आवृत्ति,[2] मंगल,[3] मंगल महाश्री[4] या मंगलश्री[5] सूत्रो का उदय, नये साम्प्रदायिक देवताओं की स्तुति और नमस्कार, जैसे 'श्रीगोपीनाथ को नमस्कार'[6] मे ही नवीनता गोचर होती है। यह विशुद्ध एव व्यावहारिक साहित्य के अनुकरण और मन्थन का युग था। लिपि सम्बन्धी लेखो मे भी यह सत्य प्रतिबिम्बित होता है।

---

1 स विजयता रविकीर्ति कविताश्रितकालिदासभारविकीर्ति । इपि० इण्डि० खण्ड ६, पृ० १ ।
2 मंगल महाश्री श्री श्री । कल्याण के पश्चिमी चालुक्य जयसिंह का मिरज पट्ट । इण्डि० एण्टि०, पृ० १८ ।
3 इपि० इण्डि०, खण्ड ६, पृ० १४१ ।
4 लूडर्स लिस्ट, न० १५१, १५२, १६२, १६८, १७५ इत्यादि ।
5 [illegible] पट्ट, ११६६ ई० । इपि० इण्डि०, खण्ड ४, पृ० १५३ ।
6 श्री गोपीनाथाय नम । लूडर्स लिस्ट न० ३३२ ।

दशम अध्याय

तिथि-अंकन की विधि तथा व्यवहृत सम्वत्

लेखन के प्रारम्भिक इतिहास मे तिथि-अकन की किसी नियमित विधि का प्रयोग नही हुआ। भारत मे प्राप्त, पढे गये प्राचीनतम अभिलेख तिथि-रहित है। अशोक के समय तक तिथि डालने की पद्धति का व्यापक प्रचार नही था। अशोक के अधिकाश अभिलेखो मे तिथि नही है।[1] इस विधि के परिचय के बाद भी लेखो का तिथि-अकन सर्वव्यापक नही बना। अधिकाश अभिलेख लोगो की व्यक्तिगत कृतियाँ है। उनमे से वहुतेरे तिथि-रहित है। आधिकरणिक अभिलेखो का भी वर्ग पर्याप्त विस्तृत है, किन्तु इस वर्ग के लिए भी तिथि-अकन अनिवार्य नही था। तिथि निर्देश का व्यापक प्रचार ईसा की दूसरी शताब्दी से प्रारम्भ हुआ और भारतीय सवतो के प्रयोग के साथ इसकी वृद्धि होती गई। नीचे, सक्षेप मे तिथि-अकन विधि तथा व्यवहृत सवतो के विवेचन का प्रयास किया गया है।

१. प्राक्-मौर्य अभिलेख

सिन्धुघाटी की मुद्राओ और ताबीजो पर के अभिलेखो, जिन्हें अब तक पढा नही जा सका है, के तिथियुक्त होने की सम्भावना नही की जा सकती, क्योकि वे आशिक है। एक लम्बे अन्तराल के बाद बाडली-स्तम्भ-अभिलेख[2] और पिपरहवा भाण्ड-अभिलेख[3] प्राप्त होते हैं, जिनका समय मौर्यकाल के पूर्व ठहराया जाता है।[4] इनमे केवल प्रथम तिथियुक्त है, जिसमें केवल दो पक्तियाँ हैं—प्रथम पक्ति मे 'विराय भगवत' और दूसरी मे 'चतुरासिति वस' खुदा हुआ है। दूसरी पक्ति मे तिथि-अकन है जिसका अभिप्राय है "चौरासी वर्ष"। म० म० प० गौरी-

---

१ वाडली अभिलेख तिथियुक्त है—महावीर स०८४—यह अपवाद है। दृष्टव्य–राजपूताना सग्रहालय, ओझा, प्राचीन लिपिमाला, पृ० २।

२ वही।

३ जे० आर० ए० एस०, १८६८, पृ० ३८६८।

४ दृष्टव्य—ओझा, प्राचीन लिपिमाला पृ० २-३।

गौरी शंकर हीराचन्द ओझा के अनुसार इस वर्ष का सम्बन्ध वीरनिर्वाण सवत् (जैन तीर्थंकर महावीर के निर्वाण से प्रारम्भ) से है।[1]

२. महावीर सम्वत् अथवा वीरनिर्वाण सम्वत्

वीरनिर्वाण सवत् या महावीर सवत् का प्रयोग विशिष्टत जैन हस्तलिखित ग्रन्थों मे हुआ है, अभिलेखों मे इसका प्रयोग विरल है। श्वेताम्बर लेखक मेरुतुग मुनि अपने ग्रन्थ 'विचार श्रेणि' मे लिखते है कि महावीर स० और विक्रम सवत् मे ४७० वर्ष का अन्तर है।[2] इस कथन के अनुसार महावीर सवत् का प्रारम्भ ५७+४७०=५२७ ई० पू० मे हुआ। नेमिचन्द्राचार्य का 'महावीर चरियम्' एक अन्य जैन ग्रंथ है जो इस कथन की पुष्टि करता है। इसका कथन है कि "मेरे (महावीर) निर्वाण के ६०५ वर्ष और पांच महीने बाद शक राजा का जन्म होगा।"[3] गणना करने पर महावीर सवत् के प्रारम्भ की वही तिथि, ५२७ (=६०५—७८) ई० पू० प्राप्त होती है। दिगम्बर लेखक नेमिचन्द्र अपनी कृति 'त्रिलोकसार' मे उपरिनिर्दिष्ट अनुश्रुति का समर्थन करते है।[4]

महावीर सवत् की प्रारम्भ-विषयक कुछ दिगम्बर-अनुश्रुतियाँ भ्रममूलक है। 'त्रिलोकसार' की व्याख्या करते हुए माधवचन्द्र ने सगराज (=शकराज) की पहचान विक्रमार्क से की है तथा महावीर सवत् का प्रारम्भ ५७+६०५=६६२ ई०पू० से।[5] यह पहचान पूर्णत अशुद्ध है, किन्तु इस सम्प्रदाय के बाद के लेखकों ने इसी का अनुसरण किया है। वीरनिर्वाण सवत् के प्रारम्भ-विषयक परवर्ती जैन-अनुश्रुतियां पूर्णत अविश्वसनीय है, क्योंकि इनके अनुसार महावीर के निर्वाण तथा शक सवत् का अन्तर ४६१ वर्ष, ९७९५ वर्ष और कभी-कभी १४७९३ वर्ष है।[6]

---

1 ओझा, प्राचीन लिपिमाला।

2 विक्कमरज्जारंभा परओ सिरिवीरनिव्वुई भणिया।
सुन्नमुणिवेयजुत्तो विक्कमकालाउ जिणकालो॥ विचारश्रेणी

3 छहिं वासाण सएहिं पंचहिं वासेहिं पंच मासेहिं।
मम निव्वाणगयस्स उ उप्पज्जिस्सइ सगो राया॥ महावीरचरियम्

4 पणछस्सयवस्सं पणमासजुदं गमिय वीरनिव्वुइदो सगराजो। श्लोक सं० ८४८।

5 श्री वीरनाथनिर्वृतेः सकाशात् पञ्चोत्तरषट्शतवर्षाणि पञ्चमासयुतानि गत्वा पश्चात् विक्रमांक शकराजोऽजायत। श्लोक ८४८ पर व्याख्या।

6 त्रिलोक-प्रज्ञप्ति, जैन-हितैषी, १३, १२ दिसम्बर १९१७ ई०, पृ० ५३३।

अन्तिम दो स्पष्टत निरर्थक है। इन परम्पराओ पर विश्वास नही किया जा सकता है।

३ मौर्य अभिलेख

अब तक मौर्य वश के दो प्रारम्भिक सम्राटो—चन्द्रगुप्त और बिन्दुसार का कोई अभिलेख प्राप्त नही हुआ है। इस वश के तीसरे शासक अशोक ने धार्मिक प्रेरणा के अन्तर्गत तमाम अनुशासन अकित करवाये। उसके पौत्र दशरथ ने भी कुछ तिथि युक्त अभिलेखो को लिखवाया। तिथि युक्त अभिलेखो में नीचे के अश तिथ्याङ्कन-विधि को स्पष्ट करते है[1]

सम्बन्ध	पाली मूल	हिन्दी अनुवाद
(१) शि० ले० ३	द्वादस वसाभिसितेन मया इद आनपित।	बारह वर्ष पूर्व अभिषिक्त मेरे द्वारा ऐमी आज्ञा दी गई।
(२) शि० ले० ४	द्वादस वसाभिसितेन देवान पियेन राजा इद लेखापित।	बारह वर्ष मे अभिसिक्त देवो के प्रिय प्रियदर्शी राजा के द्वारा यह लिखाया गया।
(३) शि० ले० ५	त्रेदश वपभिसितेन मय ध्रम महमत्र कट।	तेरह वर्ष पूर्व अभिसिक्त मेरे द्वारा धर्ममहामात्र किये गये।
(४) शि० ले० ८	देवान पियो पियदसि राजा दसवसाभिसितो सतो अयाय सबोधि।	दश वर्ष पूर्व अभिसिक्त देवो के प्रिय प्रियदर्शी राजा ने सबोधि की यात्रा की।
(५) शि० ले० १३	अठवपाभितषा देवान पियष पिस्रदसिने लाजिने कलिग्या विजिता।	आठ वर्ष पूर्व अभिसिक्त देवो के प्रियदर्शी राजा के द्वारा कलिग जीता गया।

१ विशेष हुल्श, कार्पस, इन्स० इण्डि०, खण्ड १।

सम्बन्ध	पाली मूल	हिन्दी अनुवाद
(६) स्त० ले० १ तथा ४	सडु-वीसति-वस-अभिसितेन मे इय धमलिपि लिखापिता।	छब्बीस वर्ष पूर्व अभिषिक्त मेरे द्वारा यह धर्मलिपि लिखवायी गयी।
(७) स्त० ले० ५	सडु-वीसति-वस-अभिसितेन मे इमानि पि जातानि अवध्यानि कटानि।	छब्बीस वर्ष पूर्व अभिषिक्त मेरे द्वारा यह जीव भी अवध्य किये गये।
(८) स्त० ले० ६	दुआडस - वसाभिसितेन मे इय धमलिवि लिखापापिता ति।	बारह वर्ष पूर्व अभिषिक्त मेरे द्वारा यह धर्मलिपि लिखवायी गयी।
(९) स्त० ले० ७	सत-विसति-वसाभिसितेन मे इय धमलिवि लिखापापिता ति।	सत्ताईस वर्ष पूर्व अभिषिक्त मेरे द्वारा यह धर्मलिपि लिखवायी गयी।
(१०) लघु स्त० ले० (रुम्मिनदेई)	देवान पियेन पियदसिन लाजिन वीसति-वसाभिसितेन अतन आगाच महीयिते।	बीस वर्ष पूर्व अभिषिक्त हुए देवों के प्रिय प्रियदर्शी राजा ने स्वयं आकर पूजा की।
(११) लघु स्त० ले० (निग्लीव सागर)	देवान पियेन पियदसिन लाजिन चोदसवसाभिसितेन बुधस कोनाकमनस थुबे दुतियं वढिते।	चौदह वर्ष पूर्व अभिषिक्त देवों के प्रिय प्रियदर्शी राजा ने कोनाकमन बुद्ध के स्तूप को दूसरी बार परिवर्धित किया (बढ़ाया)।
(१२) गुहा ले० (बराबर)	लाजिना पियदसिना दुआडसवसाभिसितेन इय निगोह-कुभा दिना आजीविकेहि।	बारह वर्ष पूर्व अभिषिक्त प्रियदर्शी राजा के द्वारा यह न्यग्रोधगुहा आजीविकों को दी गयी।
(१३) गुहा ले० (नागार्जुनी पहाड़ी गुहा)	दसलथेन देवानं पियेना आनंतलियं अभिसितेना आजीविकेहि ।[1]	अभिषेक के अनन्तर देवों के प्रिय दशरथ के द्वारा (यह गुहा) आजीविकों को दी गयी।

१ इण्डि० एण्टि० २०, पृ० ३६४।

४ मौर्यो की तिथि-अकन-विधि

(१) किसी पहले से ही स्थापित नियमित और प्रचलित सवत् का प्रयोग नही हुआ। वुद्ध या महावीर सवत् का कही निर्देश नही है।

(२) अशोक के शासन सम्बन्धी वर्षों मे तिथि दी गयी है। उनमे अनुमानत चन्द्रगुप्त द्वारा प्रस्थापित मौर्य सवत् का कोई निर्देश नही है।

(३) तिथि-अकन स्वतन्त्र नही है, इसका कर्ता, अशोक, के विशेषण के रूप मे प्रयोग हुआ है।

(४) केवल शासन वर्ष की सख्या दी गई है, ऋतु, मास, पक्ष, तिथि तथा दिवस विषयक कोई विवरण नही है।

५. शुङ्ग अभिलेख

शुङ्ग-काल का प्रतिनिधित्व करने वाले दो अभिलेख है—(१) भरहुत-वौद्ध-स्तम्भ-अभिलेख[1] और (२) भागभद्र के शासन काल का बेसनगर का गरुड-स्तम्भ अभिलेख[2]। प्रथम अभिलेख मे केवल शुङ्गो के राजत्व-काल का उल्लेख है

प्राकृत मूल	हिन्दी अनुवाद
(१) सुगन रजे।	शुगो के राज्य मे।

दूसरे लेख मे तिथि-अकन अधिक विकसित है

प्राकृत मूल	हिन्दी अनुवाद
(२) कोसी पुत्रस भागभद्रस त्रातारस वसेन चतुदसेन राजेन वधमानस।	कोत्सीपुत्र राजा भागभद्र त्राता वर्द्धमान के चौदहवें वर्ष।

प्रथम लेख मे तिथि अकित करने का भाव अस्पष्ट और अशुद्ध है, इसकी ऐसे काल से सीमा की गयी है जो ११२ वर्ष तक फैला है। दूसरे लेख मे तिथि-अकन मे अधिक सूक्ष्मता है। मौर्यो की तिथ्याकन-विधि से यह एक पद आगे है, यहाँ वह स्वतन्त्र है, राजा के नाम से सम्बन्धित नही। किन्तु विधि अब भी शासनपरक है किसी नियमित या पूर्व से चले आते हुए सवत् का प्रयोग नही है।

---

१ हुल्श, इण्डि० एण्टि०, खण्ड १४, पृ० १३८ और आगे।
२ वोगेल, आर्क० सर्वे० इण्डि० ए० रि० १९०८-०९।

६. आन्ध्र-सातवाहन अभिलेख

आन्ध्र-सातवाहनों के शासन-काल में अनुष्ठित कुछ विशिष्ट अभिलेखों में निम्नलिखित आतियाँ विद्यमान हैं

प्राकृत मूल	हिन्दी अनुवाद
(१) सवछरे १०+८ वास पखे २ दिवसे १।[1]	संवत्सर १८ के द्वितीय वर्षा पक्ष के प्रथम दिन।
(२) सवछरे २०+४ गिहान पखे २ दिवसे १०।[2]	संवत्सर २४ के द्वितीय ग्रीष्म-पक्ष के दसवें दिन।
(३) रञो वासिठिपुतस सामिसिरि [पुलुमाविस] सवछरे सतमे ७ गिम्हपखे पचमे ५ दिवसे प्रथमे १।[3]	राजा वासिष्ठीपुत्र पुलुमावि के सातवें संवत्सर के पाँचवें ग्रीष्म पक्ष [ज्येष्ठ कृष्ण] के प्रथम दिवस।
(४) सिरि-पुलुमाविस सवछरे एकुनवीसे १०+९ गीम्हाण-पखे वितीये २ दिवसे तेरसे १०+३।[4]	श्री पुलुमावि के उन्नीसवें संवत्सर के द्वितीय ग्रीष्म-पक्ष के तेरहवें दिन।
(५) सिरि-पुलुमाविस सवछरे चतुविसे २०+४ हेमतान पखे ततिये ३ दिवसे बितिये २।[5]	श्री पुलुमावि के चौबीसवें वर्ष के तृतीय हेमंत-पक्ष के दूसरे दिन।
(६) सिरि-यञसातकणिस सवछरे सातमे ७ हेमताण पखे ततिये ३ दिवसे प्रथमे।[6]	श्री यज्ञ सातकर्णी के सातवें वर्ष के तृतीय हेमन्त-पक्ष के प्रथम दिन।
(७) रञो सातवाहनान सिरि-पुलुमाविस सव ८ हेम २ दिव १।[7]	सातवाहन राजा श्री पुलुमावि के आठवें वर्ष के द्वितीय हेमंत-पक्ष (अग्रहायण शुक्ल १) के प्रथम दिन।

---

१ गौतमीपुत्र सातकणि का नासिका-गुहा-अभिलेख, इपि० इण्डि०, खण्ड ४, पृ० १०४ और आगे।
२ सेनार्ट, इपि० इण्डि० खण्ड ८, पृ० ७३।
३ इपि० इण्डि० खण्ड ७, पृ० ६१ और आगे, स० ६४।
४ इपि० इण्डि० खण्ड ८, पृ० ६० और आगे, स० २।
५ इपि० इण्डि० खण्ड ७, पृ० ७१, स० २०।
६ इपि० इण्डि० खण्ड ८, पृ० ६४, स० २४।
७ इपि० इण्डि० खण्ड १४, पृ० १५५।

७. आन्ध्र-सातवाहनों के अन्तर्गत तिथि-अंकन विधि की विशेषताएँ

(१) मौर्यों ग्रौर शुङ्गो के राजत्व-काल मे जो शासन प्रक तिथि-ग्रकन का प्रकार विद्यमान था, ग्रान्ध्र-सातवाहन काल मे भी वही बना रहा।

(२) ग्रान्ध्र-सातवाहनो ने न तो किसी पहले से ग्राते हुए सवत् को ग्रहण किया ग्रौर न किसी को चलाया।[1] उनके ग्रभिलेखो मे कही भी शक शालिवाहन सवत् का प्रयोग नही हुग्रा है।

(३) प्रारम्भिक सातवाहन ग्रभिलेख बिना तिथि के हैं, तिथि का ग्रकन गौतमी पुत्र शातकर्णि के समय से, सम्भवत उसके शासन की महत्ता के कारण प्रारम्भ हुग्रा।

(४) वर्ष के लिए सवछर (सवत्सर) शब्द का प्रयोग हुग्रा है जो बाद को बहुत प्रचलित हुग्रा, ग्रभी तक साल के लिए वर्ष शब्द का साधारणतया प्रयोग होता था।

(५) तिथि के विवरण मे राजा के शासन-वर्ष के ग्रतिरिक्त ग्रृतु का नाम, पक्ष का क्रम तथा दिवस की सख्या भी दी गयी है।

(६) सख्या प्राय ग्रक्षरो ग्रौर ग्रको दोनो मे दी गई है।

(७) कुछ ग्रभिलेखो मे निम्नलिखित सक्षिप्त रूपो का प्रयोग हुग्रा है

(१) सवछर के लिए	सव
(२) गिम्हाण (ग्रीष्म) के लिए	गि
(३) पक्ष के लिए	प
(४) दिवस के लिए	दिव
(५) हेमन्त के लिए	हेम

८ खारवेल का हाथीगुम्फा अभिलेख[2]

इस ग्रभिलेख मे खारवेल के निम्नलिखित शासन-वर्षों का प्रयोग हुग्रा है।

(१) पधमे वसे प्रथम वर्ष मे

---

१ ग्रपने ग्रभिलेखो की तिथि के लिए वे ग्रपने शासन-वर्षो का प्रयोग करते थे।

२ द्रष्टव्य, इपि० इण्डि०, खण्ड २०, पृ० ७२ ग्रौर ग्रागे।

(२)	दुतिये च वसे	और दूसरे वर्ष मे
(३)	ततिये पुन वसे	पुन तीसरे वर्ष मे
(४)	तथा चवुथे वसे	और चौथे वर्ष मे
(५)	पचमे च दानी वसे	और पाँचवें वर्ष मे
(६)	छठे वसे	छठवे वर्ष मे
(७)	सतम च वस पसासतो	सातवें वर्ष मे शासन करता हुआ
(८)	अठमे च वसे	और आठवे वर्ष मे
(९)	नवमे च वसे	और नवे वर्ष मे
(१०)	दसमे च वसे	और दसवें वर्ष मे
(११)	एकादसमे च वसे	और ग्यारहवें वर्ष मे
(१२)	वारसमे च वसे	और वारहवे वर्ष मे
(१३)	तेरसमे च वसे	और तेरहवें वर्ष मे

९. मौर्य सम्वत्

हाथीगुम्फा अभिलेख की १६वी पक्ति मे पण्डित भगवानलाल इन्द्रजी[1] तथा स्टेन कोनो[2] ने पढा था, 'पनतरिय सठ वस सते राज मुरिय काले' तथा इसका अनुवाद इस प्रकार किया, 'मौर्य सवत् के १६५वे वर्ष मे'। उन्होने इस सिद्धान्त को जन्म दिया कि चन्द्रगुप्त मौर्य ने एक सवत् चलाया जो खारवेल के समय मे कलिग मे प्रचलित था। फ्लीट ने इस मत की बडी आलोचना की। फ्लीट की मान्यता थी कि इस अभिलेख मे किसी सवत् का निर्देश नहीं है। फ्लीट ने यह प्रस्ताव किया कि मूल मे किन्ही विलुप्त जैन ग्रथो के पुनरुद्धार का निर्देश है।[3] लूडर[4] तथा स्मिथ[5] ने फ्लीट का अनुसरण किया तथा इन्द्रजी और कोनो द्वारा प्रस्तावित पाठ का खण्डन किया। डी० सी० सरकार इस अश को—'पानतरीय सत-सहसेहि। मुरिय-काल-वोच्छिन [=वैदूर्यगर्भान् स्तम्भान् प्रतिष्ठापयति पञ्चान्तरशतसहस्रै (मुद्राणा)। मुख्यकलाच्छिन्न (=गीतनृत्यादिसमन्वित)][6]

१ हाथीगुम्फा तथा तीन और अभिलेख।
२ आर्क० सर्वे० इण्डि० रि० १९०५-०६।
३ जर्नल आफ दि रायल एशियाटिक सोसाइटी १९१०, पृ० २४३–४४।
४ इण्डि० एण्टि०, खण्ड १०, लिस्ट ऑफ् ब्राह्मी इन्स०, पृ० १६१।
५ अर्ली हिस्ट्री ऑफ इण्डिया, पृ० २०७, स० २।
६ सेलेक्ट इन्स्क्रिप्शन्स, खण्ड १, पृ० २१०।

—इस प्रकार पढते हैं। इस अश के किसी सवत् का निर्देश नही होता। लिपिशास्त्र की दृष्टि से भी हाथीगुम्फा अभिलेख को [३२१ ई० पू० (तथा कथित मौर्य सवत् का प्रारम्भ)—१६५=] १५६ ई० पू० मे नही रखा जा सकता। इसका सम्बन्ध ईसा पूर्व की प्रथम शताब्दी का अन्तिम चरण या ईसा की प्रथम शताब्दी के प्रथम चरण से है। इसके अतिरिक्त मौर्य सवत् के अभिलेख या साहित्यिक प्रयोग का अन्य उदाहरण उपलब्ध नही होता। इन परिस्थितियो मे ऐसी धारणा बनाना कि मौर्यों ने सवत् की स्थापना की जिसका उनके बाद प्रयोग हुआ, न्यायसगत नही।[1]

१०. दक्षिण-पश्चिमी भारत के शको (महाराष्ट्र के क्षहरातो और उज्जयिनी के महाक्षत्रपों) के अभिलेख

निम्नलिखित कुछ दृष्टान्त है .

मूल	हिन्दी अनुवाद
(१) वसे ४०+२ वेसाख मासे।[2]	(शक सवत् के) ४२वे वर्ष के वैशाख मास मे।
(२) वसे ४०+६ कतो।[3]	(शक सवत् के) ४६वे वर्ष (यह पुण्य दान) किया गया।
(३) वर्षे द्विपचाशे ५०+२ फगुण बहुलस द्वितीय वारे।[4]	(शक सवत के) ५२वे वर्ष के फाल्गुन मास के कृष्ण पक्ष के दूसरे दिन।
(४) महाक्षत्रपस्य रुद्रदाम्नो वर्षे द्विसप्ततितमे ७०+२ मार्गशीर्ष-बहुल प्रतिपदि।[5]	महाक्षत्रप रुद्रदामन के राजत्व-काल मे (शक सवत् के) ७२वें वर्ष के मार्गशीर्ष के कृष्ण-पक्ष की प्रतिपदा को।

---

१ आर० डी० बनर्जी को इन्द्रजी और कोनो का पाठ ही ग्राह्य था।

२ नहपाण के शासन-काल का नासिका-गुहा-अभिलेख। इपि० इण्डि०, खण्ड ८, पृ० ८२ और आगे, स० १२।

३ नहपाण के समय का जुन्नार-गुहाभिलेख, आर्क० सर्वे० वेस्ट इण्डिया, खण्ड ४, पृ० १०३।

४ रुद्रदामन के समय का अन्धौ-प्रस्तर-अभिलेख, इपि० इण्डि०, खण्ड १६, पृ० २३ और आगे।

५ रुद्रदामन प्रथम का जूनागढ शिलाभिलेख, इपि० इण्डि०, खण्ड ८, पृ० ४२ और आगे।

मूल	हिन्दी अनुवाद
(५) रुद्रसीहस्य वर्षे त्रियुततर शते १००+३ वैसाख शुद्धे पचम-धण्यतिथौ रोहिणि नक्षत्र मुहूर्ते ।[1]	रुद्रसिंह के राजत्व काल मे(शक सवत् के) एक सौ तीसरे वर्ष के वैसाख के शुक्ल पक्ष की रोहिणी नक्षत्र मुहूर्त वाली धन्य तिथि पचमी को ।
(६) वर्षे १००+२०+७ भाद्रपद-बहुलस ५ रुद्रसेनस्य इद शान्य ।[2]	'शक सवत् के(१२७वे वर्ष के भाद्रपद मास के कृष्णपक्ष के पाँचवें (दिन) रुद्रसेन का यह प्रस्तर स्तम्भ ।
(७) श्रीधरवर्मणा स्वराज्याभि-वृद्धिकरे वैजयिके सवत्सरे त्रयो-दशमे श्रावण-बहुलस्य दशमी-दिवस पूर्वकमेत २०+१ ।[3]	श्रीधरवर्मन के द्वारा अपने (शासन के) विजयकर और वृद्धिकर तेरहवे वर्ष के श्रावण मास के कृष्ण पक्ष के इस दशमी के दिन (शक सवत् के) २००१वे वर्ष ।

१२. तिथि-अंकन की मुख्य विशेषताएँ

(१) ४२वे वर्ष से प्रारम्भ हो कर उसी सवत् के दो सौ प्रथम वर्ष तक, इन अभिलेखो की तिथि नियमित और प्रचलित सवत् मे है ।

(२) प्रारम्भिक अभिलेखो मे तिथि अकित करने की विधि किन्ही अशो मे सरल है, सख्या (१) मे केवल वर्ष और मास का निर्देश है और सख्या (२) मे केवल वर्ष दिया गया है ।

(३) अभिलेख सख्या (३) से तिथि सविस्तर है । आन्ध्र-सातवाहन अभिलेखो मे निर्दिष्ट ऋतुओ के अतिरिक्त फाल्गुन, मार्गशीर्ष, वैशाख, भाद्रपद, श्रावण इत्यादि महीनो के नाम भी उपलब्ध होते है ।

(४) किसी विशिष्ट ऋतु के पक्ष की सख्या के स्थान पर, जैसा कि आन्ध्र-

---

१ रुद्रसिंह प्रथम के समय का गोंड-प्रस्तर-अभिलेख, इपि० इण्डि०, खण्ड १६, पृ० २३५ ।

२ रुद्रसेन प्रथम का गढा-प्रस्तर-अभिलेख, इपि० इण्डि०, खण्ड १६, पृ० २३८ ।

३ श्रीधरवर्मन का कनखेरा प्रस्तर-अभिलेख, इपि० इण्डि०, खण्ड १६, पृ० २३२ ।

सातवाहन अभिलेखो में दिया गया है, इन अभिलेखो मे बहुल (कृष्ण) और शुद्ध (शुक्ल) दो पक्षो का निर्देश हुआ है।

(५) किन्ही अभिलेखो मे दिन के लिए 'वार' शब्द का प्रयोग हुआ है।

(६) कुछ अभिलेखो मे नक्षत्र और मुहूर्त भी दिया गया है।

(७) कुछ अभिलेखो मे तिथि के लिए प्रयुक्त प्रचलित सवत् को, अस्पष्टतया राजाओ के शासन से जोड दिया गया है।

(८) अभिलेख स० (७) मे दोनो ही विशेषणो के साथ शासन वर्ष (जिसका प्रयोग गुप्त काल तक जाता है) तथा प्रचलित सवत् दिये गये है।

१२. प्रयुक्त सम्वत् : शक-सम्वत्

अब प्रश्न है कि इन अभिलेखो मे प्रयुक्त सवत् कौन-सा है ? इतना स्पष्ट है कि यह सवत् भारतीय नही था। क्षहरात और क्षत्रपो के समकालीन आन्ध्र-सातवाहन अपने अभिलेखो की तिथि अपने शासन-वर्षों मे छोडते थे, वे किसी नियमित या प्रचलित सवत् का प्रयोग नही करते थे। उन्होने अवन्ती के मालवो के, जिन्हें उन्होंने परास्त कर हटाया, कृत सवत् का प्रयोग नही किया। इसका कारण वही था जो मुसलमानो के भारत मे विक्रम और शक सवतो के न प्रयोग करने का। इन परिस्थितियो मे यह निर्णय अकाट्य है कि महाराष्ट्, काठियावाड तथा अवन्ती के शको ने अपने निज के सवत् को ग्रहण किया यद्यपि भारतीय तिथ्याकन विधि की विशेपताओ का अनुकरण किया। अब दूसरा प्रश्न है कि शक सवत् की स्थापना करने वाला कौन है ? इस विपय पर भारतीय जैन परम्परा पूर्ण स्पष्ट है। प्रभावकचरित की कालकाचार्य-कथा मे इसका स्पष्ट निर्देश है कि विक्रमादित्य के शासनारूढ होने के १३५ वर्ष बाद उस राजा के (विक्रमादित्य के) एक उत्तराधिकारी को मारकर शको ने अपना सवत् स्थापित किया।[1] गणना से यह घटना (५७ ई० पू०+१३५=) ७८ ई० मे हुई। सवत् की स्थापना अवन्ती मे हुई, इससे स्पष्ट है कि इसकी स्थापना करने वाला चष्टन था। रुद्रदामन के जूनागढ शिलाभिलेख[2] के अनुसार उसका पितामह

---

१ शकाना वशमुच्छेद्य कालेन कियताऽपि ह।
राजा श्री विक्रमादित्य सार्वभौमोपमोऽभवत् ॥६०
ततो वर्पशते पचत्रिशता साधिके पुन।
तस्य राज्ञोऽन्वय हत्वा वत्सर स्थापित. शकै ॥६२

२ इपि० इण्डि० खण्ड ८, पृ० ४२ और आगे।

चष्टन पहला महाक्षत्रप था और उसे नया सवत् चलाने के सभी औचित्य प्राप्त थे। क्योंकि अवन्ती का शक वश दक्षिण-पश्चिम भारत मे सबसे अधिक शक्तिशाली और प्रसिद्ध था, महाराष्ट्र के पडोसी शक वश ने भी उनके द्वारा चलाये सवत् को ग्रहण किया।

इस सवत् की प्रारम्भिक शताब्दियो मे 'शक' शब्द इसके साथ सम्बन्धित नही पाया जाता। प्रयुक्त शब्द साधारण तथा 'वर्षे' तथा विरलतया 'सवत्सरे' है, दोनो का ही अर्थ 'वर्ष' मे है। शक स० ५०० से १२६२ के बीच के अभिलेखो मे शको से उसका सम्बन्ध बताने वाली निम्नलिखित उक्तियाँ प्राप्त होती है

(१) शकनृपतिराज्याभिषेक सवत्सर[1] [शक राजा के राज्याभिषेक का सवत्]
(२) शकनृपतिसवत्सर[2] [शक नृपति का सवत्]
(३) शकनृपसवत्सर[3] [शक नृप का सवत्]
(४) शकनृपकाल[4] [शक नृप का काल (सवत्)]
(५) शकसवत्[5] [शक सवत्]
(६) शक[6] [शक (सवत्)]
(७) शाक[7] [(शक नृपति से व्युत्पन्न सवत्)]

ऊपर उद्धृत किये गये अशो से यह स्पष्ट है कि ईसा की बारहवी शती तक शक सवत् किसी शक नृपति द्वारा चलाया गया समझा जाता था तथा 'शालिवाहन' शब्द उसके साथ नही जोडा जाता था। केवल बाद को यह सवत् शालिवाहन-शक या शक-शालिवाहन कहा जाने लगा। जिनकी तिथि के साथ शालिवाहन का नाम जुडा है ऐसे साहित्यिक और अभिलेखात्मक प्राचीनतम लेख ईसा की चौदहवी

---

१ शकनृपतिराज्याभिषेकसवत्सरेष्वतिक्रान्तेषु पञ्चसु शतेषु। इण्डि० एण्टि०, खण्ड १०, पृ० ५८।

२ शकनृपतिसवत्सरेषु चतुस्त्रिशाधिकेषु पञ्चस्वतीतेषु। इण्डि० एण्टि०, खण्ड ६, पृ० ७३।

३ शकनृप-सवत्सरेषुशर-शिखि-मुनिषु व्यतीतेषु। इण्डि० एण्टि०, खण्ड १२, पृ० १६।

४ शकनृपकालातीतसवत्सरशतेषु सप्तसु षोडशोत्तरेषु। इपि० इण्डि०, खण्ड ३, पृ० १०६।

५ शक सवत् ८३२, इपि० इण्डि०, खण्ड १, पृ० ५६।

६ शक ११५७ कीलहार्न एल० आई० एस० आई०, पृ० ६३, स० ३४८।

७ शाके ११२८ प्रभव सवत्सरे। इपि० इण्डि०, खण्ड १, पृ० ३४३।

शताब्दी के हैं।[1] शालिवाहन का नाम शक सवत् के साथ क्यो जोड दिया गया इसका यह कारण प्रतीत होता है उत्तरी भारत मे प्रारम्भ मे 'कृत' तथा बाद में 'मालव' कहा जाने वाला सवत्, लोगो की राजनीतिक मनोवृतियो के कारण 'विक्रम-सवत्' के अभिधान से विख्यात हुआ। दक्षिण मे 'शक' शब्द जो 'शकनृपतिराज्याभिषेकसवत्सर', 'शक-नृप-काल', 'शक सवत्', 'शककाल' इत्यादि अशो मे सवत् का विशेषण था, स्वय समय के प्रवाह मे वर्ष का सूचक बन गया। एक समय भारत के एक भाग पर शको का प्रभुत्व था, यह राजनीतिक सत्य ओझल हो गया। दक्षिण मे ऐतिहासिक व्यक्तियो के नामो मे जो शेष रहा वह शालिवाहन[2] है (समान रूप से हाल या गौतमी पुत्र सातकर्णि का सूचक) जो साहित्यकारो और लोगो की कल्पना का आश्रय बन सका इन परिस्थितियो मे उत्तर की ही भाँति शालिवाहन का नाम शकसवत् से जोड दिया गया जिससे यह सवत् केवल दक्षिण मे ही नही, अपितु सम्पूर्ण भारत मे समादृत हुआ।

१३. हिन्द-वाह्लीक (इण्डो-बैक्ट्रियन) राजाओ के अभिलेख

इण्डो-बैक्ट्रियन राजाओ के अभिलेख अत्यल्प सख्या मे प्राप्त हुए है, जिनमे विरला ही तिथियुक्त है। इनमे से केवल दो उदाहरण नीचे दिये जाते है

	मूल	हिन्दी अनुवाद
(१)	. मिनेन्द्रि महरजस कटि अस दिवस ४+४+४+१+१।[3]	महाराज मेनन्द्र के शासन के कार्तिक मास के १४वें दिन।
(२)	वषये पचमये ४+१ वेश्रखस मसस दिवस पचविश्रये।[4]	(मेनन्द्र के शासन काल के) पाँचवे वर्ष के वैशाख मास के पचीसवें दिन।

१ जिनप्रभसूरि का कल्पप्रदीप ग्रथ लगभग १३०० ई० का है। कवि का कथन है कि प्रतिष्ठान के सातवाहन (शालिवाहन) ने उज्जयिनी के विक्रमादित्य को हरा कर अपना सवत् चलाया। दृष्टव्य जे० ए० एस० बी० बी०, खण्ड १०, पृ० १३२-३३, नृप शालिवाहन शक १२७६, विजयनगर के यादव राजा बुक्काराय का हरिहर गाँव-अभिलेख (कीलहार्न लिटरेरी इन्सक्रिप्शन्स ऑफ साउथ इण्डिया, पृ० ७८, स० ४५५)।

२ प्रबन्धचिन्तामणि के अनुसार हाल का एक नाम शालिवाहन है· शालिवाहन-शालवाहन-सालवाहण-सालवाहन-सालाहण-सातवाहन-हालेत्येकस्य नामानि।

३ मेनन्द्र के राज्यत्व-काल का शीनकोट-मजूषा-अभिलेख, इपि० इण्डि०, खण्ड २४, पृ० ७ प्रारम्भ मे निर्दिष्ट वर्ष लुप्त हो गया है।

४ वही।

१४. संवत्—शासनपरक या प्रचलित

ऊपर के अभिलेखों मे प्रयुक्त वर्ष स्पष्ट रूप से शासनपरक है। मेनन्द्र जाति मे ग्रीक तथा धर्म मे बौद्ध था। किन्तु यदि सैकडा सूचक अक मिट भी गये हो तब भी उनके द्वारा प्रयुक्त वर्षो का सम्बन्ध न ३१२ ई० पू० मे सेल्यूकस द्वारा स्थापित सेल्यूसिडियन सवत् से हो सकता है और न ४८३ ई० पू० से प्रारम्भ होने वाले बुद्ध सवत् से। यहाँ प्रयुक्त कार्तिक और वैशाख मास विशुद्ध भारतीय हैं, मेसीडोनियन या ग्रीक नही, जिनमे से कुछ का प्रयोग शको और कुषाणो के राजत्वकाल मे लिखित अभिलेखो मे हुआ है। यह सत्य ग्रीक या सेल्युसिडियन सवत् के प्रयोग की सम्भावना को और भी दूर कर देता है।

१५. उत्तर-पश्चिमी भारत के शक पह्लवो के अभिलेख

	मूल	हिन्दी अनुवाद
(१)	स्वामिस महाक्षत्रप शोडासस सवत्सरे ७०+२ हेमत मासे २ दिवसे ९।[1]	स्वामी महाक्षत्रप शोडास के शासन के ७२वे सवत् के द्वितीय हेमत (पौष) मास के नवें दिन।
(२)	सवत्सरये अठसततिमये २०+२०+२०+१०+४+४ महरयस महतस मोगस पनेमस मसस दिवसे पचमे ४+१।[2]	महाराज महान् मोग के राजत्वकाल के ७८वें वर्ष के (ग्रीक) पनेम मास के पाँचवें दिवस।
(३)	महरयस गुदुव्हरस वष २०+४ १+१ सवत्सरये तिशतिमये १००+१+१+१ वेशखस मसस दिवसे प्रठमे पुने वहले पखे।[3]	महाराज गुदुव्हर (गोण्डोफरनीज़) के २६वें शासन-वर्ष मे १०३ सवत् के वैशाख मास के कृष्ण पक्ष के प्रथम पुण्य दिन मे।

---

१ शोडास का मथुरा-दान-पट्ट-अभिलेख, इपि० इण्डि०, खण्ड २, पृ० १९९।

२ पटिक का तक्षशिला-ताम्रपत्र-अभिलेख, कोनो, कार्प० इन्स० इण्डि०, खण्ड २, १, पृ० २८।

३ गोण्डोफर्नीज का तख्तेबाही प्रस्तर-अभिलेख, स्टेन कोनो, कार्प०, इन्स० इण्डि०, खण्ड २, १, पृ० ६२।

	मूल	हिन्दी अनुवाद
(४)	स० १×१००+२०+१+१ श्रावणस मसस दि प्रढमे १ महरयस गुषणस रजमि ।[१]	महाराज कुषाण के शासनकाल के १२२वें वर्ष के श्रावण मास के प्रथम दिन ।
(५)	सवत्सरये १×१००+२०+१० +४ अजस श्रवणस मसस दिवसे त्रेविशे २०+१+१ ।[२]	१३४ (अज्ञात) सवत् के प्रथम श्रावण मास के (या अय=एजेज, के शासन के श्रावण मास के) २३वें दिन ।
(६)	स १×१००+२०+१०+४ +१+१ अयस अषडस मसस दिवसे १०+४+१ ।[३]	अज्ञात स० १३६ के शुद्ध आषाढ मास के १५वें दिन ।
(७)	स० १×१००+२०+२० २०+२०+४+१+१+१ महरजस उविमिकस्तुसस ।[४]	महाराज उवमिकस्तु के शासन के स० १८७ ।
(८)	क १×१००+२०+२०+२० +२०+१०+१ महरजस स पुत्रस जिहोणिकस चुख्सस क्षत्रपस ।[५]	महाराज. के पुत्र चुक्ष के क्षत्रप जिहोणिक के (शासनगत) स० १९१ मे ।

१६. शक-पह्लव अभिलेखों में गृहीत तिथि-अंकन की विधि

(१) इन अभिलेखो मे एक नियमित संवत् के ७२ से लेकर १९१ वर्ष तक का प्रयोग हुआ है ।[६]

(२) नियमित और प्रचलित सवत् के साथ ही राजा या क्षत्रप के शासन का प्राय बिना शासन-वर्ष के भी उल्लेख हुआ है ।

---

१ एक कुषाण राजा का पञ्जतर-प्रस्तर-अभिलेख, स्टेन कोनो, कार्प०, इन्स० इण्डि०, खण्ड २, १, पृ० ७० ।

२ कलावाँ-ताम्रपत्र-अभिलेख, इपि० इण्डि०, खण्ड २१, पृ० २५९ ।

३. एक कुषाण राजा का रजत-कुण्डली-अभिलेख, स्टेन कोनो, इपि० इण्डि०, खण्ड १४, पृ० २९५ ।

४ उविमिकोस्तुस का खाल्स्ते-प्रस्तर-अभिलेख, स्टेन कोनो, कार्प० इन्स० इण्डि०, खण्ड २, १, पृ० ८१ ।

५ जिहोणिक का तक्षशिला रजत-भाण्ड-अभिलेख, वही, पृ० ८२ ।

६ खरोष्ठी का प्राचीनतम अभिलेख मैव-अभिलेख है, जिसकी तिथि ५८ है ।

(३) कुछ अभिलेखों में शासन-वर्ष का भी उल्लेख है।

(४) वर्ष और दिन की संख्या साधारणतया अंकों में है, किन्तु प्रायः अक्षरों और अंकों दोनों में। ऋतु और मास का नाम भी, साधारण रूप से दिया हुआ है। कभी-कभी भारतीय महीनों के नाम पर मेसीडोनियन मास भी प्राप्त होते हैं, स्पष्ट है कि इनका प्रयोग विदेशी दान-दाताओं द्वारा हुआ है।

(५) कभी-कभी मास का पक्ष भी दिया रहता है।

(६) कभी-कभी वर्ष की संख्या और शासनारूढ राजा के नाम का ही निर्देश हुआ है, अन्य विवरण छोड दिये गये हैं।

(७) संवत्सर के लिए स या सं, दिवस के लिए दि, काल के लिए क, संक्षिप्त रूपों का प्रयोग हुआ है।

(८) तिथि के विभिन्न अंगों का क्रम अभी तक निश्चित नहीं है।

(९) सातवाहनों तथा दक्षिणी-पश्चिमी भारत के शकों द्वारा अनुगमित विधि की अपेक्षा यह विधि प्राचीन एवं अल्प विकसित है।

१७. एक प्राचीन शक सम्वत्

ऊपर उद्धृत अभिलेखों में प्रयुक्त वर्षों का सम्बन्ध किस संवत् से जोडा जाय? इस प्रश्न के उत्तर देने के पूर्व एक सत्य का ध्यान रखना परम आवश्यक है। लिपि-विज्ञान और शैली के आधार पर इन अभिलेखों का सम्पूर्ण वर्ग कुषाणों के काल के पूर्व तथा दक्षिण-पश्चिमी भारत के क्षहरात-शकों एवं आन्ध्र-सातवाहन सम्राटों, जिनके अभिलेख पश्चिमी घाट में पाये जाते हैं, के काल के भी पूर्व रखा जा सकता है। इन वर्षों का सम्बन्ध ७८ ई० से प्रारम्भ होने वाले शक संवत् या कनिष्क द्वारा स्थापित संवत् लगभग १२० ई० से नहीं स्थापित किया जा सकता क्योंकि दोनों परिस्थितियों में इन अभिलेखों में निर्दिष्ट शक राजाओं का शासन भारतीय इतिहास में कुषाण या उत्तर कुषाण काल में पडेगा, जो असम्भव है। इन वर्षों का सम्बन्ध मौर्य (लं० ३२१ ई० पू०), सेल्युसिडियन (लं० ३१२ ई० पू०), प्राचीन शक (लं० ५५० ई० पू०) या प्राचीन पह्लव (लं० २५६ या २४६ ई० पू०) संवत् से भी नहीं लगाया जा सकता, क्योंकि इस दशा में शक, उत्तर मौर्यों, शुंगों, तथा भारत में बैक्ट्रियनों के समकालीन ठहरेंगे और यह भारतीय इतिहास के सुव्यवस्थित क्रम के विरुद्ध जायेगा।

प्रारम्भिक शक अभिलेखो मे प्रयुक्त प्राचीनतम तिथि (५८) से यह अनुमान किया जा सकता है कि शको ने भारत को इसके बहुत पहले नही विजित किया। स्पष्टतया प्रसगान्तर्गत सवत् शको द्वारा, उनके सर्वप्रथम भारतीय आक्रमण की स्मृति मे स्थापित किया गया था। जैन पट्टावलियो तथा प्रभावकचरित मे दी गयी कालकाचार्य-कथा के अनुसार विक्रमादित्य ने शको को, उनके अवन्ती पर चौदह या चार वर्ष शासन कर लेने पर, अवन्ती से बाहर निकाला। इस प्रकार भारत पर शको का सर्वप्रथम आक्रमण ल० ५७+१४ या ४ = ७१ या ६१ ई० पू० रखा जा सकता है। ई० पू० ७१ या ६१ मे शको की विजय के कारण सवत् की स्थापना हुई, जिसे पूर्व शक सवत् कहा जा सकता है। भारत विजय के प्रथम प्रयास मे शक अवन्ती मे परास्त हुए किन्तु उनकी एक शाखा उत्तर-पश्चिम भारत मे बनी रही और ई० पू० ७१ या ६१ मे स्थापित शक सवत् का व्यवहार करती रही। इस सवत् का १९१ वर्ष विम कडफाइसेस के शासन का अन्त तथा कनिष्क के शासन का ल० ७१ ई० पू० + १९१ = १२० ई० पू० मे प्रारम्भ परिलक्षित करता है। जब शको ने चष्टन के नेतृत्व मे दूसरी बार अवन्ती पर अधिकार किया तो ७८ ई० मे उन्होने उत्तर शक सवत् की स्थापना की जो दक्षिण-पश्चिमी भारत के शको द्वारा प्रयुक्त हुआ तथा बाद को भारतीयो के द्वारा भी गृहीत हुआ।

१८. कुषाण-अभिलेख (कनिष्क के शासन-काल से)

कनिष्क ने एक नवीन सवत् की स्थापना की और इससे तिथि का एक नया प्रकार प्रारम्भ हुआ। इस विधि का अनुसरण करने वाले अभिलेखो के कुछ उदाहरण दिये जाते हैं

	मूल	हिन्दी अनुवाद
(१)	महाराजस्य कणिष्कस्य स० ३ हे ३ दिवस २२।[1]	महाराज कनिष्क के तृतीय सवत् की हेमन्त ऋतु के तीसरे पक्ष के २२वें दिन।
(२)	महराजस्य देवपुत्रस्य कणिष्कस्य सवत्सरे १० ग्रि २ दि ९।[2]	महाराज देवपुत्र कनिष्क १०वे सवत् की ग्रीष्म ऋतु के दूसरे पक्ष के नवें दिन।

१ कनिष्क का सारनाथ-बौद्ध-प्रतिमा-अभिलेख, इपि० इण्डि० खण्ड ८, पृ० १७३ और आगे।

२ कनिष्क प्रथम का लन्दन-सग्रहालय-प्रस्तर-अभिलेख, इपि० इण्डि० खण्ड ४, पृ० २४०।

मूल	हिन्दी अनुवाद
(३) महराजस्य रजतिरजस्य देवपुत्रस्य कनिष्कस्य सवत्सरे एकदशे स० १०+१ दइसिकस्य मसस दिवसे अठविशे दि २०+४+४ ।[1]	महाराज राजाधिराज देवपुत्र कनिष्क के ११वे सवत् के दइसिक (डिसिग्रॉस—ज्येष्ठ) मास के २८वे दिन।
(४) स० १०+१ अपडस्य मसस दि २० उत्तरफगुणे कणिष्कस्य रजमि ।[2]	कनिष्क के शासन मे स० ११ के आषाढ मास के २०वें दिन उत्तरफाल्गुनी नक्षत्र मे ।
(५) स० १०+४+४ कतियस मसस दिवसे २०.... महरजस कणिष्कस्य ।[3]	कनिष्क के शासन-काल मे सं० १८ के कातिक मास के २०वे दिन ।
(६) महाराजस्य राजातिराजस्य देवपुत्रस्य षाहि वासिष्कस्य स० २०+८ हे १ दि ५ ।[4]	महाराज राजाधिराज देवपुत्र शाहि वासिष्क के राज्यकाल मे कनिष्क स० २८ के हेमन्त के प्रथम पक्ष की पाँचवी तिथि को ।
(७) सवत्सरे २०+८ गुर्प्पिये दिवसे ....देवपुत्रस्य षाहिस्य हुविष्कस्य ।[5]	देवपुत्र शाहि हुविष्क के २८वे सवत् के गुर्प्पिय (गोरपॉइस=भाद्रपद) मास के प्रथम दिन ।
(८) महाराजस्य देवपुत्रस्य हुविष्कस्य	महाराज देवपुत्र हुविष्क के ३३वें

१ कनिष्क प्रथम का श्री विहार-ताम्रपत्र-अभिलेख, स्टेन कोनो, कार्प० इन्स० इण्डि० खण्ड २, १, पृ० १४१ ।

२ कनिष्क प्रथम का जेदा-अभिलेख, एपि० इण्डि० खण्ड १९, पृ० १ इत्यादि ।

३ कनिष्क प्रथम का मानिकयाला-प्रस्तर-अभिलेख, स्टेन कोनो, कार्प० इन्स० इण्डि०, खण्ड २, १, पृ० ४९ इत्यादि ।

४ वासिष्क का साँची बौद्ध-प्रतिमा-अभिलेख, एपि० इण्डि, खण्ड २, पृ० ३६९-७० इत्यादि ।

५ हुविष्क का मथुरा-प्रस्तर-अभिलेख, एपि० इण्डि० खण्ड २१, पृ० ६० इत्यादि ।

	मूल	हिन्दी अनुवाद
	सं० ३०+३ ग्रृ १ दि ८ ।[1]	सवत् की ग्रीष्म ऋतु के प्रथम पक्ष के आठवे दिन ।
(९)	महरजस रजतिरजस देवपुत्रस कइसरस वझिष्पपुत्रस कनिष्कस सवत्सरये एकचपरिशये स० २०+२०+१ जेठस मसस दिवसे १ ।[2]	महाराज राजाधिराज देवपुत्र कइसर वासिष्क के पुत्र कनिष्क (द्वितीय) के शासन काल मे कनिष्क सवत् ४१ के ज्येष्ठ मास के प्रथम दिन ।
(१०)	महाराजस्य हुविक्षस्य सवचर ४०+८ व २ दि० १०+९ ।[3]	महाराज हुविष्क के शासन काल मे कनिष्क स० ४८ वर्षा ऋतु के द्वितीय पक्ष के १९वे दिन ।
(११)	महरजस्य वासुदेवस्यस ८० हम व १ दि १०+२ ।[4]	महाराज वासुदेव के शासन काल मे (कनिष्क) सवत् ८० की हेमंत ऋतु के प्रथम कृष्ण पक्ष के १२वे दिन ।

१९. कनिष्क वर्गीय कुषाण अभिलेखों के तिथि-अंकन की प्रमुख विशेषताएँ

(१) एक लगातार चलने वाले सवत् का, उसके तीसरे वर्ष से ८०वे वर्ष तक प्रयोग हुआ है । इसका तीसरा वर्ष कनिष्क प्रथम के शासन काल मे तथा ८०वाँ वासुदेव के शासन काल मे आता है ।

(२) ऐसा प्रतीत होता है कि तिथि अङ्कन के लिए कनिष्क ने अपने राजकीय वर्षों का प्रयोग किया, जिसे उसके उत्तराधिकारियो ने जारी रखा ।

---

१ हुविष्क का मथुरा बौद्ध-प्रतिमा-अभिलेख, एपि० इण्डि०, खण्ड ८, पृ० १८१ ।

२ कनिष्क द्वितीय का आरा प्रस्तर-अभिलेख, एपि० इण्डि०, खण्ड १४, पृ० १४३ ।

३ हुविष्क का लखनऊ सग्रहालय जैन-प्रतिमा-अभिलेख, एपि० इण्डि०, खण्ड १० पृ० ११२ ।

४ वासुदेव का मथुरा प्रतिमा-अभिलेख, एपि० इण्डि०, खण्ड १, पृ० ३९२, स० २४ ।

(३) अधिकांश अभिलेखों में तिथि अंकन में (क) शासनारूढ़ राजा का नाम, (ख) संवत्सर शब्द के बाद वर्ष की संख्या, (ग) ऋतु या मास का नाम (कभी कभी ग्रीक नाम दिया गया है, जैसे गोरपाइस) तथा (घ) मास के दिन की संख्या दी गयी है।

(४) कुछ अभिलेखों में नक्षत्रों के नाम भी हैं।

(५) कुछ अभिलेखों में उपाधियों के सहित राजा का नाम तिथिपरक विवरण के बाद दिया गया है।

(६) तिथि-अङ्कन-विधि आन्ध्र-सातवाहनों तथा दक्षिण-पश्चिमी भारत के शकों के अभिलेखों में अपनायी गयी विधि के समान ही है।

२०. कनिष्क संवत् की स्थापना और पहचान

संवत् ३ का कनिष्क के शासन काल में पड़ना इस बात का सूचक है कि कनिष्क ने कडफाइसेस वर्ग के राजाओं को हटाकर तथा सन् १२० ई० में एक नये शासक वंश की स्थापना कर, यह नया संवत् चलाया। भारतीय परम्पराओं की अवहेलना करते हुए पश्चिमी विद्वानों ने कनिष्क द्वारा स्थापित संवत् की पहचान प्रथम ५७ ई० पू० में प्रचलित विक्रम संवत् से और फिर सन् ७८ ई० से प्रारम्भ होने वाले शक संवत् से की। कनिष्क द्वारा स्थापित संवत् अपने दक्षिण-पश्चिम में ही लगभग १०० वर्ष की अवधि के उपरान्त समाप्त हो गया तथा उसका स्थान ७१ ई० पू० में स्थापित पूर्व शक संवत् ने ग्रहण किया जिसमें ३०३ से ३६६ तक की तिथि अभिलेखों में दी गई है। इस सत्य की दृष्टि से पश्चिमी विद्वानों की उपर्युक्त पहचान अब छोड़ दी गयी। उत्तर में पूर्व शक संवत् का स्थान मालव तथा गुप्त संवतों ने ले लिया।

२१. गणतन्त्रों एवं अन्य लोगों तथा राजस्थान और अवन्ती-आकर (मध्य भारत) के राज्यों के अभिलेख

कुछ सर्वाधिक प्रतिनिधित्व करने वाले उदाहरण नीचे दिये जाते हैं :

	मूल	हिन्दी अनुवाद
(१)	कृतयोर्द्वयो-र्वर्षशतयोर्द्व्य शीतयोः २००+८०+२ चैत पूर्णमा-स्याम्।[1]	कृत संवत् २८२ के चैत मास की पूर्णिमा को।

1. नदसा-यूप-अभिलेख, एपि० इण्डि०, खण्ड २७।

मूल	हिन्दी अनुवाद
(२) कृते हि (कृतैः) २००+८० +४ चैत शुक्ल पक्षस्य पञ्च-दशी ।[१]	कृत सवत् २८४ के चैत्र मास के शुक्ल पक्ष की पञ्चदशी को ।
(३) क्रिते (कृते) हि २००+६०+५ फाल्गुरा (न) शुक्लस्य पञ्चे दि ।[२]	कृत सवत् २६५ के फाल्गुन मास के शुक्ल पक्ष की पञ्चमी को ।
(४) कृते हि ३००+३०+५ जरा (ज्येष्ठ) शुद्धस्य पञ्चदशी ।[३]	कृत सवत् ३३५ के ज्येष्ठ मास की शुक्ल पञ्चदशी ।
(५) कृतेषु चतुर्षु वर्षशतेष्वष्टाविंशेषु ४००+२०+८ फाल्गुरा (न) बहुलस्य पञ्चदश्याम् ।[४]	कृत सवत् ४२८ के फाल्गुन मास के कृष्ण पक्ष की पञ्चदशी को।
(६) श्रीमालवगरणाम्नाते प्रशस्ते कृत-सवतै कृषष्टयधिके प्राप्ते समाशत-चतुष्टये । दिने आम्वोज शुक्लस्य पञ्चम्यामथ सत्कृते ।[५]	परम्परा से मालव लोगो द्वारा प्रयुक्त होने वाले कृत सवत के ४६१वे वर्ष के आश्विन मास के शुक्लपक्ष की शुभ पञ्चमी तिथि को ।
(७) मालवाना गरणस्थित्या याते शत-चतुष्टये। त्रिनवत्यधिकेऽब्दानामृतौ सेव्यघनस्तने ॥ सहस्यमास शुक्लस्य प्रशस्तेऽह्नि त्रयोदशे ।[६]	मालव गणराज्य की स्थापना से ४६३ वर्ष बीत जाने पर पौष मास के शुक्ल पक्ष की पुण्या त्रयोदशी को ।
(८) पञ्चसु शतेषु शरदा यातेष्वेका-न्नवतिसहितेषु । मालवगरण-	काल ज्ञान के लिए लिखे गये मालव गणराज्य की स्थापना से ५८६

१. बरनाला-अभिलेख ।
२ बडवा-यूप-अभिलेख, एपि० इण्डि०, खण्ड २३, पृ० ५२ ।
३ बरनाला-अभिलेख ।
४ विजयगढ-अभिलेख ।
५. मन्दसोर-अभिलेख, एपि० इण्डि०, खण्ड १२, पृ० ३२० ।
६ कुमारगुप्त और बन्धुवर्मन का मन्दसोर-अभिलेख, फ्लीट, कार्प० इन्स० इण्डि०, खण्ड ३, पृ० ८१ इत्यादि ।

	मूल	हिन्दी अनुवाद
	स्थितिवशात्कालज्ञानाय लिखितेषु ॥ यस्मिन् . कुसुमसमयमासे ।[1]	वर्ष (शरद ऋतुएँ) व्यतीत हो जाने पर जिसे..... वसंत ऋतु मे ।
(९)	संवत्सरशतैः यातैः सपञ्चनवत्यर्गलैं सप्तभिर्मालवेशाना ।[2]	मालवेशो के संवत् ७९५ मे ।
(१०)	वसुनवाष्टौ वर्षागतस्य कालस्य विक्रमाख्यस्य वैशाखस्य सितायां रविवारयुत द्वितीया चन्द्रे रोहिणिसंयुक्ते लग्ने सिंहस्य शोभने योगे ।[3]	विक्रम संवत् ८९८ वैशाख मास शुक्ल पक्ष रोहिणी नक्षत्र युक्त लग्न तथा शुभ सिंह योग, रविवार की द्वितीया को।
(११)	मालव-कालाच्छरदा षट्त्रिंशत् संयुतेष्वतीतेषु नवसु शतेषु मधाविह ।[4]	मालवकाल के अनुसार ९३६ शरद् ऋतुओ के व्यतीत हो जाने पर मधु (वसन्त) ऋतु मे ।
(१२)	राम-गिरि-नन्द-कलिते विक्रम-काले गते तु शुचिमासे ।[5]	विक्रम संवत् के ९ (नन्द) ७ (गिरि) ३ (राम) अर्थात् ९७३ वर्ष व्यतीत हो जाने पर शुद्धमास (ज्येष्ठ या आषाढ) मे ।
(१३)	विक्रम-संवत्सर ११०३ फाल्गुण (न) शुक्लपक्ष तृतीया ।[6]	विक्रम संवत् ११०३ से फाल्गुन मास के शुक्लपक्ष की तृतीया ।

---

१. यशोधर्मन या विष्णुवर्धन का मन्दसोर-अभिलेख, फ्लीट, कार्प० इन्स० इण्डि०, खण्ड ३, पृ० १६२ इत्यादि ।
२. शिवगण का कणस्व-अभिलेख, इण्डि० एण्टि, खण्ड १९, पृ० ५९ ।
३. चण्डमहासेन का धौलपुर-अभिलेख ।
४. ग्यारसपुर-अभिलेख ।
५. राष्ट्रकूट विदग्धराज का बीजापुर-अभिलेख ।
६. ओसिया (जोधपुर)-अभिलेख ।

२२. तिथि-अंकन विधि

(१) स० २८२ से ११०३ तथा उसके वाद तक नियमित और क्रमबद्ध सवत् का प्रयोग हुआ है।

(२) वही सवत् वाद के कालो मे कृत, मालव तथा विक्रम कहा गया है।

(३) उपरिनिर्दिष्ट तीनो संवत् समकालीन और अभिन्न हैं।

(४) प्रारम्भिक अभिलेखो के वास्तविक तिथि-अकन मे सर्वप्रथम सवत् का नाम, फिर वर्ष संख्या तथा इसके वाद मास, पक्ष तथा तिथि का उल्लेख हुआ है, वाद के कुछ अभिलेखो मे दिन, नक्षत्र और योग भी दिये गये हैं।

(५) वाद के कुछ पद्यात्मक अभिलेखो मे ऊपर का क्रम वदल गया है, पहले वर्ष सख्या, उसके बाद सवत का नाम और फिर तिथि, मास, ऋतु इत्यादि दिये गये हैं।

(६) नवी शताब्दी के बाद कुछ अभिलेखो मे प्रतीकात्मक शब्दो द्वारा वर्ष सख्या का निर्देश किया गया है।

२३. कृत, मालव तथा विक्रम सवतो की उत्पत्ति तथा पहचान[1]

ज्योतिषपरक गणना तथा प्रादेशिक तथ्यो के आधार पर प्रतिष्ठित विद्वान् इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि कृत संवत्, मालव सवत् तथा विक्रम संवत्, तीनो ही ५७ ई० पू० से प्रारम्भ होने वाले, समकालीन तथा अभिन्न है।[2] इन तीनो सवतो की अभिन्नता सिद्ध हो जाने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि विक्रमादित्य द्वारा सस्थापित सवत् का प्रचलन गत बीस शताब्दियो मे वना रहा है। किन्तु यह प्रश्न उपस्थित हो सकता है कि यदि इस सवत् के संस्थापक विक्रमादित्य थे तो संवत् के प्रारम्भिक काल मे इसे विक्रमादित्य के नाम पर क्यो नही अभिहित किया जाता ? इसे पहले कृत सवत्, इसके वाद मालवो या मालव-गण या मालव राजाओ का सवत् कहा जाता था और वाद को इसका अभिधान विक्रम सवत् होता है। इस शङ्का का समाधान सरल है, जिसे इस प्रकार स्पष्ट किया जा सकता है।

---

१ यह अश लेखक की एक अन्य कृति 'विक्रमादित्य ऑफ उज्जयिनी', पृ० ५-६ से अपनाया गया है।

२. डा० ए० एस० आल्तेकर. 'सह्याद्रि' अक्टूबर १९४३. नागरीप्रचारिणी पत्रिका, विक्रमाक सवत् २०००।

विक्रम सवत् का प्रारभिक काल मे उल्लेख न होने का स्पष्टीकरण

विक्रमादित्य गणराज्य के गणमुख्य थे, न कि निरंकुश शासक।[1] यद्यपि इस सवत् की स्थापना मे वे प्रमुख सहायक थे किन्तु उन्हे इसका सस्थापक नही कहा जा सकता। जनसत्तात्मक गणराज्य मे गण का महत्त्व नेता या मुखिया के महत्त्व से अधिक होता था, वह मुखिया चाहे कितना ही प्रभावशाली क्यो न हो। युद्ध मे विजय जैसी उपलब्धियो का भागी सम्पूर्ण गण होता था, क्योकि एक ही व्यक्ति को श्रेय दिये जाने पर फूट पडने की शका थी। ऐसी परिस्थितियो मे मालवगण के आधार पर सवत् का नामकरण हुआ। बर्बर शको पर मालवगण की विजय के स्मारक स्वरूप सवत् चलाया गया। भारत से शको के निष्कासन से देश विदेशी आक्रमण से मुक्त हो गया, शान्ति और सम्पन्नता का युग उद्घाटित हुआ जिसे आलकारिक रूप से कृतयुग (सतयुग) समझा जा सकता था। इसलिए पहले सवत् का कृत नाम सार्थक था। भारतीय ज्योतिष मे कृत केवल युग का क्रमिक विभाग नही, अपितु सुखी और समृद्ध युग का भी बोधक है। ऐतरेय ब्राह्मण के एक छद से यह स्पष्ट हो जाता है। छद का अनुवाद इस प्रकार है : सोया हुआ कलि है, जँभाई लेता हुआ द्वापर है, उठकर खडा हुआ त्रेता है और अग्रसर होता हुआ कृत है।[2] वह युग, जिसमे भारतीय जन मालवगण के नेतृत्व में उठ खडे हो, स्वदेश की रक्षा हेतु अपने शत्रुओ के विरुद्ध अग्रसर हो रहे हो तथा अपनी विजयो के फल का उपभोग कर रहे हो, निस्सदेह कृत कहा जा सकता है।

विदेशी आक्रमणो से मुक्त भारत ने ५७ ई० पू० (जब सवत् की स्थापना हुई थी) से ७८ ई० तक अर्थात् १३५ वर्ष शान्ति और समृद्धि का उपभोग किया। इस काल के अन्त मे शको ने पुन अपने आक्रमण प्रारम्भ किये, देश मे सुयोग्य नेता के अभाव मे उन्होने सम्पूर्ण सिन्धु, सुराष्ट्र और अवन्ती पर अधिकार कर लिया। यद्यपि अवन्ती का भूभाग मालवो के हाथ से छिन गया, फिर भी उस सकट के उपरान्त उनकी राष्ट्रीयता बनी रही और अवन्ती पर पुन अधिकार करने एव एक बार फिर कृतयुग की स्थापना करने की आशा उनमे कई शताब्दियों तक पोषित होती रही। वे अवन्ती के उत्तर-पूर्व हट गये, जहाँ उन्होने

१. डा० राजबली पाण्डेय विक्रमादित्य आफ उज्जयिनी, अध्याय ६ तथा ८।
२. कलि: शयानो भवति सजिहानस्तु द्वापर।
उत्तिष्ठंस्त्रेता भवति कृत संपद्यते चरन्॥ ७। १५।

एक नये मालव देश का निर्माण किया[1], और ५७ ई० पू० मे सस्थापित सवत् अब भी कृत कहा जाता था। शको के साथ उनका युद्ध चलता रहा किन्तु अपनी शक्ति के असगंठन के कारण वे अपनी खोई हुई भूमि और कीर्ति को प्राप्त न कर सके। उनके कृतयुग के स्वप्न पर एक कठोर आघात हुआ। सवत् से कृत का नाम हटा दिया गया। किन्तु मालवगण अभी जीवित था, इसलिए शको को पराजित करके ५७ ई० पू० मे हुई मालवगण की सुदृढ सस्थापना का स्मारक इस सवत् को माना जाता था। यह सवत् मालव सवत् मालवगण सवत्, तथा मालवेश संवत् के नाम से भी अभिहित किया जाने लगा।

ईसा की चौथी और पाँचवी शताब्दियो से भारतीय इतिहास मे एक नवीन विकास हुआ। मालव सवत् से विक्रम सवत् के नाम परिवर्तन का यही कारण है। ईसा की चतुर्थ शताब्दी के पूर्वार्द्ध मे जब गुप्तो की शक्ति का उदय हो रहा था, गुप्त राज्य के पश्चिम-दक्षिण सीमा के परे मालव अब भी सशक्त था। समुद्रगुप्त द्वारा पराजित किन्तु अधीन मित्र के रूप मे छोड दिये गये गणराज्यो मे मालव प्रथम था।[2]

अगले महत्त्वाकांक्षी राजा चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य ने इन गणराज्यो के प्रति कडा रुख अपनाया। चन्द्रगुप्त ने उन्हे पराजित कर अपने साम्राज्य मे मिला लिया। इस प्रकार उनका अन्त हो गया। इसके बाद उनके विषय मे कुछ ज्ञात नही होता। गुप्त साम्राज्य उन्हें आत्मसात् करके मालव, राजपूताना तथा मध्यभारत मे फैल गया। गुप्तो ने ३१९-२० ई० से एक अपना सवत् प्रारम्भ किया। किन्तु स्वतन्त्रता का आदर्श, मालव लोग जिसके प्रतीक थे, मालव तथा राजपूताना क्षेत्रो के लोगो के हृदय मे अब भी घर बनाए हुए था। गुप्त शासन के होते हुए भी वे मालव सवत् का प्रयोग करते रहे और महान् गुप्त सम्राट् कुमारगुप्त को भी उन क्षेत्रो मे मालव सवत् स्वीकार करना पडा। ईसा की छठी शताब्दी मे हूणो ने गुप्त सामाज्य को नष्ट कर दिया और भारतीयो ने पूर्णतया कृतयुग की आशा छोड दी। गुप्तो को वे शीघ्र ही भूल गये, किन्तु मालव अपनी स्मृति मे अब भी अवशिष्ट रहा। विदेशी अधिकार से मुक्त होने के राजनीतिक आदर्शो के लिए मालववासियो के त्याग और बलिदान तथा उनके नेता विक्रमादित्य के महान् व्यक्तित्व के कारण इतिहास मे मालव की जीवनी शक्ति अधिक थी।

---

१ महता स्वशक्तिगुरुणा पौरुषेण प्रथम-चन्द्र-दर्शन (मिव) मालवगण-विषयमवतारयित्वा। नन्दसा-यूप-अभि०, एपि० इण्डि०, खण्ड २७।

२. मालवार्जुनायन-यौधेय-मद्रकाभीर-प्रार्जुन-सनकानीक-काक-खरपरिकादि, फ्लीट, कार्प० इन्स० इण्डि०, खण्ड ३, स० १, पृ० १-२७।

ईसा की आठवी और नवी शताब्दी तक अपनी सम्पूर्ण उलझनो के साथ राजतन्त्र भारत मे स्थिर हो गया था। गणराज्य की कल्पना भी भारतीयो के मस्तिष्क-क्षितिज के परे हट गयी। नवी शताब्दी के अन्तिम दशक मे मालवगण तो विक्रमादित्य के प्रकाशपुंजित व्यक्तित्व मे सदा के लिए विलीन हो गया, लेकिन विक्रमादित्य की स्मृति अब भी लोगो के मानस-पटल पर प्रतिष्ठित रही और सवत् उनके नाम ही पर पुकारा जाता रहा। स्वय विक्रमादित्य राजा समझे जाने लगे और संवत् भी कभी-कभी राजा विक्रम या विक्रमादित्य का संवत् कहा जाता था। भारतीय जनो के मानस मे गणतन्त्रात्मकता से राजतन्त्रात्मकता का यह परिवर्तन अनोखा नही है। कुछ प्रतिष्ठित विद्वानो के अतिरिक्त आज कौन जानता है कि भगवान् कृष्ण एक गण-नेता तथा भगवान् बुद्ध के पिता एक गण के मुखिया थे ?

ज्योतिष ग्रन्थो मे विक्रम सवत् की अविद्यमानता का कारण अति सरल ढग से बताया जा सकता है। यद्यपि अपने प्रथम आक्रमण मे शक पीछे हटा दिये गये थे, किन्तु लगभग ७८ ई० मे उन्होने नया आक्रमण किया। अवन्ती को जीत कर उज्जयिनी को उन्होंने अपनी राजधानी बनाया। 'प्रभावक-चरित' से यह भी विदित होता है कि ७८ ई० मे उन्होने शक सवत् चलाया। उज्जयिनी उन दिनो विद्या तथा ज्योतिष-अनुसधान का केन्द्र थी। अन्य विद्वानो की भाँति ज्योतिर्विद उज्जयिनी मे उस समय भी एकत्र होते थे जबकि वह शको के अधीन थी। मालवो को अवन्ती से उत्तर-पूर्व की ओर हट जाना पडा, उज्जयिनी को मालव सवत् छोडने के लिए विवश होना पडा और उसके स्थान पर शको द्वारा चलाये गये सवत् को ग्रहण करने के लिए मजबूर होना पडा। लगभग ३०० वर्ष की लम्बी अवधि मे, जब शक मालव और अवन्ती पर शासन कर रहे थे, अवन्ती मे मालव सवत् के पुनर्जीवित होने का कोई अवसर नही था। ज्योतिर्विद राजकीय शक सवत् का प्रयोग करते थे। प्रारम्भ मे उन्होने विवशतावश ऐसा किया, किन्तु बाद मे यह प्रथा का सूचक बन गया और वे इसके अभ्यस्त हो गये। बाद मे शालिवाहन के नाम के सयोग से यह पवित्र समझा जाने लगा तथा इसका प्रचार पहले मे अधिक हो गया। गुप्तों ने अवन्ती को जीतकर लगभग १५० वर्ष उस पर शासन किया। गुप्तो का अपना सवत् सरकारी काम-काज के लिए था। ज्योतिर्विद, जो अब तक रूढिवादी बन गये थे, शक शालिवाहन सवत् से ही सतुष्ट रहे और उसी का प्रयोग करते रहे। गुप्त संवत् को उन्होने ग्रहण नही किया। गुप्तो की शक्ति के विलीन हो जाने

पर भी मालव संवत् प्रचलित था, किन्तु ज्योतिर्विदो ने अपनी तिथि-अकन-पद्धति को परिवर्तित नही किया। यह दशा केवल मध्य भारत और दक्षिण मे ही नही थी, जहाँ शक सवत् व्यापक रूप से प्रचलित एव जनप्रिय था, अपितु उत्तर भारत मे भी थी, जहाँ विक्रम सम्वत् अपने वर्तमान नाम से अतिव्यापक हो गया था। १९वी शताब्दी तक ज्योतिर्विद तथा फलित ज्योतिषी अपनी रचनाओ मे शक सम्वत् का प्रयोग बराबर करते रहे। इसका कारण विशेष रूप से शक शालिवाहन सम्वत् से उनका सन्तोष-भाव तथा आशिक रूप से उनमे उचित राजनीतिक दृष्टि का अभाव था।[1]

विक्रम सवत् का उद्गम विन्दु

कलि, विक्रम तथा ईसा सम्वतो के पारस्परिक मिलान से विक्रम सम्वत् के प्रारम्भ होने की तिथि प्राप्त हो सकती है। सन् १९७८ ई० मे इन सवतो के वर्षों की सख्या इस प्रकार है :

कलि सवत्	५०७८
विक्रम सवत्	२०३४-३५
ईसा संवत्	१९७८

इस प्रकार कलि सवत् (५०७८—२०३४=) ३०४४ मे तथा विक्रम सम्वत् २०३५—१९७८=) ५७ ई० पू० मे प्रारम्भ हुआ। शक सम्वत् मे १३५ वर्ष जोड देने से विक्रम सम्वत् (जैसे १८९९+१३५=) २०३४ प्राप्त होता है। उत्तर भारत मे विक्रम सवत् चैत्र शुक्ल प्रतिपदा से किन्तु गुजरात एव दक्षिण भारत मे कार्तिक शुक्ल प्रतिपदा से प्रारम्भ होता है। उत्तर मे विक्रम सवत् पूर्णिमान्त तथा दक्षिण मे अमान्त है। बंगाल के अतिरिक्त, जहाँ फसली सवत् (हिजरी सम्वत् का परिवर्तित रूप) अपनाया गया है, सम्पूर्ण उत्तरी भारत मे विक्रम सम्वत् प्रचलित है। सुराष्ट्र और आन्ध्र मे भी इस सवत् का प्रयोग होता है।

२४. गुप्तो, उनके समकालीनो तथा उत्तराधिकारियो का अभिलेख

गुप्तो का सबसे महत्त्वपूर्ण राजकीय लेख समुद्रगुप्त की प्रयाग प्रशस्ति है,

---

१ आर्यभट्ट से लेकर गोविन्द शास्त्री तक प्रत्येक भारतीय ज्योतिर्विद के इतिहास के लिए देखिए, सुधाकर द्विवेदो, काशी, की 'गणक-तरङ्गिणी'।

जो बिना तिथि के है। यह अति विचित्र बात है। गुप्त वंश के प्रथम तीन शासकों ने तिथि-युक्त या तिथि-विहीन किसी भी तरह के अभिलेख नही छोडे हैं। समुद्रगुप्त के दो तिथि-युक्त अभिलेख प्राप्त हुए है, किन्तु वे जाली प्रमाणित किये गये हैं और उनका समय समुद्रगुप्त के समय से बहुत बाद का है। तिथि-युक्त अभिलेख चन्द्रगुप्त द्वितीय के शासन काल के उपलब्ध होते हैं।

मूल	हिन्दी अनुवाद
(१) श्रीचन्द्रगुप्तस्य विजयराज्य-संवत्सरे पंचमे ५ कालानुवर्तमान-संवत्सरे एक षष्ठे (एक षष्ठितमे) [आषाढ मासे] प्रथमे शुक्लदिवसे पंचम्या।[1]	श्रीचन्द्रगुप्त के पाँचवें विजयपूर्ण शासन-वर्ष तथा प्रारम्भ मे आते हुए संवत् के ६१वें वर्ष के प्रथम आषाढ मास की पञ्चमी तिथि को।
(२) संवत्सरे ८०+२ आषाढ मास शुक्लैकादश्याम्।[2]	(गुप्त) संवत् ८२ मे आषाढ मास के शुक्ल पक्ष की एकादशी को।
(३) सं० ९०+३ भाद्रपद दि० ४।[3]	(गुप्त) संवत् ९३ के भाद्रपद मास के चौथे दिन।
(४) संवत्सर-शते त्रयोदशोत्तरे १००+१०+३ .....।[4]	(गुप्त) संवत्सर ११३ मे....।
(५) श्री कुमारगुप्तस्य विजय राज्य-संवत्सरशते सप्तदशोत्तरे कार्तिक-मासे दशम दिवसे।[5]	श्री कुमारगुप्त के विजयी शासन-काल मे (गुप्त) संवत् ११७ के कार्तिक मास के दसवें दिन।
(६) सम्व (संवत्) १००+२०+४	जब परम-दैवत-भट्टारक महाराजाधि-

१ चन्द्रगुप्त द्वितीय का मथुरा-स्तम्भ-अभिलेख, एपि० इण्डि०, खण्ड २१, पृ० ८ इत्यादि।

२ चन्द्रगुप्त द्वितीय का उदयगिरि-गुहा-अभिलेख, फ्लीट कार्प० इन्स० इण्डि०, खण्ड ३, पृ० २५।

३ चन्द्रगुप्त द्वितीय का साँची-प्रस्तर-अभिलेख, फ्लीट कार्प० इन्स० इण्डि०, खण्ड ३, पृ० ३१ इत्यादि।

४. कुमारगुप्त प्रथम का धनैदह-ताम्रपत्र-अभिलेख, एपि० इण्डि०, खण्ड १७, पृ० २४३ इत्यादि।

५. कुमारगुप्त प्रथम के शासन काल का करमदण्डा-प्रस्तर-लिङ्ग-अभिलेख, एपि० इण्डि०, खण्ड १०, पृ० ७१ इत्यादि।

	मूल	हिन्दी अनुवाद
	फाल्गुरण (न) दि० ७ परम-दैवत-भट्टारक महाराजाधिराज-श्रीकुमारगुप्ते पृथिवीपतौ ।[1]	राज श्री कुमारगुप्त पृथ्वीपति थे। (गुप्त) स० १२४ के फाल्गुन मास के सातवें दिन।
(७)	गुप्तान्वयाना वसुधेश्वराणा समा-शते षोडशवर्ष युक्ते । कुमारगुप्ते नृपतौ पृथिव्या विराजमानेशर-दीवसूर्ये ।[2]	गुप्तवशी राजाओ के ११६ वर्ष व्यतीत हो जाने पर पृथिवी पर राजा कुमारगुप्त के शरद्कालीन सूर्य के समान प्रकाशमान रहने पर।
(८)	सवत्सराणामधिके शतेतु त्रिशद्भि-रन्यैरपिषड्भिरेव । रात्रौ दिने-प्रौष्ठपदस्य षष्ठे गुप्तप्रकाले गणना विधाय ।[3]	गुप्त सवत् की गणना के अनुसार सवत्सर १३६ मे प्रौष्ठपद के छठे दिन की रात को।
(९)	सवत्सराणामधिके शतेतु त्रिशद्भि-रन्यैरपि सप्तभिश्च गुप्त-प्रकाले ......ग्रैष्मस्य मासस्य तु पूर्व-पक्षे....प्रथमेऽह्निसम्यक् ।[4]	गुप्त संवत् के सवत्सर १३७ मे... ग्रीष्म मास (वैशाख) के पूर्व पक्ष के ......प्रथम दिन।
(१०)	वर्षशतेऽष्टात्रिंशे गुप्ताना काल-क्रम-गणिते ।[5]	गुप्तो के कालक्रम के अनुसार गणना करने पर स० १३८ मे।
(११)	श्री स्कन्दगुप्तस्याभिवर्द्धमान-विजयराज्य सवत्सरशते षट्-	श्री स्कन्दगुप्त के वृद्धि-विजय-सम्पन्न शासन काल मे (गुप्तकाल के) स०

१. कुमारगुप्त प्रथम के शासनकाल का दामोदरपुर-ताम्रपत्र-अभिलेख, एपि० इण्डि०, खण्ड १५, पृ० १३० इत्यादि।
२ घटोत्कचगुप्त का खण्डित तुमैन-अभिलेख, इण्डि० एण्टि०, खड २४ (१६२०), पृ० ११४-११५।
३. स्कन्दगुप्त का जूनागढ-अभिलेख, फ्लीट कार्प० इन्स० इण्डि०, खण्ड ३, पृ० ५८ और आगे इत्यादि।
४. वही।
५ वही।

मूल	हिन्दी अनुवाद
चत्वारिंशदुत्तरतमे फाल्गुनमासे ।[1]	१४६ के फाल्गुन मास मे ।
(१२) वर्षशते गुप्ताना सचतुः पञ्चाशदुत्तरे। भूमिं रक्षति कुमारगुप्ते मासि ज्येष्ठे द्वितीयायाम् ।[2]	गुप्त सवत् १५४ मे, जब कुमारगुप्त पृथिवी की रक्षा कर रहे थे, ज्येष्ठ मास की द्वितीया को ।
(१३) गुप्ताना समतिक्रान्ते सप्तपचाशदुत्तरे । शते समाना पृथिवी बुधगुप्ते प्रशासति ॥ (वैशाख-मास-सप्तम्या मूले श्यामगते ।)[3]	जब गुप्त सवत् के १५७ वर्ष व्यतीत हो चुके थे तथा बुद्धगुप्त पृथिवी का शासन कर रहे थे (वैशाख मास के कृष्णपक्ष की सप्तमी को मूल नक्षत्र मे)
(१४) स० १००+६०+३ आषाढ दि १०+३ परमदैवत-परमभट्टारक-महाराजाधिराज-श्रीबुधगुप्ते पृथिवी-पतौ ।[4]	(गुप्त) सवत् १६३ के आषाढ मास की त्रयोदशी को जब परमदैवत-परम-भट्टारक महाराजाधिराज श्रीबुध-गुप्त पृथिवी के स्वामी थे ।
(१५) वर्तमानाष्टाशीत्युत्तरशत सवत्सरे पौषमासस्य चतुर्विंशतितम दिवसे ।[5]	(गुप्त) संवत् १८८ के पौष मास के चौबीसवें दिन ।
(१६) सवत्सरशते एकनवत्युत्तरे श्रवण-बहुलपक्ष-सप्तम्या । सवत् १००	(गुप्त) सवतसर १९१ के श्रावण मास के बहुलपक्ष की सप्तमी को जब पार्थ

१. स्कन्दगुप्त का इन्दौर-ताम्रपत्र-अभिलेख, फ्लीट : कार्प० इन्स० इण्डि०, खड ३, पृ० ७० इत्यादि ।

२. कुमारगुप्त द्वितीय के शासन काल का सारनाथ-प्रस्तर-मूर्ति-अभिलेख, आर्क० सर्वे० इण्डि० ए० रि० १९१४-१५, पृ० १२४ ।

३. बुधगुप्त के शासनकाल का सारनाथ-प्रस्तर-मूर्ति-अभिलेख, आर्क० सर्वे० इण्डि०, ए० रि० १९१४–१५, पृ० १२४-१२५ ।

४. बुधगुप्त के शासनकाल का दामोदरपुर-ताम्रपत्र-अभिलेख, एपि० इण्डि०, खंड १५, पृ० १३५ इत्यादि ।

५. वैन्यगुप्त का गुणैघर-ताम्रपत्र-अभिलेख, इण्डि० हिस्ट० क्वा०, खण्ड ६, पृ० ५३ इत्यादि ।

	मूल	हिन्दी अनुवाद
	+६०+१ श्रावण ब० दि० ७।। श्रीभानुगुप्तो जगति प्रवीरो राजा महान्पार्थसमोऽतिशूर ।[१]	के समान जगत् मे प्रवीर राजा श्रीभानुगुप्त विद्यमान थे।
(१७)	स० १००+५०+६ माघ दि० ७।[२]	(गुप्त) स० १५६ के माघ मास के सातवे दिन।
(१८)	लिखित सवत्सरशते त्रिनवत्युत्तरे चैत्रमास दिवसे दशमे।[३]	(गुप्त) सवत् १६३ के चैत्रमास के दसवे दिन लिखा गया।
(१९)	नवोत्तरेऽब्दशतद्वये गुप्तनृप राज्यभुक्तौ श्रीमति प्रवर्द्धमान-विजय-राज्ये महाश्वयुज-सवत्सरे चैत्रमासशुक्ल-पक्ष-त्रयोदश्यामस्या सवत्सर मास-दिवस पूर्वायां।[४]	महाश्वयुज संवत्सर २०९ के चैत्र मास के शुक्लपक्ष मे जब गुप्त राजा राज्य का उपभोग कर रहे थे प्रवर्द्धमान विजय-राज्य मे, पूर्वोक्त सवत्सर मास दिवस त्रयोदशी को।
(२०)	वर्षे प्रथमे पृथिवी पृथुकीर्तौ पृथुद्युतौ। महाराजाधिराज श्री तोरमाणे प्रशासति। फाल्गुन दिवस दशमे।[५]	प्रथम वर्ष मे, जब विशाल कीर्ति और द्युति वाले महाराजाधिराज तोरमाण पृथिवी पर शासन कर रहे थे, फाल्गुन मास के दसवे दिन।
(२१)	तस्मिन्राजनि शासति पृथिवी पृथुविमल लोचनेऽर्तिहरे।	उस विशाल और विमल लोचनो वाले तथा दुःखो को हरण करने वाले राजा

१ भानुगुप्त के शासनकाल का एरण-प्रस्तर-स्तम्भ-अभिलेख, फ्लीट कार्प० इन्स० इण्डि०, खण्ड ३, पृ० ९२ इत्यादि।

२ पगारापुर-ताम्रपत्र-अभिलेख, एपि० इण्डि०, खण्ड २०, पृ० ६१ इत्यादि।

३ सर्वनाथ का खोह-ताम्रपत्र-अभिलेख, फ्लीट कार्प० इन्स० इण्डि०, खण्ड ३, पृ० १२५ इत्यादि।

४ सक्षोभ का खोह-ताम्रपत्र-अभिलेख, फ्लीट: कार्प० इन्स० इण्डि०, खण्ड ३, पृ० ११४ इत्यादि।

५. तोरमाण का एरण-प्रस्तर-वराह-अभिलेख, फ्लीट कार्प० इन्स० इण्डि०, खण्ड ३, पृ० १५९ इत्यादि।

मूल	हिन्दी अनुवाद
अभिवर्द्धमान राज्ये पञ्चदशाब्दे नृपवृषण्य ॥ राशिरश्मि-ह्रास-विकसित- कुमुदोत्पन्न गन्धे शीतलामोदे । कार्तिकमासे प्राप्ते गगनपतौ निर्मले भाति ।[1]	के पृथिवी के शासन करते हुए नृप श्रेष्ठ के अभिवर्द्धमान राज्य के पन्द्रहवे वर्ष, (चन्द्रमा के) रश्मि-पुञ्ज के ह्रास मे विकसित हुए कुमुदो से उत्पन्न गन्ध से सुवासित शीतल कार्तिक मास के आने पर, जब निर्मल गगन-पति (चन्द्रमा) सुशोभित था ।
(२२) स० २००+५०+२ वैशाख ब १०+५ ।[2]	(गुप्त वलभी) सं० २५२ के वैशाख मास के कृष्ण पक्ष की अमावस्या को ।
(२३) सव (संवत्) ४००+४०+७ ज्ये (ज्ये) ष्ठ गु (शु) ५ ॥[3]	(गुप्त-वलभी) संवत् के ज्येष्ठ मास के शुक्ल पक्ष की पञ्चमी को ।

२५. तिथि-अकन की प्रमुख विशेषताएँ

(१) इन अभिलेखो मे हूणो द्वारा अनुष्ठित अभिलेखो को छोड एक नियमित और अनवरत सम्वत् का प्रयोग किया गया है । प्रारम्भिक वर्षो मे 'गुप्त' शब्द सवत् के साथ नही लगा है ।

(२) कुछ अभिलेखो मे नियमित सम्वत् के साथ ही साथ शासन करने वाले राजा का शासन वर्ष भी दिया गया है ।

(३) तिथि के विवरण मे सवत्सर, ऋतु, मास, पक्ष, तिथि तथा कभी-कभी नक्षत्र भी दिया रहता है ।

(४) प्रशस्त्यात्मक और समर्पणात्मक अभिलेखो मे तिथि-अकन काव्यात्मक छन्दोमय तथा सविस्तर है किन्तु ताम्रपत्र-अनुशासनो मे यह सक्षिप्त, सरल तथा गद्यमय है ।

---

१ मिहिरकुल का ग्वालियर-प्रस्तर-अभिलेख, फ्लीट : कार्प० इन्स० इण्डि०, खण्ड ३, पृ० १६० इत्यादि ।

२ महाराज धरसेन द्वितीय का मलिय-ताम्रपत्र-अभिलेख, फ्लीट कार्प० इन्स० इण्डि० खण्ड ३, पृ० १६४ इत्यादि ।

३ शीलादित्य सप्तम का अलिन-ताम्रपत्र-अभिलेख, फ्लीट : कार्प० इन्स० इण्डि०, खण्ड ३, पृ० १७१ इत्यादि ।

(५) भारतीय तिथि-अंकन-पद्धति के अन्य विवरणो के साथ हूण आक्रान्ता तोरमाण और मिहिरकुल अपने-अपने शासन सवत्सरो का प्रयोग किया करते थे।

(६) तिथि-अकन की विधि मे कोई कडी एकरूपता नही है।

२९. गुप्त सवत् की स्थापना और उसका प्रचलन

विचाराधीन सम्वत् को गुप्तकाल, गुप्तप्रकाल तथा गुप्तवर्ष कहा गया है। स्पष्ट है कि सम्वत् की स्थापना किसी प्रारभिक गुप्त राजा ने की होगी। समुद्रगुप्त के प्रयाग-स्तम्भ-अभिलेख मे प्रथम दो गुप्त राजाओ—श्रीगुप्त और घटोत्कच—को केवल महाराज कहा गया है। इससे उनकी अधीन स्थिति परिलक्षित होती है। तीसरे राजा चन्द्रगुप्त को महाराजाधिराज की उपाधि दी गई है जिससे उसका सम्राट् होना स्पष्ट है। इससे यह अनुमान किया जाता है कि गुप्तवंश के तीसरे राजा चन्द्रगुप्त प्रथम ने सम्वत् की स्थापना की। चन्द्रगुप्त द्वितीय (चन्द्रगुप्त प्रथम के पौत्र) के सबसे बाद के अभिलेख की तिथि गुप्त सम्वत् ९३ है तथा कुमारगुप्त प्रथम (चन्द्रगुप्त प्रथम के प्रपौत्र) के सबसे पहले लेख की तिथि गुप्त सम्वत् ९६ है।

इन परिस्थितियो मे निरापद रूप से चन्द्रगुप्त द्वितीय की मृत्यु गुप्त सवत् ९५ मे मानी जा सकती है। यदि हम यह मान ले कि चन्द्रगुप्त प्रथम का शासन गुप्त संवत् १ मे प्रारम्भ हुआ तो तीन राजाओ का शासन काल ९५ वर्ष आता है। कुछ लोगो को तीन राजाओ के शासनकाल के लिए ९५ वर्ष अत्यधिक प्रतीत होता है। किन्तु उन्हे स्मरण रहना चाहिये कि तीन मुगल शासको—अकबर, जहाँगीर तथा शाहजहाँ—ने १०२ वर्ष (१५५६–१६५८ ई०) शासन किया। यह सत्य इस अनुमान की पुष्टि करता है कि चन्द्रगुप्त प्रथम ने ही, सम्भवतः गुप्त सम्वत् की स्थापना की होगी।

गुप्त सम्वत् की स्थापना की तिथि क्या है ? अलबरूनी यहाँ हमारी सहायता करता है। वह लिखता है, "और गुप्त सम्वत् के सम्बन्ध मे, ऐसा कहा जाता है कि इस वश के लोग क्रूर और शक्तिशाली जाति के थे अत. उनके पतन के बाद लोग उनके काल से तिथि-गणना करने लगे। और ऐसा प्रतीत होता है है कि वलभी उनमे अन्तिम थी। इस प्रकार उनके सम्वत् का प्रारम्भ भी शक सवत् से २४१ (वर्ष) बाद होता है. .अतः श्री हर्ष सम्वत् के १४८८ सवत्सर इस (याज्दाजीर्द) वर्ष के, जिसे हमने मापदण्ड माना है, तथा विक्रम सम्वत्

१०८८, शक संवत् ९५३ एवं वलभी संवत् ७१२ जो गुप्त संवत् ही है, के बराबर आता है।"[1] इस कथन के अनुसार शक सम्वत् और गुप्त संवत् में २४१ (९५३-७१२) वर्ष का अन्तर है। शक संवत् सन् ७८ ई० में प्रारम्भ हुआ था। इस प्रकार गुप्त संवत् के प्रारम्भ होने का वर्ष २४१+७८=३१९ ई० है। गुप्त संवत् का वर्ष चैत्र मास के शुक्ल पक्ष की प्रतिपदा को प्रारम्भ होता है तथा पूर्णिमा को समाप्त होता है। अभिलेखों में इस संवत् के बीते हुए वर्ष लिये गये हैं। जब कभी उन्हें 'वर्तमान' कहा गया है तब इसका अभिप्राय है 'एक वर्ष और अधिक'।[2]

२७ वलभी संवत्

सुराष्ट्र में प्रचलित वलभी संवत् गुप्त संवत् ही था। वहाँ गुप्त शासन के अन्त के बाद वलभी के राजाओं ने गुप्त संवत् को तो अपनाया किन्तु उसका नाम बदल कर वलभी संवत् रख दिया। इस संवत् के विषय में अलबरूनी का कथन है, "और वलभी के विषय में जो अनहिलवाड के लगभग ३० योजन दक्षिण वलभी नगर का शासक था, इसका प्रारम्भ शक संवत् के बाद हुआ है और इसमें से छह के घन तथा पाँच के वर्ग का योग घटा देने से वलभी (संवत्) बच जाता है।[3] इस गणना में वलभी संवत् ७८+६^3+५^2=३१९ ई० में प्रारम्भ हुआ। यही गुप्त संवत् के प्रारम्भ का वर्ष है। इसलिए दोनों संवत् एक ही थे।

२८. वाकाटकों तथा दक्षिण तथा सुदूर दक्षिण में उनके समकालीनों के अभिलेख

(क) वाकाटकों के अभिलेख

मूल	हिन्दी अनुवाद
(१) संवत्सर ३०+७ हेमन्तपक्षं प्रथम दिवस ५।[4]	(विन्ध्यशक्ति द्वितीय के शासन) संवत्सर ३७ की हेमन्त ऋतु के प्रथम पक्ष के पाँचवें दिन।

१ सचाऊ : अल्बरूनीज इण्डिया, खण्ड २, पृ० ७।
२ ओझा : प्राचीन लिपिमाला, पृ० १८५।
३ सचाऊ : अल्बरूनीज इण्डिया, खण्ड २, पृ० ७।
४ विन्ध्यशक्ति द्वितीय का बेसिम-ताम्रपत्र-अभिलेख, इण्डि० हिस्ट० क्वा० खण्ड १६, पृ० १८२ इत्यादि।

मूल	हिन्दी अनुवाद
(२) सवत्सरे त्रयोदशमे (शे) लिखितमिद शासनम्।[1]	(प्रभावती गुप्ता के) १३वें (शासन) संवत्सर मे यह लिखा गया।
(३) सेनापती चित्रवर्मणि सवत्सरेऽष्टादश १०+८ जेष्ठमास शुक्लपक्ष त्रयोदशम्या।[2]	(प्रवरसेन द्वितीय के) १८वें (शासन) सवत्सर के ज्येष्ठ मास के शुक्लपक्ष की त्रयोदशी को, जब चित्रवर्मन सेनापति था।

(ख) **पल्लवो के अभिलेख**

मूल	हिन्दी अनुवाद
(१) सवच्छर दसम १० गिम्हापखो छठो ६ दिवस पचमि ५।[3]	(शिवस्कन्दवर्मन के) दसवे (शासन) सवत्सर मे ग्रीष्म छठे पक्ष के पाँचवें दिन।
(२) स (स्व) विजय-राज्य सवत्सरे चतुर्थेवैशाख शुक्ल पचम्या।[4]	सिहवर्मन के अपने चतुर्थ विजय-राज्य संवत्सर के वैशाख मास के शुक्लपक्ष की पच्चमी को।

(ग) **कदम्दों के अभिलेख**
(बिना तिथि के)

(घ) **पश्चिमी गङ्गो के अभिलेख**
(बिना तिथि के)

मूल	हिन्दी अनुवाद
(१) प्रवर्द्धमान स० ३०+९ वैशाख दि २०+१।[5]	(इन्द्रवर्मन् के) प्रवर्द्धमान ३९वें सवत्सर के वैशाख मास के २१वें दिन।

---

१ प्रभावतीगुप्ता का पूना-ताम्रपत्र-अभिलेख, एपि० इण्डि०, खण्ड १५, पृ० ४१ इत्यादि।
२ प्रवरसेन द्वितीय का चम्मक-ताम्रपत्र-अभिलेख, फ्लीट : कार्प० इन्स० इण्डि०, खण्ड ३, पृ० २३६ इत्यादि।
३ शिवस्कन्दवर्मन का मयिदवोलु-ताम्रपत्र-अभिलेख, एपि० एण्डि०, खण्ड ६, पृ० ८६ इत्यादि।
४ सिंहवमन् का नरसरावपेट-ताम्रपत्र-अभिलेख, एपि० इण्डि०, खण्ड १५, पृ० २५४ इत्यादि।
५ इन्द्रवर्मन् का जिजिगी-ताम्रपत्र-अभिलेख, एपि० इण्डि०, खण्ड २५, पृ० २८६ इत्यादि।

मूल	हिन्दी अनुवाद
(२) गाङ्गेयवंश (वंश) प्रवर्द्धमान विजयराज्य संवच्छर सताणि चतुरोनरा (संवत्सराणि त्रीणि-चतुरोत्तराणि)।[1]	गाङ्गेयवंश के ३०४ थे प्रवर्द्धमान विजय-राज्य सम्वत्सर में।
गाङ्गेयवंस (वंश) संवछ(त्स)र शतत्रयैक-पञ्चास(श)त्।[2]	गाङ्गेय वंश के ३५१वें संवत्सर में।

२९ तिथि-अंकन-विधि की प्रमुख विशेषताएँ

१ दक्षिण तथा सुदूर दक्षिण के राजवंश अपने अभिलेखों में अपने शासकों के राज्य-संवत्सरों में तिथि छोड़ते हैं, विक्रम, शक या गुप्त किसी भी नियमित अविच्छिन्न संवत् का उनमें प्रयोग नहीं है।

२ तिथि के विवरणों में, स्वाभाविक रीति से, उन्होंने आन्ध्र सातवाहन विधि का अनुसरण किया है।

३ कलिंग के पूर्वीय गङ्ग, जो दक्षिण या सुदूर दक्षिण की अपेक्षा उत्तर से अधिक सम्बन्धित थे, शैली तथा तिथि-अंकन के विवरणों में गुप्तों से प्रभावित थे। किन्तु वे अपने ही गाङ्गेय संवत् का प्रयोग करते थे।[3]

३०. मौखरी और पुष्यभूति वंश के अभिलेख

मूल	हिन्दी अनुवाद
(१) एकादशातिरिक्तेषु षट्सु शासित-विद्विषि। शतेषु शारदां पत्यौ भुवः श्रीशानवर्मणि॥[4]	जब (मालव विक्रम संवत् के) ६११ शरद ऋतुएँ व्यतीत हो गयी थीं और श्री ईशानवर्मन् पृथ्वीपति (राजा) थे।

---

१ अनन्तवर्मदेव का अभिलेख, एपि० इण्डि०, खण्ड ३, पृ० १८।
२ नरवर्मदेव का अभिलेख, इण्डि० एण्टि०, खण्ड १४, पृ० १२।
३ बार्नेट (एन्टिक्विटीज ऑफ इण्डिया, पृ० ६५) के अनुसार इस संवत् की प्रारम्भिक तिथि ७८० ई० तथा ओझा (प्राचीन लिपिमाला, पृ० १७३-१७४) के अनुसार ७७० ई० थी। दोनों ही तिथियाँ निराधार हैं। ऊपर उद्धृत इस वंश के प्रथम अभिलेख की शैली से प्रतीत होता है कि संवत् की स्थापना और पहले हुई थी।
४. ईशानवर्मन का हरहा-प्रस्तर-अभिलेख, एपि० इण्डि०, खण्ड १४, पृ० ११५।

मूल	हिन्दी अनुवाद
(२) सवत् २०+२ कार्तिक वदि १।[1]	(श्री हर्ष के राज्य) सवत् २२ के कार्तिक मास की कृष्णा प्रतिपदा को।
(३) सवत् २०+५ मार्गशीर्ष वदि ६।[2]	(श्री हर्ष के राज्य के) २५वें वर्ष के मार्गशीर्ष मास के कृष्ण पक्ष की षष्ठी को।
(४) संवत् ३०+४ प्रथम पौष शुक्ल-द्वितीयायाम्।[3]	(श्री हर्ष के राज्य के) ३४वें वर्ष के प्रथम पौष मास के शुक्ल पक्ष की द्वितीया को।

३१. तिथि-अकन विधि की प्रमुख विशेषताएँ

(१) मौखरियो ने गुप्तो की तिथि-अकन-प्रणाली की पद्यात्मक और काव्यात्मक शैली का अनुसरण किया है।[4]

(२) तथापि मौखरियो ने, गुप्त सवत् को नही अपनाया। ईशानवर्मन के हरहा-अभिलेख मे सवत्सर ६११ के साथ कोई नाम नही जुडा है।[5] किन्तु स्पष्ट है कि न तो यह शक सवत् है और न गुप्त सवत्, क्योकि दोनो अवस्थाओ मे ईशानवर्मन हर्ष के बाद आयेगा जो कि सम्भव नही है। इन परिस्थितियो मे स० ६११ का सम्बन्ध केवल मालव संवत् से हो सकता है। सम्भवत यह प्रथम उदाहरण है जब कि गुप्त शासन की समाप्ति के अनन्तर ही मालव संवत् पहली बार उस भूमि मे प्रकट होता है जो एक समय गुप्तो की निजी धरती थी। मालव नाम का अभाव भी विचारणीय है। मालव नाम का त्याग उन रहस्यमय मनोवृत्तियो को परिलक्षित करता है जिसके कारण 'मालव' को बदल कर 'विक्रम' कर दिया गया।

---

१. हर्ष का बाँसखेरा-ताम्रपत्र-अभिलेख, एपि० इण्डि० खण्ड ४, पृ २०८।
२ हर्ष का मधुवन-ताम्रपत्र-अभिलेख, एपि० इण्डि०, खण्ड १, पृ० ७२।
३. कीलहार्न नेपाल के अशुवर्मन् का अभिलेख। दि लिस्ट ऑफ दि इन्स्क्रिप्शन्स ऑफ नार्दन इण्डिया, पृ० ७३, सं० ५३०।
४. केवल ईशानवर्मन् का हरहा-प्रस्तर-अभिलेख (एपि० इण्डि० खण्ड १४, पृ० ११५) तिथि युक्त है। मौखरियो के अब तक प्राप्त हुए अन्य अभिलेख बिना तिथि के हैं।
५ एपि० इण्डि०, खण्ड १४, पृ० ११५।

(३) तिथि-अकन के विषय मे पुष्यभूति मौखरियो की अपेक्षा गुप्तो से अधिक अप्रभावित थे। हर्ष ने अपना निज का सवत् स्थापित किया, शैली पद्यात्मक से गद्यात्मक कर दी तथा अपने ताम्रपत्र-अभिलेखो मे उसने तिथि-अकन के सभी व्यर्थ के विवरणो को हटा दिया।

३२. हर्ष सवत्

इसमे किञ्चित् सदेह नही है कि हर्ष सवत् का संस्थापक पुष्यभूतिवश का सबसे बडा राजा तथा प्राचीन भारत का अन्तिम सम्राट् श्री हर्ष था, यद्यपि इस सवत् के साथ कभी उसका नाम जुडा हुआ नही पाया गया। इस सवत् की प्रारम्भिक तिथि पर अल्बरुनी के विवरण से पर्याप्त प्रकाश पडता है। वह लिखता है कि उसने काश्मीर के एक पञ्चाङ्ग मे एक उक्ति देखी, जिसके अनुसार विक्रमादित्य के ६६४ वर्ष बाद हर्ष हुआ।[1] इस उक्ति पर सन्देह करने का कोई कारण नही है। इस प्रकार हर्ष सवत् का प्रथम वर्ष ६६४-५७ = ६०६–७ ई० होगा। उत्तरी भारत तथा नेपाल मे लगभग ३०० वर्ष तक हर्ष सवत् प्रचलित रहा और उसके बाद उसका स्थान विक्रम सवत् ने ले लिया।

३३. पूर्व मध्यकालीन अभिलेख

मूल	हिन्दी अनुवाद
(१) सवत् १२२६ (फाल्गुनवदि) षट्विंशे द्वादशगते गुरोर्वारे च हस्तके। वृद्धिनामनि योगेत्र करणे तैतिले तथा॥[2]	(विक्रम) सवत् १२२६ के फाल्गुन मास के कृष्ण पक्ष के गुरुवार को हस्त नक्षत्र, वृद्धि योग तथा तैतिल करण मे।
(२) सवत् ११६६ पौषवदि १५ रवौ।[3]	(विक्रम) सवत् ११६६ के पौषमास के कृष्णपक्ष की अमावस्या, रविवार को।
(३) चतुष्पञ्चाशदधिकैकादश सवत्सरे माघे मासि शुक्लपक्षे तृतीयायां सोमदिने वाराणस्यामुत्त-	(विक्रम) स० ११५४ के माघ मास के शुक्लपक्ष की तृतीया, रविवार को वाराणसी मे उत्तरायण सक्रान्ति के

---

1. सचाऊ, अल्बरूनीज इण्डिया।
2. शिलालेख-प्रशस्ति १, ज० ए० एस० बङ्गाल, खण्ड ५५, पृ० ४१-४३।
3. गोविन्दचन्द्र का अभिलेख, इण्डि० एण्टि०, खण्ड १८, पृ० १५।

	मूल	हिन्दी अनुवाद
	रायण संक्रान्तौ अकतः संवत् १६५४ माघ सुदि ३ सोमे ।[1]	अवसर पर ।
(४)	सवत् ८ चन्द्रगत्या चैत्रकर्म-दिने ५ ।[2]	(मदनपाल) के ८वे (राज्य) संवत् के चैत्रमास के पाँचवे दिन ।
(५)	संवत् ११ वैशाखदिने १६ ।[3]	(बल्लालसेन के राज्य) सवत् ११ के वैशाख मास के १६वें दिन ।
(६)	श्रीलक्ष्मणसेनस्यातीतराज्ये स० ५१ भाद्रदिने २६ ।[4]	श्री लक्ष्मणसेन के राज्य के ५१वें अतीत वर्ष के भाद्रपद मास के २६वें दिन ।
(७)	श्रीलक्ष्मणसेनदेवपादानामतीति राज्ये स० ७४ वैशाखवदि १२ गुरौ ।[5]	श्री लक्ष्मणसेन के अतीत राज्य के ७४वे वर्ष के वैशाख मास के कृष्ण पक्ष की द्वादशी, गुरुवार को ।
(८)	सवत् १२२३ वैशाखसुदि ७ गुरुवासरे ।[6]	(विक्रम) सवत् १२२३ के वैशाख मास के शुक्ल पक्ष की सप्तमी, गुरुवार को ।
(९)	श्री विक्रमकालातीत षट्-पञ्चाशदधिक - द्वादशशत सवत्सरान्तः पाति अङ्के १२५६ वैशाख सुदि १५ पौर्णमास्या तिथि विशाखानक्षत्रे परिघ-योगे रविदिने महावैशाख्या पर्वणि ।[7]	श्री विक्रमकाल के वारह सौ छप्पन संवत्सरो के बीत जाने पर अको मे १२५६ के वैशाख मास के कृष्ण पक्ष की १४ पूर्णिमा तिथि को विशाखा नक्षत्र, परिघ योग, रविवार महा-वैशाखी पर्व पर ।

---

१ गहड़वाल-अभिलेख ।
२ मदनपाल का अभिलेख, ए० एस० जे०, खण्ड ६६, पृ० ११२ ।
३ वल्लालसेन का नैहाटी-अभिलेख, एपि० इण्डि०, खण्ड १४, पृ० १५६ ।
४ एपिग्रैफिया इण्डिका, खण्ड १२, पृ० २६ ।
५ वही, खण्ड १२, पृ० ३० ।
६ चन्देल परमर्दिदेव के सेमरा-पट्ट, एपि० इण्डि०, खण्ड ४, पृ० १५३ ।
७ उदयवर्मन परमार के भोपाल-पट्ट, एपि० इण्डि०, खण्ड १४, पृ० २५४-५५ ।

मूल	हिन्दी अनुवाद
(१०) कलचुरि संवत्सरे ८९३ राज-श्रीमत्पृथ्वीदेव राज्ये ।[1]	कलचुरि संवत् के ८९३वे संवत्सर मे राजा श्रीमत् पृथ्वीदेव के राज्य मे ।
(११) नवशत युगलाब्दाधिक्यगे चेदिदिष्टे जनपदमवतीन श्रीगयाकर्णदेवे । प्रतिपदि शुचिमास श्वेतपक्षेऽर्क-वारे शिवशरणसमीपे स्थापितेय प्रशस्ति ॥[2]	चेदि संवत् के ९०२रे वर्ष श्री गया कर्ण देव के राज्य मे शुचि) ज्येष्ठ या आषाढ) मास के शुक्लपक्ष की प्रतिपदा रविवार को शिव शरण के समीप यह प्रशस्ति स्थापित की गई ।
(१२) त्रिंशत्सु त्रिसहस्रेषु भारता-दाहवादित । सप्ताब्द शत-युक्तेषु गतेष्वब्देषु पञ्चसु ॥ पञ्चाशत्सु कलौ काले षट्सु पञ्चशतासु च । समासु समतीतासु शकानामपि भूभुजाम् ॥[3]	भारत युद्ध से तैंतीस सहस्र सात सौ पाँच वर्ष वीत जाने पर तथा कलियुग मे शक राजाओं के पाँच सौ छप्पन समान वर्षों के व्यतीत हो जाने पर ।
(१३) शकनृपकालेष्ठ (८ट) शते चतुरुत्तरविंशदुत्तरे सम्प्रगते दुंदुभिनामनि वर्षे प्रवर्तमाने जनानुरागोत्कर्षे ।[4]	जब शक राजा के काल के आठ सौ चौबीस वर्ष व्यतीत हो गये थे तथा लोगो के अनुराग से पूर्ण दुन्दुभि नाम का वर्ष चल रहा था ।
(१४) शकनृपकालातीत संवत्सरशतेषु नवसु षट्चत्वारिंशदधिकेषु अंकत संवत् ९४६ राक्षसी संवत्सरान्तर्गत वैशाख पौर्ण-मास्यामादित्यवारे ।[5]	शक राजा के काल के नौ सौ छियालिस वर्ष वीत जाने पर अंको मे संवत् ९४६, राक्षसी संवत्सर के वैशाख मास की पूर्णिमा के रविवार को ।

---

१. इण्डि० एण्टि०, खण्ड २०, पृ० ८४ ।
२. वही, खण्ड १८, पृ० २११ ।
३ वादामी के चालुक्य राजा पुलकेशिन द्वितीय के राज्यकाल का ऐहोल-प्रस्तर-अभिलेख, एपि० इण्डि० खण्ड ६, पृ० १ इत्यादि, श्लोक ३३-३४ ।
४. कृष्ण द्वितीय का मूलगुंड-अभिलेख, एपि० इण्डि० खण्ड १२, पृ० १९२ ।
५ कल्याण के जयसिंह चालुक्य के मिरजा-पट्ट, इण्डि० एण्टि०, खण्ड ८, पृ० १८७ ।

मूल	हिन्दी अनुवाद
(१५) श्री मच्चालुक्यविक्रमशालद १२ नेय प्रभव सवत्सर द० ।[1]	श्रीमत् चालुक्य विक्रम सवत् के प्रभव नाम के १२वे वर्ष ।
(१६) श्री वीरविक्रमकालनामधेय सवत्सरैकविंशति प्रमितेष्व-तीतेषु वर्तमान धातु संवत्सरे ।[2]	श्री वीर विक्रम नाम सवत् के २१ वर्ष वीत जाने पर वर्तमान काल के वर्ष मे ।
(१७) कशे (शके) १६०७ मार्गशिर-वदि अष्टमी मघानक्षत्र सोमदिने .. . नेपाल सम्वत् ८०६ ।[3]	शक सवत् १६०७ या नेपाल सवत् ८०६ के मार्गशीर्ष मास के कृष्ण पक्ष की अष्टमी को सोमवार मघा नक्षत्र मे ।

३४. तिथि-अकन-विधि की प्रमुख विशेषताएँ

(१) क्रमश उत्तरी भारत मे विक्रम संवत् प्रचलित और जनप्रिय होता गया है । इसका प्रमुख कारण मध्य भारत तथा राजस्थान से उस क्षेत्र मे राजवंशो का प्रसार था । श्वेताम्बर जैन इसे सुराष्ट्र ले गये तथा अन्यत्र भी उन्होने इसे प्रचारित किया। उज्जयिनी मे शको के पराभव के पश्चात् शक सवत् उत्तर मे अपने स्थान पर टिक न सका, विक्रम सवत् के नये नाम से कृत-मालव सवत् ने पुनः अपने गौरव को प्राप्त किया एव जब ज्योतिर्विदो तथा फलित ज्योतिषाचार्यों ने इसे अपना लिया तब उत्तरी भारत मे यह व्यापक हो गया।

(२) हर्ष सवत्[4], नेवर सवत्[5], त्रैकूटक, कलचुरि या चेदि सवत्[6] तथा

---

१. जे० ए० एस० बी०, खण्ड १०, पृ० २६० ।
२. वही, खण्ड १०, पृ० १६७ ।
३ हरप्रसाद शास्त्री, कैटेलॉग ऑफ पाम-लीफ एण्ड सिलेक्टेड पेपर मैन्युस्क्रिप्ट्स बिलागिंग टु द दरबार लाइब्रेरी, नेपाल ।
४ इस अध्याय का ३२वाँ परिच्छेद देखिये ।
५ संवत् का प्रारम्भ २० अक्टूबर ८७९ ई० से होता है, द्रष्टव्य, कीलहान : इण्डि० एण्टि, खण्ड १७, पृ० २४६ तथा ओझा प्राचीन लिपिमाला, पृ० १८१-१८२ ।
६. कीलहार्न के अनुसार यह सवत् २६ अगस्त २४९ ई० को प्रारम्भ हुआ । इण्डि० एण्टि० खण्ड १६, पृ० २६६ ।

लक्ष्मणसेन संवत्[1], जिनका संस्थापन और ग्रहण इस काल में हुआ, सभी का प्रचार स्थानिक था। वे अधिक समय तक जीवित नहीं रह सके। पहले तीन का स्थान विक्रम संवत् तथा अन्तिम का बंगाल में मुसलमानों द्वारा लाये गये फसली सन् ने ग्रहण किया, जिसको बाद में बंगाब्द कहा जाने लगा।

(३) शक संवत् जिसका केन्द्रस्थान अवन्ती था तथा महाराष्ट्र के क्षहरात भी जिसका एक समय प्रयोग करते थे, दक्षिण की ओर प्रसरित हुआ। यद्यपि कुछ राजवंश अब भी किसी संस्थापित संवत् की अपेक्षा अपने राज्य संवत् का ही प्रयोग करते थे, तथापि धीरे-धीरे शक संवत् की जड़ें जम गयीं। इसका कारण उज्जयिनी सम्प्रदाय के ज्योतिर्विद तथा बाद में इसके साथ शालिवाहन के नाम का योग था।

(४) कुछ उदाहरणों में शक संवत् के साथ ही साथ कलि संवत् का भी प्रयोग हुआ है।[2] कलि संवत् ३१०१ ई० पू० की वसन्त ऋतु की संक्रान्ति से गिना जाता था। ईसा की पाँचवीं शताब्दी में आर्यभट्ट ने सर्वप्रथम इसका परिचय दिया (सूर्य सिद्धान्त, ३।१०) वृहस्पति के चक्र का प्रयोग भी हुआ है।

(५) चालुक्य विक्रम संवत्[3] तथा कोल्लम संवत्[4] को क्रमशः दक्षिण और सुदूर दक्षिण में प्रारम्भ किया गया किन्तु वे प्रचलित और जनप्रिय न बन सके।

---

१ इस संवत् के अनेक प्रारम्भिक वर्षों का प्रयोग हुआ है। कीलहार्न ने इसकी प्रारम्भिक तिथि ६ अक्तूबर ११७८ ई० निकाली है। (इण्डि० एण्टि०, खण्ड १९ पृ० ६)

२ पुलकेशिन् के शासन का ऐहोल-प्रस्तर-अभिलेख, एपि०, इण्डि०, खण्ड ६, पृ० १ इत्यादि।

३ कल्याणी के उत्तर चालुक्य शासक विक्रमादित्य षष्ठ ने १०७५-७६ ई० में यह संवत् चलाया (ओझा प्राचीन लिपिमाला, पृ० १८१-८२) और लगभग १०० वर्ष तक यह चला।

४ ट्रावनकोर के पश्चिमी तट के कोल्लम नगर से सम्बन्धित किसी घटना की स्मृति में ८२४-२५ ई० में इसे चलाया गया। इस संवत् का प्रसार क्षेत्र अति संकुचित था किन्तु मालाबार में अब भी इसका प्रयोग किया जाता है। (इण्डि० एण्टि०, खण्ड २५, पृ० ५४)।

(६) वास्तविक तिथि-अंकन-विधि मे एकरूपता नहीं है :

[क] लेख की आवश्यकता के अनुसार तिथि-अंकन पद्य और गद्य दोनो मे हुआ है।

[ख] संवत्सर प्रायः शब्द और अंक दोनो मे लिखे गये और कभी-कभी केवल अंको मे।

[ग] विस्तृत तिथि-अकन मे सवत्सर, मास, पक्ष, तिथि, दिन, नक्षत्र, योग इत्यादि दिये गये है, कुछ अभिलेखो मे पर्व भी दिये गये है।

[घ] साधारण तिथ्यङ्कन मे केवल सवत्सर दिये गये हैं।

[ङ] अनेक उदाहरणो मे तिथि अंको को शब्दो मे नही, अपितु विशिष्ट प्रतीकात्मक शब्दो द्वारा व्यक्त किया गया है। भारतीय ज्योतिर्विदो की यह एक विलक्षण पद्धति थी।

सहायक ग्रन्थ सूची

मौलिक आधार

(अ) ब्राह्मण साहित्य

१ संहिताएँ

(१) ऋग्वेद, स० मैक्समूलर (सायण भाष्य सहित)।

(२) सामवेद सानुवाद, स० बेनफे, लाइप्जिग १८४८।

(३) यजुर्वेद, तैत्तिरीय संहिता भट्टभास्कर मिश्र की व्याख्या सहित, वाजसनेयी संहिता।

(४) अथर्ववेद सायण भाष्य सहित, स० एस० पी० पण्डित, बम्बई, १८९५-९८।

२ ब्राह्मण ग्रंथ

(१) ऐतरेय ब्राह्मण, आनन्दाश्रम संस्करण, पूना।

(२) पञ्चविंश ब्राह्मण, स० ए० वेदान्तवागीश, कलकत्ता १८६९-७४।

(३) शतपथ ब्राह्मण, स० वेबर, लन्दन, १८८५।

(४) तैत्तिरीय ब्राह्मण, स० आर० एल० मित्र, कलकत्ता, १८५५-७०।

(५) गोपथ ब्राह्मण, स० आर० एल० मित्र तथा एच० विद्याभूषण, कलकत्ता, १८७२।

(६) कौषीतकी ब्राह्मण, स० ई० बी० कावेल, कलकत्ता, १८६१।

३. आरण्यक

(१) ऐतरेय आरण्यक सानुवाद, स० ए० बी० कीथ, आक्सफोर्ड, १९०९।

(२) शांखायन आरण्यक, स० ए० बी० कीथ, आक्सफोर्ड, १९०९।

४. उपनिषद्

(१) छान्दोग्य उपनिषद्।

(२) तैत्तिरीय उपनिषद्।

५. सूत्र ग्रंथ

(१) आपस्तम्ब श्रौतसूत्र।
(२) आश्वलायन श्रौतसूत्र।
(३) आपस्तम्ब गृह्यसूत्र।
(४) बौधायन गृह्यसूत्र।
(५) पाराशर गृह्यसूत्र।
(६) आपस्तम्भ धर्मसूत्र।
(७) गौतम धर्मसूत्र।
(८) वसिष्ठ धर्मसूत्र।

६. आर्ष महाकाव्य

(१) रामायण, व्याख्या सहित, स० काशीनाथ पाण्डुरङ्ग परब, बम्बई, १८८८।
(२) महाभारत, स० टी० आर० व्यासाचार्य, कुम्भकोनम, १९०८।

७. स्मृति और प्रबन्ध

(१) मनुस्मृति, कुल्लूक की व्याख्या सहित सम्पादित, बम्बई, १९२९।
(२) याज्ञवल्क्य-स्मृति, मिताक्षरा टीका सहित, बम्बई, १९०९।
(३) नारद स्मृति, स० जॉली, कलकत्ता, १८८५।
(४) बृहस्पति-स्मृति, सेक्रेड बुक्स ऑफ दि ईस्ट, खण्ड ३३, आक्सफोर्ड, १८८९।
(५) विष्णु-स्मृति, सं० एम० एन० दत्त, कलकत्ता, १९०९।
(६) कात्यायन-स्मृति, स० पी० वी० काणे, बम्बई, १९३३।
(७) व्यास-स्मृति, जीवानन्द सग्रह, भाग २, पृ० ३२१–४२, आनन्दाश्रम सग्रह, पूना।
(८) स्मृति-चन्द्रिका, लेखक अन्नमभट्ट, मैसूर संस्करण, १९१४–२०
(९) व्यवहार-मयूख, लेखक नीलकण्ठ, गुजराती प्रेस सस्करण, बम्बई, १९२३।

८ अर्थशास्त्र और कामशास्त्र

(१) कौटिलीय अर्थशास्त्र, स० आर० शाम शास्त्री, मैसूर, १९१९, श्रीमूल टीका सहित टी० गणपति शास्त्री द्वारा सम्पादित, त्रिवेन्द्रम, १९२४–२५।

(२) शुक्रनीतिसार, सं० जीवानन्द, कलकत्ता, १८९० ।
(३) वात्स्यायन कामसूत्र, काशी संस्कृत सीरीज, वाराणसी, १९२९ ।

९ पुराण

(१) अग्नि पुराण, सं० आर० एल० मित्र, कलकत्ता, १८७३–७९ ।
(२) भागवत पुराण, सं० वी० एल० पन्सीकर, बम्बई, १९२० ।
(३) भविष्य पुराण, वेंकटेश्वर प्रेस संस्करण, बम्बई, १९१० ।
(४) मार्कण्डेय पुराण, सं० एफ० ई० पार्जिटर, कलकत्ता, १९०४ ।

१० व्याकरण ग्रन्थ

(१) यास्क का निरुक्त ।
(२) पाणिनीय अष्टाध्यायी ।
(३) पातञ्जल महाभाष्य ।

११ कोष

(१) अमरकोष, भानुजि दीक्षित की रामाश्रमी या व्याख्यासुधा टीका सहित, सं० प० शिवदत्त, निर्णयसागर प्रेस, बम्बई, १९१५ ।
(२) अभिधान-राजेन्द्र, रतलाम संस्करण, १९१९ ।

१२. महाकाव्य

(१) रघुवंश—कालिदास का ।
(२) कुमारसम्भव—कालिदास का ।
(३) बुद्ध-चरित—अश्वघोष का ।

१३ नाटक

(१) भास नाटक चक्रम ।
(२) कालिदास का मालविकाग्निमित्र ।
(३) कालिदास का अभिज्ञान शाकुन्तल ।
(४) भवभूति का मालती-माधव ।

१४. चरित और कथा

(१) बाण का हर्षचरित ।
(२) सुबन्धु का वासवदत्ता ।

(३) बाण की कादम्बरी।

(४) सोमदेव का कथासरित्सागर

१५ इतिहास ग्रन्थ

(१) कल्हण की राजतरंगिणी, सानुवाद, सं० एम० ए० स्टीन, वेस्टमिनस्टर, १९००, सानुवाद सं० आर० एस० पण्डित, प्रयाग १९३५।

(आ) बौद्ध साहित्य

१. अंगुत्तर निकाय, सं० आर० मोरिस तथा ई० हार्डी, पी० टी० एस०, लन्दन।

२. चरियापिटक, सं० आर० मोरिस, पी० टी० एस०, लन्दन, १८८२।

३ धातुकथा, सं० ई० आर० गुनरत्ने, पी० टी० एस०, लन्दन, १८९२।

४. दीघ निकाय, सं० टी० डब्ल्यू० राइज डेविड्स तथा जे० ई० कारपेण्टर, पी० टी० एस०, लन्दन १८९०–१९११।

५. जातक, सं० वी० फौस्बाल, लन्दन, १८७७–९७।

६. मज्झिम निकाय, सं० टी० ट्रेंक्नेर तथा आर० चालमर्स, पी० टी० एस०, लन्दन, १८८८–१९०२।

७. संयुत्त निकाय, सं० लियोन फीयर, पी० टी० एस०, लन्दन, १८८४–१८९८।

८. सुत्त निपात, सानुवाद सं० आर० चालमर्स, एच० ओ० एस०, १९३२।

९ विनयपिटक, सं० एच० ओल्डेनबर्ग, पी० टी० एस०, लन्दन, १८७९।

१० दिव्यावदान, सं० ई० बी० कावेल तथा आर० ए० नाइल, कैंब्रिज, १८८६।

११ ललितविस्तर, सं० आर० एल० मित्र, कलकत्ता, १८७७।

१२ दीपवंश, सानुवाद, सं० एच० ओल्डेनवर्ग, लन्दन, १८७९।

१३ महावंश, सं० डबल्यू० गाइगर पी० टी० एस०, लन्दन, १९०८।

१४ मिलिन्द पञ्हो, सं० वी० ट्रेंक्नेर, लन्दन, १८८०।

१५ बुद्धचरित अश्वघोष का।

१६ सूत्रालंकार अश्वघोष का।

१७ सौन्दरानन्द अश्वघोष का।

१८ जातकमाला आर्यसूर की, स० एच० कर्न, बोस्टन, १८९१ ।

(इ) जैन साहित्य

१ आचाराङ्ग, स० एच० जैकोबी, पी० टी० एस०, लन्दन, १८८२, एच० जैकोबी का अंग्रेजी अनुवाद, सैक्रेड बुक्स ऑफ दि ईस्ट, ऑक्सफोर्ड, १८९२।
२ कल्पसूत्र, सानुवाद, स० डब्ल्यू० एस० शुब्रिंग, लाइप्जिग, १९०५।
३ कथाकोष, अनुवाद, सी० एच० टॉनी, लन्दन, १८९५ ।
४ निशीथ, स० डब्ल्यू० एस० शुब्रिंग, लाइप्जिग, १९१८ ।
५ स्थविरावलि चरित या परिशिष्टपर्वण, स० एच० जैकोबी, बी० आई०, कलकत्ता, १८८३-९१, द्वितीय संस्करण १९३२ ।
६ पन्नवणा-सुत्त ।
७ समवायाङ्ग-सुत्त ।
८. भगवती-सुत्त ।
९. विचार-श्रेणी ।
१० महावीर-चरियम् ।
११. त्रिलोक-विज्ञप्ति ।
१२ प्रभावक-चरित, सिंघी ग्रन्थमाला संस्करण, कलकत्ता ।

(ई) विदेशी विवरण

१. ग्रीक तथा लेटिन :

(१) एरियन (एनाबेसिस इण्डिया), स० ए० जी० रॉस, लाइप्जिग, १९०७ ई० जे० चिन्नोक का अंग्रेजी अनुवाद, लन्दन, १८७३ ।
(२) क्विन्टस कर्टियस रूफस (हिस्टोरियेन अलेक्जेण्ड्रि मैग्नि), स० ई० हेडिक, लाइप्जिग, १९०८ ।
(३) जस्टिन (एपिटोम), अंग्रेजी अनुवाद, मैक्क्रिण्डल का इनवेजन ऑफ इण्डिया बाई अलेक्जैण्डर ।
(४) पेरिप्लस मेरिस एरिथ्राई (पेरिप्लस ऑफ दि इरिथ्रियन सी), डब्ल्यू० एच० शॉफ का अंग्रेजी अनुवाद, लन्दन, १९१२ ।
(५) प्लाईनी (नेचुरेलिस हिस्टोरिया), स० सी० मेहॉफ, लाइप्जिग, १८९२-१९०९ ।

(६) प्लूटार्क (लाइफ ऑफ अलैक्जेण्डर), स० के सिन्तेनिस, लाइप्जिग, १८८१।

(७) मेगस्थेनीज (इण्डिका के अंश), स० ई० ए० शॉनबेक, बोन, १८४६।

(८) स्ट्रैबो (ज्योग्रैफिका), एच० सी० हैमिल्टन तथा डब्ल्यू० फाल्कोनर का अंग्रेजी अनुवाद, लन्दन, १८५४-५७।

(९) हेरोडोरस, (हिस्टरी) स० सी० ह्यड, द्वितीय संस्करण, आक्सफोर्ड, १९१३-४, जी० सी० मैकाले का अंग्रेजी अनुवाद, लन्दन, १९०४।

२. **चीनी :**

(१) फाहियान, जे० लीज का अंग्रेजी अनुवाद, आक्सफोर्ड, १८८६।

(२) ह्वेनत्साग, एस० बील का अंग्रेजी अनुवाद, (बुधिस्ट रिकार्डस ऑफ दि वेस्टर्न वर्ल्ड), लन्दन, १८८४।
युवान च्वाग, टी० वैटर्स का अनुवाद, लन्दन, १९०४-५।

(३) इत्सिग, जे० तकाकुसु का अनुवाद, आक्सफोर्ड, १८९६।

३. **अरबी :**

(१) अल्बेरूनीज इण्डिया, स० ई० सी० सचाऊ, लन्दन, १९१०।

आधुनिक स्रोत

अ. पुरातत्त्व-सम्बन्धी :

१ आर्क्यालोजिकल सर्वे ऑफ इण्डिया एन्युअल रिपोर्ट, १९०२-३ के बाद।

२ आर्क्यालोजिकल सर्वे ऑफ वेस्टर्न इण्डिया।

३ आर्क्यालोजिकल सर्वे ऑफ सदर्न इण्डिया।

४ अमेरिकन जर्नल ऑफ आर्क्यालोजी।

५ आमेलज हर्ट्ज, दि ओरिजिन ऑफ दि प्रोटो-इण्डियन एण्ड दि ब्राह्मी स्क्रिप्ट, इ० हि० क्वा०, १३, पृ० ३८९-९९।

६ अलेक्जैण्डर कनिंघम, आर्क्यालोजिकल सर्वे रिपोर्ट (ओल्ड सीरीज), बुक ऑफ दि इण्डियन एराज, क्वाएन्स ऑफ एन्सियण्ट इण्डिया, क्वाएन्स ऑफ मेडीवल इण्डिया।

७ इम्पार्टेण्ट इन्स्क्रिप्शन्स फ्राम दि बडौदा स्टेट, खण्ड १, बडौदा, १९४३।

८ इण्डियन हिस्टारिकल रिकार्ड्स कमीशन, प्रोसीडिंग्स ऑफ मीटिंगस्।

९ इण्डियन कल्चर, कलकत्ता।

१० इण्डियन आर्ट एण्ड लेटर्स, दि इण्डियन सोसाइटी, लन्दन।

११ ई० क्लॉड, दि स्टोरी ऑफ दि एल्फाबेट, लन्दन, १९००, न्यूयार्क, १९३८।

१२ ई० जे० एच० मैके, फर्दर एक्सकवेशन्स ऐट मोहनजोदडो, दिल्ली, १९३७-३८, इण्डस वैली सिविलिजेशन।

१३ ई० एफ० स्ट्रैन्ज, एल्फाबेट्स, लन्दन, १९०७।

१४ ई० जे० रैप्सन, कैटालाग्स ऑफ दि क्वाएन्स ऑफ आन्ध्र डाइनेस्टी इत्यादि, ओरिजन ऑफ दि इण्डस वैली स्क्रिप्ट, इं० हि० क्वा०, ९, पृ० ५८२।

१५ इपिग्रेफिया इण्डिका, कलकत्ता, १८९२ के बाद से।

१६ एशियाटिक रिसर्चेज।

१७ एक्टा ओरियण्टेलिया।

१८ एन्शियण्ट इण्डिया, दिल्ली, १९६४ के बाद से।

१९ ए० के० कुमारस्वामी, हिस्ट्री ऑफ इण्डियन एण्ड इण्डोनेशियन आर्ट, लन्दन, १९२७।

२० ए० एस० सी० रॉस, दि न्यूमरिकल साइन्स ऑफ मोहनजोदरो स्क्रिप्ट, दिल्ली, १९३८।

२१ ए० आर० हर्नले, दि वेवर मैन्युस्क्रिप्ट्स ऐनअदर कलेक्शन ऑफ एन्शियण्ट मैन्युस्क्रिप्ट्स फ्राम सेण्ट्रल एशिया, जर्नल ऑफ दि रॉयल एशियाटिक सोसाइटी, बंगाल ब्राच, १८९३।

२२ ए० सी० बर्नेल, एलीमेण्ट्स ऑफ साउथ इण्डियन पेलियोग्रैफी, मैंगलोर, १८७८, ऑन सम पह्लवी इन्स्क्रिप्शन्स ऑफ साउथ इण्डिया, मैंगलोर, १८७९।

२३ ए० सी० मूरहाउस, राइटिंग एण्ड दि अल्फाबेट, लन्दन, १८४६।

२४ ए० वॉन ल कॉक, बरीड ट्रेजर्स ऑफ चाइनीज तुर्किस्तान, लन्दन, १९२८।

२५ एन्युअल रिपोर्ट ऑफ दि आर्कियोलॉजिकल डिपार्टमेण्ट ऑफ हिज इक्जाल्टेड हाइनेस दि निजाम्स डोमिनियन्स।

२६ एन्युअल रिपोर्ट ऑफ दि मैसूर आर्कियोलॉजिकल डिपार्टमेण्ट, बैंगलोर।

२७ एन्युअल रिपोर्ट ऑफ साउथ इण्डियन एपिग्रैफी।

२८ ऐन्युअल रिपोर्ट ऑफ वारेन्द्र रिसर्च सोसाइटी, राजशाही।
२९ ऐन्युअल रिपोर्ट ऑफ दि वाट्सन म्यूजियम ऑफ एण्टिक्विटीज, राजकोट।
३० एन्युअल रिपोर्ट आफ दि वर्किंग आफ दि यूनाइटेड प्राविन्सेज, प्राविन्सियल म्यूजियम, लखनऊ, इलाहाबाद।
३१ एन्युअल रिपोर्ट ऑफ सेण्ट्रल म्यूजियम, लाहौर।
३२ एन्युअल बिब्लियोग्रैफी ऑफ इण्डियन आर्क्यालोजी, लीडेन, १९२६ और इसके बाद।
३३ कार्पस इन्स्क्रिप्शनम् इण्डिकेरम्, खण्ड १, २ तथा ३।
३४ केरल-सोसाइटी-पेपर्स, त्रिवेन्द्रम।
३५ कोलब्रूक, मिसलेनियस एसेज।
३६ क्वार्टर्ली जर्नल ऑफ दि मिथिक सोसाइटी, बैंगलोर।
३७ गौरीशंकर हीराचन्द ओझा, भारतीय प्राचीन लिपिमाला, अजमेर, १९१८।
३८ जर्नल एण्टिक।
३९ जर्नल ऑफ दि एशियाटिक सोसाइटी ऑफ बंगाल।
४० जर्नल ऑफ दि बाम्बे ब्रांच ऑफ दि एशियाटिक सोसाइटी।
४१ जर्नल ऑफ दि रॉयल एशियाटिक सोसाइटी ऑफ ग्रेट ब्रिटेन एण्ड आयरलैण्ड।
४२. जर्नल ऑफ दि आन्ध्र हिस्टारिकल सोसाइटी, राजमहेन्द्री।
४३ जर्नल ऑफ दि बिहार एण्ड ओरिसा रिसर्च सोसाइटी, पटना।
४४ जर्नल ऑफ दि बॉम्बे हिस्टोरिकल सोसाइटी, बम्बई।
४५ जर्नल ऑफ इण्डियन हिस्ट्री, मद्रास।
४६ जर्नल ऑफ ओरियण्टल रिसर्च, मद्रास।
४७ जर्नल ऑफ दि पंजाब यूनिवर्सिटी हिस्टारिकल सोसाइटी, लाहौर।
४८ जर्नल आफ दि बनारस हिन्दू यूनिवर्सिटी।
४९ जर्नल आफ दि यूनाइटेड प्राविन्सेज हिस्टारिकल सोसाइटी, लखनऊ।
५० जर्नल आफ दि न्यूमिस्मेटिक सोसाइटी आफ इण्डिया, बम्बई।

जी० आर० हण्टर : दि स्क्रिप्ट आफ हरप्पा एण्ड मोहनजोदरो, लन्दन, १९३४, अन्नोन पिक्टोग्रैफिक स्क्रिप्ट नियर रामटेक, सी० पी०, जे० बी० ओ० आर० एस०, २० भाग १, सील्स, एन्युयल आफ दि अमेरिकन स्कूल आफ ओरियण्टल रिसर्च, खण्ड १०, १९२८-२९।

५२ जी० ए० सार्टन : ए कम्पैरेटिव लिस्ट आफ दि साइन्स इन दि सो-काल्ड इन्डो-सुमेरियन ।

५३ जी० वी० वोब्रिन्स क्राय ए लाइन आफ ब्राह्मी स्क्रिप्ट इन ए बेबीलोनियन कान्ट्रैक्ट टेब्लेट, जे० ए० ओ० एस०, खंड ५६, स० १, पृ० ६८—८८ ।

५४ जी० ब्वीलर, इण्डियन पेलियोग्रैफी, इण्डियन एण्टिक्वेरी, १६०४, अपेण्डिक्स, इण्डियन स्टडीज, डिटेल्ड रिपोर्ट आन ए टूर इन सर्च आफ संस्कृत मैन्युस्क्रिप्ट्स मेड इन काश्मीर, राजपूताना एण्ड सेन्ट्रल इण्डिया, बम्बई, १८७७, न्यू जैन इन्स्क्रिप्शन्स फ्राम मथुरा, एपि० इण्डि० खण्ड १, एपिग्रैफिक डिसकवरीज एट मथुरा, जे० आर० ए० एस०, १८६६, पृ० ५७८-८१ ।

५५. जी० जोवो-दुब्रायल : पल्लव एण्टिक्विटीज ।

५६ जे० पी० एच० वोगेल : कैटेलाग आफ दि आर्क्यालोजिकल म्यूजियम एट मथुरा, इलाहाबाद, १६१० ।

५७ जे० बर्गेस आर्क० स० आफ वे० इण्डिया, खंड ४, लन्दन, १८८३, रिपोर्ट आन दि बुद्धिस्ट केव टेम्पुल्स एण्ड देयर इन्स्क्रिप्शन्स, तामिल एण्ड संस्कृत इन्स्क्रिप्शन्स, मद्रास, १८८६ ।

५८ जे० ई० फ्लीट . कार्पस इन्स्क्रिप्शन्स इण्डिकेरम, खंड ३, पाली, संस्कृत एण्ड ओल्ड केनारीज इन्स्क्रिप्शन्स ।

५६. जिन विजय प्राचीन जैन लेख-संग्रह, भावनगर, जैन आत्मानन्द सभा, १६२१ ।

६० जे० फर्गुसन तथा जे० बर्गेस दि केव टेम्पुल्स आफ इण्डिया, लन्दन, १८८० ।

६१. जे० डाउसन : नोट्स आन ए बैक्ट्रियन पाली इन्स्क्रिप्शन एण्ड दि सम्वत एरा, जे० आर० ए० एस० न्यू सीरीज, खंड ७, १८७५, पृ० ३७६-३८३ ।

६२. जीन प्रजिलस्की : दि नेम आफ खरोष्ठी स्क्रिप्ट, इ० ए०, खंड ६०, पृ० १५० इत्यादि ।

६३ जे० एलन कैटालाग आफ दि क्वाएन्स आफ एन्सियन्ट इण्डिया, ब्रिटिश म्यूजियम, लन्दन, १६३६, कैटालाग आफ दि गुप्त क्वाएन्स।

६४ जे० एच० मार्शल, मोहनजोदरो एण्ड इण्डस सिविलिजेशन, खंड १, २ तथा २, १ दि डेट आफ कनिष्क, जे० आर० ए० एस०, १६१४, पृ० ६३७–८६, १६१५, १६१–६६।

६५. ट्रावनकोर आर्क्योलोजिकल सीरीज।

६६ टी० थाम्प्सन दि ए बी सी आफ अवर अलफाबट, लन्दन, १६४२, न्यूयार्क १६४५।

६७. डी० एच० सकालिया : दि आर्क्योलोजी आफ गुजराज, बम्बई १६४१।

६८ डी० आर० सहानी : कैटालाग आफ दि म्यूजियम आफ आर्क्योलोजी एट सारनाथ, कलकत्ता, १६१४, श्री मथुरा इन्स्क्रप्शन्स एण्ड देयर बियरिंग आन दि कुशान डाइनेस्टी, जे० आर० ए० एस०, १९२४, पृ० ३६६–४०६।

६६. डी० आर० भडारकर · ए लिस्ट आफ दि इन्स्क्रिप्शन्स आफ नार्दर्न इडिया इन ब्राह्मी एण्ड इट्स डेरिवेटिव स्क्रिप्ट फ्राम स० १०० ए० डी०, अपेण्डिक्स, एपि० इण्डि०, खड १६ तथा २०।

७० डी० सी० सरकार सेलेक्ट इन्क्रिप्शन्स, भाग १, कलकत्ता।

७१ डेविड डिरिंजर : दि एल्फाबेट, द्वितीय सस्करण, लन्दन, १६४६।

७२ दि इण्डियन हिस्टारिकल क्वार्टर्ली, कलकत्ता।

७३. दि इण्डियन एण्टिक्वेरी, बम्बई, १८७२ के बाद से।

७४. दि माडर्न रिव्यू, कलकत्ता।

७५. नागरीप्रचारिणी पत्रिका, वाराणसी।

७६. न्यूमिस्मेटिक जर्नल।

७७ पर्सी गार्डनर : दि क्वाएन्स आफ ग्रीक एण्ड इण्डो-सीथियन किंग्स आफ बैक्ट्रिया एण्ड इण्डिया।

७८ प्राणनाथ : दि स्क्रिप्ट आन दि इण्डस वैली सीलस, इ० हि० क्वा० १६३१, सुमेरो-इजिप्शियन ओरिजिन आफ दि आर्यन्स एण्ड दि ऋग्वेद, जर्नल आफ दि बनारस हिन्दू यूनिवर्सिटी, खड १, स० २, १६३७।

७६. पी०मेरिग्गी उर्बेर वाइटेरे इण्डुसीगेल आउस फोर्डराजियन, ओरियंटलिस लिटराटूरे लाइटुग, १६३७।

८० पी० एच० हेराम : मोहनजोदरो, दि पीपुल एण्ड दि लैण्ड, इं० क०, खंड ३, कलकत्ता, १९३७, ल एस्क्रितुरा प्रोटो-इण्डिका यि सु द स्क्रिफ्रेमेन्तो, अम्पुरियास बार्सिलोना, १९४० ।

८१ पी० पोचा : तोचरिका आर्किव ओरियण्टेलनी, प्राग, १९३० ।

८२ प्रिन्सेप : इण्डियन एण्टिक्विटीज, सं० थामस ।

८३ प्रोग्रेस रिपोर्ट आफ दि आर्क्यालोजिकल सर्वे आफ वेस्टर्न इण्डिया ।

८४ प्रोग्रेस आफ इण्डियन स्टडीज (१९१४-१९४२), पूना, १९४२ ।

८५ प्रोसीडिंग्स आफ दि एन्युअल मीटिंग्स आफ दि न्यूमिस्मेटिक सोसाइटी आफ इण्डिया ।

८६ फा-वान-सु-लिन ।

८७ फामेल एण्टिक्विटीज आफ दि चम्बा स्टेट ।

८८ एफ० कीलहार्न : इक्जामिनेशन आफ क्वेश्चन्स कनेक्टेड विद दि विक्रम एरा, इण्डि० एण्टि०, खंड २०, १८९१, पृ० १२४-४२, आन दि डेट्स आफ दि शक एरा इन इन्स्क्रिप्शन्स, इण्डि० एण्टि०, खंड २६, १८९६, पृ० १४६-१५३, लिस्ट आफ दि इन्स्क्रिप्शन्स आफ साउथ इण्डिया, एपि० इण्डि०, खंड ७, १९०२-३, अपेण्डिक्स, लिस्ट आफ दि इन्स्क्रिप्शन्स आफ नार्दर्न इण्डिया ।

८९ वकोफर : आन ग्रीक्स एण्ड शकाज इन इण्डिया, जे० आर० एस०, खंड ६१, १९४१, पृ० २२३-५० ।

९० बंगाल पास्ट एण्ड प्रेजेन्ट, जर्नल आफ कलकत्ता हिस्ट्री सोसाइटी ।

९१ बाम्बे गजेटीयर ।

९२ बी० एल० उल्मान : दि ओरिजिन एंड डेवलपमेण्ट आफ एलफाबेट, अमे० ज० आर्क०, १९२७, पृ० ३११-२८ ।

९३. बी० लाफर : ओरिजिन आफ टिबेटन राइटिंग, जर्नल आफ दि अमेरिकन ओरियण्टल सोसाइटी, १९१८ ।

९४. बी० हॉर्जी : इन्स्क्रिफ्टेन अण्ड कुल्तुर देर प्रोतो-इन्देर वाव मोहनजोदरो उण्ड हरप्पा, आर्कि० ओरियन्तल्नी, १९४१-४२ ।

९५ बुलेटिन आफ दि डकन कालेज रिसर्च इन्स्टीट्यूट, पूना ।

९६. बुलेटिन आफ दि डिपार्टमेण्ट आफ हिस्टारिकल एण्ड एण्टिक्वेरियन स्टडीज, गवर्नमेण्ट आफ आसाम ।

९७. बुलेटिन आफ दि स्कूल आफ ओरियण्टल स्टडीज, लन्दन ।

९८ बेनी माधव बरुआ . ओल्ड ब्राह्मी इन्स्क्रिप्शन्स ।

९९. बेबीलोनियन एण्ड ओरियण्टल रिकार्ड्स ।

१००. बोथलिङ्क सस्कृत वार्तेर्बुख इन कुर्जेरेर फासुग ।

१०१. भडारकर कमेमोरेशन वाल्यूम, पूना ।

१०२. भावनगर इन्स्क्रिप्शन्स ।

१०३. महाकोसल हिस्टारिकल सोसाइटी, वाल्यू, बिलासपुर ।

१०४. माधव स्वरूप वत्स एक्सकवेशन्स ऐट हरप्पा, खड १ तथा २, कलकत्ता, १९४० ।

१०५ एम० बरोज वट मीन दीज स्टोन्स ?, न्यूहेवेन, १९४१ ।

१०६. मेम्वायर्स आफ आर्क्यालोजिकल सर्वे आफ इंडिया ।

१०७. मैन, जर्नल आफ रायल एन्थ्रोपलोजिकल इस्टिट्यूट, लन्दन ।

१०८. राइस . एपिग्रैफिया कर्नाटिका ।

१०९. रमेशचन्द्र मजुमदार : ल पेलियोग्रैफिक दे इन्स्क्रिप्शन्से दु चम्पा, बी० ई० एफ० ई० ओ०, ३२, पृ० १२७–३९, १ फलक ।

११०. राजेन्द्रलाल मित्र गाउस पेपर्स ।

१११. आर० बी० व्हाइटहेड कैटालाग आफ दि क्वाएन्स इन दि पजाब म्यूजियम लाहौर, खंड १, इण्डो-ग्रीक क्वाएन्स, आक्सफोर्ड, १९१४ ।

११२. आर० सेवेल दि हिस्टारिकल इन्स्टिट्यूशन्स आफ सदर्न इण्डिया, मद्रास, १९३२ ।

११३. आर० डी० बनर्जी दि सिथियन पीरियड आफ इण्डियन हिस्ट्री, इं० ए०, खड ३७, १९०८, पृ० २५–७५, मथुरा इन्स्क्रिप्शन इन दि इण्डियन म्यूजियम, जे० ए० एस० बी० न्यू सीरीज, खड ५, १९०९, पृ० २३७–२४४, न्यू ब्राह्मी इन्स्क्रिप्शन आफ दि सिथियन पीरियड, ए० इ०, खड १०, १९०९–१०, पृ० १०६–१२१, नहपान एण्ड दि शक एरा, जे० आर० ए० एस०, १९१७, पृ० २७३–२८९, पेलियोग्रैफी आफ दि हाथी गुम्फा एण्ड नानाघाट इन्स्क्रिप्शन्स, मेम्वा० आर्क० ए० एस० बी०, ११, स० ३, पृ० १३१–१४६ ।

११४. एल० ए० वैडोल, दि इण्डो-सुमेरियन सील्स डिसाइफर्ड, दि आर्यन ओरिजिन आफ दि अल्फाबेट, लन्दन लुजाक एण्ड कम्पनी, १९२७ ।

११५ एल० डी० बर्नेट एण्टिक्विटीज आफ इण्डिया, लन्दन, १९१३, दि डेट आफ कनिष्क, जे० आर० ए० एस०, १९१३, पृ० ९४२-४५ ।

११६ लैसेन इण्डिश आल्तर्तुम्स्कुण्डे, द्वितीय संस्करण ।

११७ वान्वालकर प्रि-मौर्यन इन्स्क्रिप्शन, पूणे, १९५१ ।

११८ वी० ए० स्मिथ कैटालाग आफ दि क्वाएन्स, इन दि इण्डियन म्यूजियम, कलकत्ता ।

११९ वेबर इण्डिश स्टुडीन ।

१२० डब्ल्यू० ए० मैसन ए हिस्ट्री आफ आर्ट आफ राइटिंग, न्यूयार्क १९२० ।

१२१ डब्ल्यू० ई० क्लार्क हिन्दू अरेबिक न्यूमरल्स ।

१२२ एस० लेवी येट्द दे डाकूमेण्ट्स तोखरीन्स , जर्नल एशियाटिक, १९११ ।

१२३ एम० श्रीकण्ठ शास्त्री : स्टडीज इन दि इण्डस स्क्रिप्ट्स, क्वा० ज० मि० सो०, खंड २४, पृ० २२४–३० ।

१२४ जी० एल० फैब्री लेटेस्ट अटेम्प्ट्स टु रीड दि इण्डस स्क्रिप्ट, इण्डियन कल्चर, खंड १, कलकत्ता, १९३४, ए सुमेरियन बेबीलोनियन इन्स्क्रिप्शन डिसकवर्ड ऐट मोहनजोदरो, इण्डियन कल्चर, खंड ३ पृ० ६६३–७३ ।

१२५ सी० सी० दास गुप्ता पेलियोग्रैफिकल नोट्स आन दि मौर्यन ब्राह्मी इन्स्क्रिप्शन्स आफ महास्थान, इण्डियन कल्चर, खंड ३, पृ० २०६–२०८ ।

१२६. सुकुमार रंजन दास दि ओरिजिन एण्ड डेवलपमेण्ट आफ न्यूमरल्स, इ० हि० क्वा० ३, पृ० ९७–१२० ।

१२७ सुधीर कुमार बोस स्टडीज इन गुप्त पेलियोग्रैफी, इण्डियन कल्चर, ४, पृ० १८१–१८८ ।

१२८ सेनार्ट इन्स्क्रिप्शन्स आफ प्रियदर्शी ।

१२९ स्टेन कोनो कार्पस इन्स्क्रिप्शनम इण्डिकेरम, खंड २, कलकत्ता, १९२९; नोट आन ए खरोष्ठी अक्षर, बी० एस० ओ० एल० एस०, खंड ६, भाग २, पृ० ४०५–४०६ ।

१३० हरप्रसाद शास्त्री कैटालाग आफ दि पाम लीफ एण्ड सेलेक्ट पेपर मैनुस्क्रिप्ट्स बिलांगिंग टू दि दरबार लाइब्रेरी, नेपाल ।

१३१. एफ० डब्ल्यू० थॉमस : एक्सप्लोरेशन्स, फ्रन्टियार सर्किल, ए० एस० आई० ए० आर०, १९२१–२२, पृ० ५३-५८ ।

१३२. एच० ल्यूडर्स ए लिस्ट आफ ब्राह्मी इन्स्क्रिप्शन्स, मद्रास, १९१७ ।

१३३ एच० एच० विल्सन : एरियाना एण्टिकुवा।

१३४. एच० जी० बीलसे दि स्क्रिप्ट्स ग्राफ मोहनजोदरो, हरप्पा एण्ड ईस्टर्न ग्राईलैण्डस्, मैन ३६, स० १९९।

१३५. एच० जे० मार्टिन दि ग्रोरिजिन ग्राफ दि राइटिंग, जरुशलम, १९४३।

१३६ एच० कृष्ण शास्त्री साउथ इण्डियन इन्स्क्रिप्शन्स, मद्रास, १९१७।

१३७. हुल्श . कार्पस इंस्क्रिप्टयोनम इण्डिकेरम, भाग १, साउथ इण्डियन इंस्क्रिप्शन्स।

आ साधारण

१ ग्रनन्त सदाशिव ग्रल्तेकर एजुकेशन इन एन्सियण्ट इण्डिया, वाराणसी, पोजीशन ग्राफ वीमन इन हिन्दू सिविलिजेशन।

२. ई० बी० टेलर प्रिमिटिव कल्चर, खड १, २।

३ ई० सी० सखाउ, ग्रल्बेरूनीज इण्डिया।

४. ई० जे० रैप्सन दि कैम्ब्रिज हिस्ट्री ग्राफ इण्डिया, खड १, कैम्ब्रिज।

५. एन्साइक्लोपीडिया ब्रिटानिका।

६ ए० ए० मैकडोनेल इण्डियाज पास्ट, ग्राक्सफोर्ड, १९२७।

७ ए० एच० सेस इण्ट्रोडक्शन टु दि सायन्स ग्राफ लैंग्वेजेज, खंड १ तथा २, लन्दन, १८८०।

८ ए० सी० हैडन एवोल्यूशन इन ग्रार्ट।

९ ए० मैसो दि डान ग्राफ दि मेडिटेरिनियन सिविलिजेशन, लन्दन, १९१०।

१० ए० मैर मैटीरियल्स यूज्ड टु राइट बिफोर दि इनवेन्शन ग्राफ प्रिन्टिग, वाशिंगटन, १९०४।

११ के० एन० दीक्षित प्रिहिस्टारिकल सिविलिजेशन ग्राफ दि इण्डस वैली, मद्रास, १९२९।

१२. काशी प्रसाद जायसवाल हिस्ट्री ग्राफ इण्डिया, लाहौर, १९३३, प्राबलम्स ग्राफ शक सातवाहन हिस्ट्री, जे० बी० ग्रो० ग्रार० एस०, खड १६, १९३०, शक सातवाहन प्राबलम्स, वही, खंड १८, १९३२।

१३. जे० जॉली रेश्तुन्द सित, गुन्दसिस, हिन्दू लॉ एण्ड कस्टम्स, ग्रग्रेजी ग्रनुवाद, ए० बी० घोष, कलकत्ता, १९२८।

१४ जे० ई० वान लोहिज़ाँ द लीयो दि सिथियन पीरियड, लीडेन, १९३९।

१५. डी० आर० भंडारकर अशोक, कलकत्ता विश्वविद्यालय।
१६. पी० वी० काणे हिस्ट्री आफ धर्मशास्त्र लिटरेचर, खंड १-४, पूणे।
१७. फा-चा-नु-लिन
१८. एफ० एन० स्किनर, स्टोरी आफ लेटर्स एण्ड फिगर्स, शिकागो, १९०५।
१९. एफ० ई० पार्जिटर एन्सियन्ट इण्डियन हिस्टारिकल ट्रैडिशन्स।
२०. एम० विण्टरनित्स हिस्ट्री आफ इण्डियन लिटरेचर, खण्ड १ तथा २, कलकत्ता।
२१. एम० पचानन प्रि-हिस्टारिकल इण्डिया, कलकत्ता, १९२७।
२२. मिस डफ: क्रोनोलाजी आफ इण्डिया।
२३. मैस्पर दि डान आफ सिविलिजेशन, इजिप्ट एण्ड चैल्डिया, पासिंग आफ दि इम्पायर।
२४. मैक्समूलर हिस्ट्री आफ एन्सियण्ट संस्कृत लिटरेचर।
२५. रमेशचन्द्र मजूमदार अखेमीनियन रूल इन इण्डिया, इं० हि० क्वा०, २५, मित० १९४९, कार्पोरेट लाइफ इन एन्सियण्ट इण्डिया, कलकत्ता।
२६. राइज डेविड्स बुधिस्ट इण्डिया।
२७. राजबली पाण्डेय विक्रमादित्य आफ उज्जयिनी, वाराणसी, १९५१, हिन्दू संस्कार, ए सोसियो-रेलिजस स्टडी आफ हिन्दू सैक्रामेण्ट्स, वाराणसी, १९५०।
२८. आर० के० मुकर्जी एजुकेशन इन एन्सियण्ट इण्डिया, हिन्दू सिविलिजेशन।
२९. आर० एस० त्रिपाठी एन्सियण्ट हिस्ट्री आफ इण्डिया, वाराणसी।
३०. डब्लू० डब्लू० टार्न: दि ग्रीक्स इन बैक्ट्रिया एण्ड इण्डिया, कैम्ब्रिज, १९३८।
३१. एस० एन० दास गुप्त तथा एस० के० डे हिस्ट्री आफ संस्कृत लिटरेचर।
३२. सुधाकर द्विवेदी गणक तरंगिणी, वाराणसी।
३३. एच० एम० इलियट . दि हिस्ट्री आफ इण्डिया एज टोल्ड बाई इट्स ओन हिस्टोरियन्स, लन्दन, १८६७-७७।
३४. एच० जी० रालिन्सन इण्डिया, ए शार्ट कल्चरल हिस्ट्री, १९३७।

सारणी संख्या १—सिन्धु घाटी लिपि

१ २ ३ ४ ५ ६ ७ ८ ९ १० ११ १२ १३

सारणी संख्या २—प्रारम्भिक ब्राह्मी लिपि

	नागरी	रोमन	ब्राह्मी	नागरी	रोमन	ब्राह्मी
1	अ	a		ट	ṭa	
2	आ	ā		ठ	ṭha	
3	इ	i		ड	ḍa	
4	ई	ī		ढ	ḍha	
5	ऋ	ṛ		ण	ṇa	
6	ॠ	ṝ		त	ta	
7	ऌ	ḷ		थ	tha	
8	ॡ	ḹ		द	da	
9	उ	u		ध	dha	
10	ऊ	ū		न	na	
11	ए	e		प	pa	
12	ऐ	ai		फ	pha	
13	ओ	o		ब	ba	
14	औ	au		भ	bha	
15	अं	aṃ		म	ma	
16	अः	aḥ		य	ya	
17	क	ka		र	ra	
18	ख	kha		ल	la	
19	ग	ga		व	va	
20	घ	gha		श	śa	
21	ङ	ṅa		ष	ṣa	
22	च	ca		स	sa	
23	छ	cha		ह	ha	
24	ज	ja		क्ष	kṣa	
25	झ	jha		त्र	tra	
26	ञ	ña		ज्ञ	jña	

सारणी संख्या ३—अरेमिक और ब्राह्मी लिपियो की तुलना

क्र स.	नाम और ध्वन्यात्मक मूल्य	अरेमिक वर्ग	ब्राह्मी वर्ग
1	अलेफ् (अ)		
2	बेथ (ब)		
3	गिमेल (ग)		
4	दालेथ (द		
5	हे (ह)		
6	वाव् (व)		
7	जाइन (ज)		
8	ह्रेथ (ह)		
9	तेथ (त)		
10	योध (य)		
11	काफ् (क)		+ +
12	लामेध (ल)		
13	मेम (म)		
14	नून (न)		
15	सामेख (स)		
16	आइन् (ए)		
17	पे (प)		
18	त्साधे (स)		
19	कॉफ् (क)		+ +
20	रेश (र)		
21	शिन् (श)		
22	ताव् (त)		

सारणी संख्या ४—ब्राह्मी का वलकृत विकास

क्र स	रोमन	ध्वन्यात्मक मूल्य	ब्राह्मी	ध्वन्यात्मक मूल्य
1	A	a	∧	ga
2	D	da	D	dha
3	E	i, e	E	ja
4	I	i	!	ra
5	J	[illegible]	J	la
6	L	la	L	u
7	O	o	O	tha
8	U	u	U	pa
9	X	ksa	+	ka
10	Z	ja	Z	o
	Arabic			
1	[illegible]	a	|	na
2	ε	a	E	ja
3	b	ta	b	va

सारणी संख्या ५—सिन्धु घाटी लिपि से ब्राह्मी का विकास

सारणी सख्या ६—खरोष्ठी लिपि

क्र स	ध्वन्यात्मक मूल्य	ब्राह्मी लिपि	सिन्धु घाटी लिपि	नागरी	रोमन	खरोष्ठी	नागरी	रोमन	खरोष्ठी
1	a			अ	a		ट	ṭa	
2	i			आ	ā		ठ	ṭha	
3	ī			इ	i		ड	ḍa	
4	o			ई	ī		ढ	ḍha	
5	ka			ऋ	ṛ		ण	ṇa	
6	ga			ॠ	ṝ		त	ta	
7	gha			लृ	ḷ		थ	tha	
8	cha			ॡ	ḹ		द	da	
9	ja			उ	u		ध	dha	
10	ṭa			ऊ	ū		न	na	
11	ta			ए	e		प	pa	
12	tha			ऐ	ai		फ	pha	
13	pa			ओ	o		ब	ba	
14	ba			औ	au		भ	bha	
15	ma			अं	aṃ		म	ma	
16	ya			अः	aḥ		य	ya	
17	ra			क	ka		र	ra	
18	la			ख	kha		ल	la	
19	va			ग	ga		व	va	
20	vu			घ	gha		श	śa	
21	e			ङ	ṅa		ष	ṣa	
22	dha			च	ca		स	sa	
23	na			छ	cha		ह	ha	
24				ज	ja		क्ष	kṣa	
25				झ	jha		त्र	tra	
26				ञ	ña		ज्ञ	jña	

सारणी संख्या ७—अरेमिक, खरोष्ठी और ब्राह्मी लिपियो की तुलना

क्र.स.	अरेमिक वर्णों के नाम और ध्वन्यात्मक मूल्य	अरेमिक	खरोष्ठी	ब्राह्मी
1	अलेफ् (अ)			
2	बेथ् (ब)			
3	गिमेल (ग)			
4	दालेथ् (द)			
5	हे (हे)			
6	वाव् (व)			
7	ज़ाइन् (ज)			
8	हेथ (ह)			
9	तेथ् (त)[2]			
10	योध् (य)			
11	काफ् (क)			
12	लामेध (ल)			
13	मेम् (म)			
14	नून् (न)			
15	सामेख् (स)			
16	आइन् (ए)			
17	पे (प)			
18	साधे (स)			
19	कॉफ् (क)			
20	रेश (र)			
21	शिन् (श)			
22	ताव (त)			